दो शब्द

'प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास' लिखने के पश्चात् विचार हुआ कि चार खण्डों में आदि काल, पूर्व मध्य काल, उत्तर मध्य काल और आधुनिक काल का सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास लिखूँ जिसमें विभिन्न बोर्डों एवं विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रमों का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय। प्रस्तुत पुस्तक 'भारतीय इतिहास की रूप-रेखा' की प्रथम शृङ्खला है।

इसमें प्रागैतिहासिक काल से लेकर बारहवीं शताब्दी तक के भारतीय इतिहास की रूप-रेखा चित्रित की गई है। विद्यार्थियों के हितों का पूर्ण ध्यान रखते हुए इस बात की चेष्टा की गई है कि पुस्तक सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध हो। इस उद्देश्य में मुझे कितनी सफलता मिल सकी है यह अध्यापकगण ही समझ सकते हैं।

पुस्तक-संरचना में जिन विद्वानों के ग्रन्थों से सहायता ली गई है, उनका मैं आभारी हूँ।

लेखक

मुद्रक—अनुपम प्रेस, १७ चीगे रोड, इलाहाबाद।

विषय-सूची

भारतीय इतिहास की रूप-रेखा

अध्याय १

इतिहास जानने के साधन

प्रत्येक देश का अपना-अपना इतिहास होता है। इसी इतिहास पर उसे गर्व रहता है। पूर्वजों द्वारा किये गये महान कार्यों पर किसे गर्व न होगा, किन्तु इस बहुत पुराने समय में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक क्षेत्र मे इन पूर्वजों ने कितनी उन्नति कर ली थी यह कैसे जाना जाय ? हम अपने देश का इतिहास भी किन साधनों द्वारा जान सकते हैं ? अत· देश का इतिहास पढ़ने के पूर्व हम इतिहास जानने के साधनों के विषय में जानकारी प्राप्त कर लें। यदि आप ध्यानपूर्वक सोचें तो आपको यह मालूम होगा कि इतिहास मानव की विगत विशिष्ट घटनाओं का ही दूसरा नाम है। मानव की घटनाओं का ज्ञान मानव की कृतियों द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। प्रयाग के किले में आपने अशोक-स्तम्भ देखा होगा। आगरे के ताजमहल को भी देखने का अवसर प्राप्त हुआ होगा। क्या इन दोनों को देखकर आपने प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय कला की शैली का अनुमान नहीं किया है ? इसी प्रकार उत्तर भारत से लेकर सुदूर दक्षिण तक और पूर्वी भारत से पश्चिमी भारत तक की पूर्ण यात्रा करने वाला, असंख्य मंदिर, मस्जिद, स्तूप, राजमहल तथा अन्य प्रकार के भवन देखेगा, जिनमें से कुछ बहुत अधिक अच्छी अवस्था में होंगे, कुछ उससे खराब और कुछ भग्नावशेष अर्थात् खण्डहर ही देखने को मिलेंगे। इतना ही नहीं कुछ भवनों पर लिखित सामग्री भी प्राप्त हो सकती है जिसे यदि आप पढ़ सकें तो इन भवनों के बनवाने वालों के बारे में भी कुछ ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। इन भवनों के अतिरिक्त आपको कुछ मुद्राएँ भी मिलेंगी। इन मुद्राओं पर चलाने वाले सम्राट का नाम और तिथि भी लिखी होगी। लेकिन इस प्रकार की सारी सामग्रियाँ धरती के ऊपर ही नहीं मिल जातीं। इनमें से अधिकांश धरती के नीचे दब गई हैं जिन्हें खोज करने वाले लोग खोदकर निकालते हैं। भवनों, मुद्राओं, ताम्रपत्रों, अभिलेखों आदि का अध्ययन करने के लिए लगभग सभी सभ्य देशों में पुरातत्व विभाग (Archaeological Department) की स्थापना की जाती है। यही विभाग खुदाई तथा खोजों द्वारा पुराने और नई पाई जाने वाली सामग्रियों का वैज्ञानिक अध्ययन करता है और इतिहास से सम्बन्धित अनेक सूचनाएँ देता है। उदाहरणार्थ मोहेनजोदड़ो, हड़प्पा की खुदाइयों को ले सकते हैं। आज से लगभग ३५ वर्ष पहले ही कोई नहीं जानता था कि भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल में भी कोई ऐसी सभ्यता फल-फूल सकी है जो यूनान और मिश्र की प्राचीनतम सभ्यताओं से भी कुछ प्राचीन रही और जिसकी धाक प्राचीन सभ्य देशों में जम चुकी थी।

अब हम धार्मिक साहित्य पर प्रकाश डालेंगे।

१ धार्मिक साहित्य

ब्राह्मण ग्रन्थ

वेद—आर्यों ने सबसे पहले जिन ग्रन्थो की रचना की वे क्रमश 'ऋगवेद', 'सामवेद', 'यजुर्वेद' तथा 'अथर्ववेद' हैं। इन चारो वेदो मे प्राचीनतम वेद 'ऋगवेद' से तो हमे आर्यों के भारत मे प्रसार, अनार्यों से उनका सघर्ष आदि के विषय मे पूरा-पूरा विवरण प्राप्त होता है। वेदो के अभाव मे आर्यों के प्राचीन धर्म के विषय में हम बिल्कुल ही नहीं जान पाते।

ब्राह्मण—चारो वेदो की जो गद्य टीकाएँ हुई उन्हे ब्राह्मण कहा जाता है। ये वैदिक मन्त्रो का पूरा-पूरा बोध कराते हैं। प्राचीन ब्राह्मणो मे 'ऐतरेय', 'पचविश', 'शतपथ', 'तैत्तरीय' आदि विशेष महत्वपूर्ण है। 'ऐतरेय' ब्राह्मण से हमे प्राचीन अभिषिक्त राजाओं के नामों तथा राज्याभिषेक आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'शतपथ' ब्राह्मण भारत के पश्चिमोत्तर गान्धार, शाल्य तथा केकय आदि और प्राच्य देश कुरु, पाचाल तथा विदेह पर कुछ प्रकाश डालता है। सुप्रसिद्ध आर्य राजा परीक्षित तथा उसके काफी बाद के भारतीय इतिहास का ज्ञान ब्राह्मण द्वारा बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

उपनिषद—उपनिषद ग्रन्थो मे परीक्षित, उसके पुत्र जन्मेजय तथा बाद के राजाओ के बारे म कुछ जानकारी प्राप्त होती है। सच तो यह है कि ब्राह्मणो और उपनिषदो के सम्मिलित अध्ययन से ही हमे परीक्षित से लेकर बिम्बिसार तक के इतिहास की कुछ जानकारी प्राप्त होती है। उपनिषदो मे भारतीय दर्शन का भी बोध हो जाता है।

वेदाग—कालान्तर म वैदिक अध्ययन के निमित्त विशिष्ट विद्याओ की शाखाओ का जन्म हुआ जो वेदाग के नाम से विख्यात हैं। छः वेदागो का उल्लेख इस

राम की जीवनी लिखकर हमें तत्कालीन भारतीय जीवन का दर्शन कराया है। दक्षिण भारत में आर्य सभ्यता के प्रसार का भी सूक्ष्म परिचय हमें उक्त ग्रन्थ से मिलता है। रामायण जहाँ एक ओर धार्मिक ग्रन्थ है वहाँ दूसरी ओर वह एक क्षत्रिय राजवंश का इतिहास भी है।

रामायण के अतिरिक्त हमारे पास दूसरा महाकाव्य भी है महाभारत। महाभारत के रचयिता व्यास मुनि बताये जाते हैं, किन्तु इस महाकाव्य के दो संस्करण हुए—जय भारत तथा महाभारत। जब हम वर्तमान महाभारत पर दृष्टि डालते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि यह प्राचीन इतिहास आख्यायिकाओं, कथाओं तथा उपदेशों का भण्डार है। इन सारी कथाओं का सम्बन्ध प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से इतिहास से जोड़ा जा सकता है। उपदेशों को आर्यों के नैतिक और सामाजिक आदर्श रूप में स्वीकार किया जा सकता है। महाभारत में विशुद्ध राजनीतिक घटनाएँ भी मिलती हैं जिन पर काफी विश्वास किया जा सकता है। हाँ एक कठिनाई अवश्य पड़ती है, वह यह कि महाभारत का रचयिता किसी भी घटना की तिथि नहीं देता है।

ऊपर बताए गए दोनों महाकाव्यों में विशेषतः महाभारत में हमारे इतिहास को इतना अधिक प्रकाशित किया गया है कि कुछ इतिहासकारों ने तो इसे आदि इतिहास तक की संज्ञा दे दी है। इससे यह मालूम होता है कि दोनों महाकाव्यों का महत्व इतिहास जानने के साधन के रूप में बहुत है, किन्तु यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि तिथियों के अभाव के साथ-साथ इन दोनों महाकाव्यों में एक सबसे बड़ी कमी यह है कि इनमें प्रक्षिप्तांशों का बाहुल्य है अर्थात् अनेक अध्यायों में अनेक स्थल मूल लेखक के लिखे हुए न होकर बाद के जोड़े हुए हैं। इस कमी के कारण दोनों महाकाव्यों की ऐतिहासिक महत्व कुछ घट जाता है।

पुराण—आर्यों ने भारत में जो साहित्य-प्रगति की वह अत्यन्त महत्वपूर्ण रही। उनकी इस साहित्यिक प्रगति की महत्ता में अभिवृद्धि करने वाले ग्रन्थ पुराण हैं जिनकी रचना आर्यों ने शताब्दियों में की। पुराणों की संख्या १८ है। इन पुराणों ही में पहले-पहल इतिहास की प्रवृत्ति मिलती है क्योंकि कुछ पुराणों में 'वंशानुचरित' (प्राचीन राज-कुलों की इतिवृत्ति) है जिससे हमें बहुत कुछ ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हो जाती है। कलियुग के राजाओं की तालिकाओं के साथ-साथ शैशुनाग, नन्द, मौर्य, शुङ्ग, कण्व, आन्ध्र तथा गुप्त वंश की वंशावलियाँ भी प्राप्त होती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पुराणों में हमारे देश के प्राचीनतम राज्यों का राजनीतिक महत्व रखने वाली जातियों का उल्लेख किया गया है जिससे हमें ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है। अनन्त प्राचीन काल से लेकर गुप्त काल के इतिहास तक के लिए हम पग पग पर पुराणों का अवलोकन कर सकते हैं।

स्मृतियाँ—स्मृतियाँ सामाजिक तथा राजनीतिक नियमों का जितना विस्तृत ज्ञान करा पाती हैं उतना सम्भवतः अन्य कोई धार्मिक ग्रन्थ नहीं करा पाता। मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति, पराशर आदि की स्मृतियाँ प्राचीन काल के सामाजिक नियमों, प्रथाओं, रीति-रिवाजों के साथ-साथ राजा प्रजा के सम्बन्ध, राजस्व सिद्धान्त और वर्तमान शब्दों में नागरिकता का पूर्ण ज्ञान कराती हैं।

अब्राह्मण ग्रन्थ

जैसा कि प्रारम्भ में बतलाया गया था जैन और बौद्ध धर्म के ग्रन्थों को अब्राह्मण ग्रथ की सज्ञा दी गई है। छठीं शताब्दी ईसा के पूर्व में महावीर स्वामी और महात्मा गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था। तबसे निरन्तर जैन और बौद्ध धर्म के ग्रथ लिखे जाते रहे। ये ग्रन्थ पूर्णतया धार्मिक हैं फिर भी इनसे तत्कालीन इतिहास पर प्रकाश पड़ता है।

जैन ग्रथ—जैनियों के अनेक ग्रन्थ हमें कुछ ऐतिहासिक ज्ञान प्रदान करते हैं। परिशिष्ट परवन, भद्रबाहु चरित्र, कथा कोष, आवश्यक सूत्र, भगवती सूत्र, कालिका पुराण आदि जैन धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं जिनसे हम कुछ कुछ ऐतिहासिक सामग्री निकाल लेते हैं।

बौद्ध ग्रन्थ—बौद्धों ने अपार साहित्य की रचना की। त्रिपिटक इनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। त्रिपिटक से बौद्ध दर्शन को भली भाँति समझा जा सकता है। जातक बौद्धों का एक ऐसा ग्रन्थ है जो ब्राह्मण पुराणों की भाँति कथा-कहानियों के रूप में धर्म का उपदेश देता है और साथ ही साथ इतिहास के विद्यार्थी को ऐतिहासिक सूचना प्रदान करता है। जातकों की संख्या ५४६ है। जातकों में तीसरी शताब्दी ईसा के पूर्व की भारतीय सभ्यता का जितना सुन्दर चित्रण मिल जाता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। इनसे बुद्ध कालीन भारत की राजनीतिक अवस्था का भी कुछ सकेत मिलता है। दीपवस तथा महावस दो पाली महाकाव्यों का बौद्ध ग्रन्थों में काफी महत्वपूर्ण स्थान है। इतिहास के विद्यार्थियों के लिए तो वे ग्रन्थ अमूल्य सिद्ध हुए हैं। मौर्यकालीन भारत की अवस्था का इतना सुन्दर ज्ञान हमे अन्यत्र बहुत कम मिल पाता है। हाँ इतना अवश्य है कि इन महाकाव्यों से जितनी सूचनाएँ मिलती है उनको ग्रहण करते समय तर्क और विवेक से काम लेना पड़ता है। बौद्ध धर्म के अन्य ग्रन्थो मे मिलिन्दपन्हो, दिव्यावदान मजुश्री, मूलकल्प, ललित विस्तार आदि विशेष उल्लेखनीय हैं जिनसे कुछ ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त की जा सकती है। मिलिन्द पन्हो यूनानी नरेश मिनेन्डर और उसके समय के भारत का बोध कराता है, दिव्यावदान अशोक तथा उसके उत्तराधिकारियों के विषय में जानकारी देता है, मजुश्री मूलकल्प मौर्य के पूर्व से लेकर हर्ष तक की राजनीतिक घटनाओ का यत्र तत्र वर्णन करता है, ललित विस्तार स्वय भगवान् बुद्ध के जीवन पर प्रकाश डालने के साथ साथ तत्कालीन धार्मिक एवम् सामाजिक अवस्थाओं का भी सकेत करता जाता है।

इहलोकपरक साहित्य

ऊपर हमने धार्मिक साहित्य का पूरा विवरण प्रस्तुत किया है। अब इहलोकपरक या लौकिक साहित्य पर विचार किया जायगा। आपको याद होगा कि अध्ययन की सुविधा के लिए इहलोकपरक साहित्य को पाँच विभागों मे बाँट दिया गया है। यहाँ उन पर पृथक् पृथक् प्रकाश डाला जायगा।

ऐतिहासिक ग्रन्थ

ऐतिहासिक ग्रन्थों से हमारा अभिप्राय उन ग्रन्थों से है जो हमारे देश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि परिस्थितियो पर प्रकाश डालते हैं, क्योंकि

इन्हीं विषयों को इतिहास का विषय कहा जाता है। हमारी इस परिभाषा में जितने भी ग्रन्थ आयेंगे उनका संक्षिप्त विवरण ही यहाँ दिया जा सकता है।

राजतरंगिणी—काश्मीर के सुप्रसिद्ध विद्वान् कल्हण द्वारा १२ वीं शताब्दी में लिखा गया यह ग्रन्थ भारत का पहला ऐतिहासिक विशुद्ध ग्रन्थ है। कल्हण का दृष्टिकोण पूर्णतया ऐतिहासिक है। उसने काश्मीर का इतिहास आदि काल से लेकर अपने समय तक का लिखा है। इस ग्रन्थ से हमें काश्मीर का पूरा-पूरा इतिहास मिल जाता है।

काश्मीर के अन्य इतिहासकार—काश्मीर में कल्हण ने तिथिक्रमानुसार इतिहास लिखने की जो परम्परा चलाई उसका अनुसरण अनेक काश्मीरी विद्वानों ने किया। इनमें जोन राज, श्रीवर, राज्यभट्ट आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

गुजराती इतिहासकार—जिस प्रकार काश्मीर के विद्वान अपने नरेशों का गुणगान कर रहे थे उसी प्रकार गुजरात के विद्वान भी अपने वीरों के गुणगान में तल्लीन थे। इनकी रचनाएँ अत्युक्तिपूर्ण अवश्य हैं किन्तु ये विशुद्ध ऐतिहासिक हैं। गुजरात के इतिहासकारों में 'रासमाला' और 'कीर्तिकौमुदी' का रचयिता सोमेश्वर, 'सुकृत-संकीर्तन' का रचयिता अरिसिंह, 'प्रबन्ध कोष' का लेखक राजशेखर आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं जिनसे गुजराती इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

अर्थशास्त्र—चाणक्य अथवा कौटिल्यके अर्थशास्त्र से प्रत्येक भारतीय परिचित होगा। यह ग्रन्थ आज की अर्थशास्त्र की तरह धन-सम्पत्ति का अध्ययन नहीं करता वरन् यह राजनीति शास्त्र का ग्रन्थ है। आदर्श भारतीय शासन-पद्धति का जो रूप कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चित्रित किया गया है उसका अनुसरण न केवल मौर्य सम्राटों ने ही किया वरन् आगे आने वाले भारतीय राजाओं ने भी उसी शासन-पद्धति को अपनाया। भारतीय राजनीति-शास्त्र का यह पहला ग्रन्थ माना जा सकता है। उपर्युक्त ग्रन्थों एवम् ग्रन्थकारों के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थों एवम् ग्रन्थकारों का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। कामन्दकीय, नीतिसार, शुक्रनीतिसार, बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं, जिनमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भाँति ही राज-प्रजा के पारस्परिक सम्बन्धों, राजा के अधिकार-कर्त्तव्य आदि पर प्रकाश डाला गया है।

अर्द्ध-ऐतिहासिक

वे ग्रन्थ जिनका दृष्टिकोण पूर्णतया ऐतिहासिक नहीं है पर व्याकरण, विशुद्ध साहित्य आदि को ध्यान में रखकर लिखे जाने पर भी जो कुछ कुछ इतिहास-सम्बन्धी घटनाओं का आधार लेकर चलते हैं अथवा जिनमें ऐतिहासिक दृष्टांत दिये रहते हैं उनको अर्ध ऐतिहासिक ग्रन्थों की संज्ञा दी गई है। इन ग्रन्थों में कुछ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—जैसे पाणिनि की अष्टाध्यायी, गार्गीसंहिता, पतंजलि का महाभाष्य, मालविकाग्निमित्र, मुद्राराक्षस आदि। नीचे इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

पाणिनि का अष्टाध्यायी—यह व्याकरण ग्रन्थ मौर्य पूर्व तथा मौर्य कालीन अवस्था पर प्रचुर प्रकाश डालता है। भाषा के अध्ययन की दृष्टि से तो इसका अद्वितीय स्थान है।

गार्गी संहिता—यह पुराण का एक अंग है। इस ग्रन्थ से हमें भारतीय इतिहास

की एक महत्वपूर्ण घटना का बोध होता है। यह घटना है प्रथम शताब्दी के लगभग भारत पर यवनों का आक्रमण।

मालविकाग्निमित्र—महाकवि कालीदास के इस प्रथम नाटक द्वारा शुंग कालीन भारत की राजनीतिक परिस्थिति का संक्षिप्त परिचय मिलता है। राजकुलों के आन्तरिक जीवन पर इस नाटक से काफी प्रकाश पड़ता है।

मुद्रा राक्षस—विषाखदत्त द्वारा लिखित यह नाटक अपने ढंग का बिल्कुल अकेला है। चाणक्य और नन्दों के मंत्री राक्षस के दाँवपेंच का विस्तृत चित्रण उक्त नाटक में किया गया है जिससे मौर्यकाल की कूटनीति पर इस नाटक से काफी प्रकाश पड़ता है। चन्द्रगुप्त मौर्य को नन्दों के विनाश के पश्चात् भी अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में कितनी कठिनाई का सामना करना पड़ा था इसके पूर्णज्ञान हमें मुद्रा राक्षस से ही होता है।

विदेश विवरण

हमारे देश का इतिहास भारतीयों के ग्रंथों में झलकता ही है। साथ ही कुछ विदेशियों ने भी भारत के विषय में थोड़ा बहुत लिखा। उनके लेखों से हमारे इतिहास पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। उन विदेशियों के नाम आप पहले से जानते आ रहे हैं—मेगस्थनीज, ह्वेनसाँग, फाह्यान, अल्बरूनी आदि। इनके पहले भी कुछ विदेशी यात्रियों ने हमारे देश की यात्रा की थी और उन्होंने इसके सम्बन्ध में लिखा। जिन विदेशी जातियों के यात्री भारतवर्ष आये उनमें यूनानी, रोमन, चीनी, तिब्बती, मुसलमान आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

यूनानी—यूनानी विवरणों को सुविधानुसार तीन विभागों में विभाजित कर दिया गया है— (१) सिकन्दर पूर्व, (२) सिकन्दर कालीन तथा (३) सिकन्दर के बाद। सिकन्दर पूर्व के लेखकों में इस्काइलास (छठी शताब्दी ई० पू०) हेकेटिएस, हेरोडोटस तथा टेशिपस के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। हेरोडोटस और टेशिपस ने पारसीक लेखकों के आधार पर भारत का चित्रण किया है।

सिकन्दर कालीन लेखकों में जो सिकन्दर के साथ भारतवर्ष आये थे अरिष्टोबुलस, निपारकस, चारस युमेनीस आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके लेखों से तत्कालीन भारतीय इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

सिकन्दर के बाद यूनानी लेखकों में मेगस्थनीज, प्लिनी, तालमी, डाइमेकस, डाइयोडोरस, प्लुटार्क, एरियन, कर्टियस, जस्टिन, स्ट्रेबो आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थनीज के निवास का विवरण आपको प्राप्त होगा। सीरिया का राजदूत डायमेकस भी बिंदुसार के दरबार में आया था। इन लेखकों में कर्टियस, जस्टिन और स्ट्रेबो का नाम सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इन लेखों में चाहे जितनी भी अत्युक्ति हो, चाहे जितना भी अतिरंजन हो इनका अपना ऐतिहासिक महत्व भी है।

चीनी—चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार हो जाने के पश्चात अनेक यात्री बौद्ध धर्म सम्बन्धी विशेष ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त भारतवर्ष आये। चीनी इतिहास-

कारों में भारतवर्ष के सम्बन्ध में लिखने वाला पहला व्यक्ति शुमाशीन है, जिसने प्रथम शताब्दी ई० पू० में इतिहास की एक पुस्तक लिखी। तत्पश्चात् फाह्यान, ह्वेन-साँग और इत्सिंग का नाम आता है जिन्होंने भारतीय इतिहास पर काफी प्रकाश डाला। इनके सम्बन्ध में यथास्थान हम विस्तारपूर्वक पढ़ेंगे।

तिब्बती—तिब्बती लेखकों में लामीतारानाथ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके ग्रन्थों का नाम है 'कग्युर' तथा 'तग्युर'।

अरब—अरब इतिहासकारों में सुलेमान, अलमसूदी, अल्बिलादुरी, अबूजैदी-हसन, इब्नखुर्दबा, अलइन्निरोसी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। किन्तु अल्बरुनी ही वह पहला मुसलमान इतिहासकार है जिसने भारतीय इतिहास के अध्ययन में अपना समय लगाया। ११ वीं शताब्दी में जब महमूद गजनवी भीषण नरसंहार तथा लूटमार में संलग्न था उस समय उसका दरबारी विद्वान् अल्बरुनी साहित्य सागर में डुबकियाँ लगाकर बहुमूल्य मणियाँ निकाल रहा था। अल्बरूनी के ग्रन्थ का नाम है 'तहकीके हिन्द'।

जीवनियाँ

अपने-अपने आश्रयदाताओं या प्रिय सम्राटों की जीवनी लिखने की परम्परा भी हमारे देश में प्राचीन काल से रही है। लगभग पचासों राजाओं की जीवनियाँ लिखी गई हैं, जिनके अध्ययन से हमें उन राजाओं के साथ-साथ उनके समकालीन नरेशों का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इनमें से कुछ प्रसिद्ध जीवनियों पर नीचे संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा।

हर्षचरित्र—हर्षचरित्र जिसकी रचना बाणभट्ट ने लगभग ६२० ई० में की थी जीवनियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। हर्ष के दरबार में रहकर बाण ने हर्ष-कालीन कन्नौज तथा थानेश्वर का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। हर्ष के प्रारम्भिक जीवन तथा उसकी दिग्विजयों का पूर्ण विवरण हमें बाण भट्ट के ग्रन्थ से ही मिलता है।

रामचरित—संध्याकरनन्दी ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। अपने ग्रन्थ में कवि ने इतनी विलक्षण वर्णन शैली रक्खी है कि एक ओर तो संपूर्ण वर्णन रामायण की कथा मालूम होता है तथा दूसरी ओर बंगाल के रामपाल का वर्णन स्पष्ट रूप से होता है। पाल वंश के इतिहास पर यह पुस्तक पर्याप्त प्रकाश डालती है।

कुछ अन्य जीवनियाँ—वल्लभी चरित (लेखक अनन्त भट्ट) ऋतुराज विजय (ले० जयानक), पृथ्वीराज चरित्र (ले० चन्दवरदाई), कुमार पालचरित (ले० जय सिंह) आदि असंख्य जीवनियाँ स्थानीय इतिहास पर प्रकाश डालती हैं। नवसाहसांकचरित, विक्रमांक देव चरित, भोज प्रबन्ध, हम्मीर काव्य आदि इसी कोटि की जीवनियाँ हैं जिनसे अनेक राजवंशों के इतिहास पर थोड़ा बहुत प्रकाश पड़ता है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि इन जीवनियों में लम्बी-चौड़ी बातों, तिल का ताड़ बनाने और काल्पनिक घटनाओं का अभाव नहीं है। ये पूर्णतया अतिरञ्जित और अत्युक्तिपूर्ण हैं फिर भी इनका स्थानीय ऐतिहासिक महत्त्व है।

विशुद्ध साहित्य

विशुद्ध साहित्य से हमारा अभिप्राय उन ग्रन्थों से है जो पूर्णतया साहित्यिक

दृष्टि से लिखे गए हैं अर्थात् जिनका उद्देश्य पूर्णतया साहित्यिक सृजन रहा है। इन साहित्यिक ग्रन्थों से देश की सास्कृतिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसे ग्रन्थों में हर्ष द्वारा रचित नागानन्द, रत्नावली तथा प्रियदर्शिका नामक तीन नाटक, महाकवि कालिदास के कुछ नाटक गुणाढ्य की वृहत् कथा, क्षेमेन्द्र की वृहत् कथामञ्जरी आदि हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भाषा और साहित्य की गतिविधियों का अध्ययन करने के लिए हमें संपूर्ण भारतीय साहित्य को लेना पड़ता है। अत. इन विशुद्ध साहित्यिक ग्रथों का भी सास्कृतिक इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है।

पुरातात्विक सामग्री

पुरातात्विक सामग्री को भी सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया गया है: (१) अभिलेख, (२) प्राचीन स्मारक तथा (३) मुद्रायें। अभिलेखों के भी दो प्रकार हैं—(अ) देशीय अभिलेख, (ब) विदेशीय अभिलेख। इसी प्रकार प्राचीन स्मारक भी देशीय और विदेशीय दो प्रकार के हैं। भारतीय मुद्रायें और अभारतीय मुद्रायें नाम से मुद्राओं को भी दो उपविभागो में बॉटा गया है। यहाँ हम इन पुरातात्विक सामग्रियों पर सक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

अभिलेख

पत्थर की शिलाओ अथवा ताम्रपत्रो आदि पर लिखे गए लेखो को अभिलेख कहा जाता है। इन अभिलेखों का ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व होता है। इसमें जो कुछ लिखा होता है उस पर काफी विश्वास किया जा सकता है। ये ठोस हैं इसीलिए अमिट भी हैं। इसमे प्रक्षिप्ताशो की आशका बहुत कम रहती है। इन्हीं सब कारणो से इतिहास जानने के साधनों में अभिलेखो को बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है।

अशोक के पहले के अभिलेख नहीं मिलते हैं किन्तु उसके पश्चात् अभिलेखों की भरमार हो जाती है और ये अभिलेख भारतीय इतिहास के बहुत बड़े अग को प्रकाशित करने लगते हैं।

अशोक कालीन अभिलेखक—अशोक ने जैसा कि हम आगे देखेंगे अपने साम्राज्य में और अन्य स्थानों पर भी अपने लेख स्थापित किये। इन अभिलेखो से हमे मौर्यकालीन भारत की पूर्ण राजनीतिक अवस्था का ज्ञान भले न हो। पर इतना तो मानना पड़ेगा कि इन्हीं अभिलेखों से हमें भारतीय इतिहास के एक अमर सम्राट अशोक महान के सम्पूर्ण जीवन का बोध होता है। देश में समाज, धर्म और राजनीति की क्या गति-विधि थी इस पर भी आंशिक प्रभाव अशोक कालीन अभिलेखो से पड़ता है।

अशोक के पश्चात् के अभिलेख—गुप्त काल के पहले के असख्य अभिलेख प्राप्त हुए। इनकी सख्या १५०० तक बतलाई जाती है। पर इन सब में हरिषेण की पयाग पशस्ति, भोज की ग्वालियर की प्रशस्ति, सेनवशी राजा विजय सेन की प्रशस्तियाँ, ऐहोल अभिलेख, हाथी गुफा का अभिलेख आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। हम आगे देखेंगे कि समुद्रगुप्त तथा भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग गुप्तकाल

के इतिहास के अध्ययन में प्रयाग प्रशस्ति कितनी लाभप्रद होती है और इससे हमें कितनी सूचनाएँ मिलती हैं। इसी प्रकार ग्वालियर की प्रशस्ति के अभाव में प्रतिहारों का इतिहास अन्धकारमय रह जाता। विजयसेन की प्रशस्तियाँ ऐहोल अभिलेख तथा हाथी गुम्फा का अभिलेख क्रमशः सेन वंशीय नरेशों, चालुक्य नरेश, पुल्केशिन द्वितीय तथा खरवेला राजाओं के इतिहास की प्रर्याप्त सामग्री प्रदान करते हैं।

इन अभिलेखों की भाषा कई प्रकार की है जिसके आधार पर हम भाषा सम्बन्धी जानकारी भी प्राप्त कर सकते हैं और यह मालूम कर सकते हैं कि किस समय किस भाषा को राज्याश्रय प्राप्त था और उस भाषा की प्रमुख शैली क्या थी। प्रशस्तियों में वंश तालिका देने की परम्परा से हमें बहुत लाभ होता है क्योंकि इसके आधार पर राजकुलों की वंशावली ज्ञात की जा सकती है। दक्षिणी भारत में उत्तरी भारत की अपेक्षा अधिक अभिलेख पाये गये हैं। किन्तु ये अपेक्षाकृत कम प्राचीन हैं।

विदेशीय अभिलेख—ऊपर देशीय अभिलेखों का उल्लेख किया गया है। उन देशीय अभिलेखों के अतिरिक्त कुछ विदेशीय अभिलेख भी हैं जिनमें भारतीय इतिहास पर कुछ-कुछ प्रकाश पड़ जाता है। एशियामाइनर बोगज कोई के लेख वैदिक देवताओं का उल्लेख करते हैं जिस पर हमें आर्यों के सङ्क्रमण का बोध होता है। इसी पर पर्सियोनस तथा नवसेरुस्तम (ईरान) के अभिलेखों से प्राचीन भारत के तथा ईरान के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध होता है।

प्राचीन स्मारक—प्राचीन स्मारक से हमारा मतलब उन वस्तुओं से है जो चित्र-कला, भवननिर्माण कला, संगीत कला या नृत्य कला या इसी प्रकार की अन्य कलाओं एवं शिल्पों से सम्बन्धित हैं। प्राचीन समय में मनुष्य ने कला के विभिन्न क्षेत्रों में काफी उन्नति कर ली थी। उसने बड़े-बड़े भवन, सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ और अन्य कलाओं से सम्बन्धित दर्शनीय वस्तुओं का निर्माण किया था, किन्तु कला से बढ़कर काल है जिसने इन्हें नष्ट कर दिया। ये वस्तुएँ अपनी टूटी-फूटी अवस्था में आज भी धरती के नीचे दबी हैं और खुदाई करने वालों के अथक परिश्रम के पश्चात् वे प्रकाश में आती हैं। इन्हें देखकर हमें प्राचीन इतिहास और प्राचीन गौरव की स्मृति आ जाती है। इसलिए इन्हें प्राचीन स्मारक कहा जाता है। असंख्य स्थानों पर खुदाई करने पर भवन, राज प्रासाद, चैत्य, सार्वजनिक हाल, विहार, मठ आदि के खण्डहर प्राप्त होते हैं, जिनसे बहुत कुछ ऐतिहासिक सामग्रियाँ ग्रहण की जाती हैं। जैसा कि प्रारम्भ में ही बतलाया गया है इनके दो भेद हैं—देशीय तथा विदेशीय। इन पर पृथक पृथक प्रकाश डाला जायगा।

देशीय—हमारे देश में मोहेनजोदड़ो, हड़प्पा, तक्षशिला, मथुरा, कोशम, सारनाथ, कसिया, पाटलिपुत्र, नालन्दा, राजगिरि, साँची, भरहुत, लक्ष्मणेश्वर, अगदी, बनवासी, पत्तदकल, चित्तल दुर्ग, टालकर आदि स्थानों में जो खुदाइयाँ हुई हैं उनसे हमारे इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ा है। जैसा कि आप जानते हैं, मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई ने तो सिन्धु सभ्यता से हमारा नया-नया परिचय कराया है। दक्षिण के अगदो, लक्ष्मणेश्वर, बनवासी, पत्तदकल, चित्तल दुर्ग आदि की खुदाइयों से जो सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं उनसे भारत का धार्मिक इतिहास बहुत कुछ आभासित होता है।

धरणी के ऊपर पाये जाने वाले प्राचीन स्मारकों का भी अभाव नही। असख्य मन्दिर, स्तूप, गुफाएँ, विहार, मठ, सार्वजनिक भवन आदि सम्पूर्ण भारत मे इधर-उधर बिखरे पड़े हैं जो समसामयिक धार्मिक प्रवृत्तियों, कला सम्बन्धी शैलियो, कलाकारो की सफलताओं, वाणिज्य व्यवसाय आदि पर काफी प्रकाश डालते है। उदाहरणार्थ सारनाथ का घण्टाकार स्तम्भ मस्तक । उस प्राचीन काल की नक्काशी कला का उत्कृष्टतम उदाहरण है। अजन्ता तथा अलोरा की गुफाओ की गणना भी महत्वपूर्ण प्राचीन स्मारको मे की जाती है जिन्हें देखकर हम प्राचीन भारत की चित्रकला का बोध करते हैं। सैकडा की सख्या में पाये जाने वाले हिन्दू मन्दिरो, बौद्ध विहारो, पाठशालाओं आदि से हम अपने प्राचीन इतिहास का आशिक ज्ञान प्राप्त करते है। जब भी हमें किसी काल के सास्कृतिक इतिहास का अध्ययन करना पडता है तो इन्ही प्राचीन इमारतो का सहारा लेना पड़ता है, क्योंकि इनसे न केवल कला की प्रगति का बोध होता है प्रत्युत तत्कालीन धार्मिक अवस्था पर भी साथ-साथ पर्याप्त प्रकाश पड़ता जाता है।

विदेशीय—भारत के अतिरिक्त अन्य देशों मे भी कुछ ऐसे प्राचीन स्मारक प्राप्त हुए हैं जिनसे भारतीय इतिहास पर आशिक प्रभाव पडता है। जावर मे डीडा पठार का शिव मन्दिर, बोरो बुदूर तथा प्रमबाम के देवालय, अकोरवार तथा अकोरलाम आदि ऐसे ही स्मारक हैं जिनसे भारतीयों का औपनिवेशिक प्रसार एव उनकी कला का बोध होता है। जावा मे तुकमस नामक स्थान के भग्नावशेषो मे शख, चक्र, पद्म और त्रिशूल आदि विशेष उल्लेखनीय हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण धर्म जावा तक फैल चुका था। मलाया में भी सुन-गेई-बतु मे एक देवालय तथा कुछ पाषाण मूर्तियाँ मिली हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि यहाँ के रहने वाले हिन्दू मतावलम्बी थे और मन्दिरों में शिव, गणेश, पार्वती, नन्दी आदि की मूर्तियो से यह प्रकट होता है कि वहाँ इनकी पूजा बड़े धूम से होती थी। मलाया मे काना पर्वत पर एक टूटा हुआ वैष्णव मन्दिर और विष्णु की मूर्ति प्राप्त हुई है जो हमारे मत का समर्थन करती है। बोर्नियो मे भी मुकरकमन नामक स्थान मे एक स्वर्ण विष्णु मूर्ति मिली है। इसी प्रकार अन्य द्वीपो मे भी गौतम बुद्ध या ब्राह्मण देवताओ की मूर्तियाँ प्राप्त हुई जिस आधार पर हम अपने औपनिवेशिक प्रसार का अनुमान लगा सकते है और साथ साथ यह भी अनुमान लगा सकते है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रसार कहाँ तक हो सका था।

मुद्रायें

मुद्राएँ हमारे इतिहास की अनेक गुत्थियो को सुलझाती है। कुछ जाली सिक्को को छोड़कर मुद्राएँ राजकीय होती है जिन पर काफी विश्वास किया जा सकता है। अत इन मुद्राओ से हम अपने देश के इतिहास के अध्ययन मे काफी सहायता लेते है। मुद्राएँ राजाओं की वश परम्परा, शासन काल की तिथियो और प्राप्ति स्थान के आधार साम्राज्य विस्तार की ओर सकेत करती है। इन मुद्राओ से तत्कालीन आर्थिक अवस्था का भी थोड़ा बहुत अनुमान लगाया जा सकता है। इन विशेषताओ के अतिरिक्त मुद्राओं का एक बहुत बड़ा महत्व यह है कि वे अपने सम्राट के धर्म तथा उसके व्यक्तिगत रुचि का ज्ञान कराती है। मुद्राओ पर उत्कीर्ण चिन्हो से हमे यह ज्ञान होता है कि

अमुक राजा अमुक धर्म का अनुयायी था। यहाँ कुछ विशेष मुद्राओं द्वारा प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख करके विषय को और स्पष्ट बनाया जायगा।

अत्यन्त प्राचीन काल की मुद्राएँ—प्राचीन कालीन मनुष्यों ने मुद्रण कला में विशेष उन्नति नहीं की थी, अतः वे अपनी मुद्राओं पर केवल कुछ चिह्न या भद्दे चिह्न बना लेते थे। यही कारण है कि इनसे कोई राजनीतिक सूचना तो नहीं मिलती है पर ये प्राचीन मोहरें उस समय के धार्मिक अवस्था का ज्ञान अवश्य कराती हैं।

यूनानी मुद्राएँ—हमारे देश के पश्चिमोत्तर भाग में यूनानियों ने लगभग २०० वर्ष तक राज्य किया था। इनका इतिहास बहुत कुछ इन्हीं मुद्राओं से जाना जाता है। इन यूनानी सम्राटों की संख्या ३० से भी अधिक है और इन सब की अपनी-अपनी मुद्राएँ हैं। यदि ये मुद्राएँ नहीं प्राप्त हुई होतीं तो इन यूनानी शासकों के विषय में हमारा ज्ञान नितान्त अल्प होता।

सीथियन तथा पार्थियन मुद्राएँ—भारत में मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् विदेशीय सीथियन तथा पार्थियन का आधिपत्य स्थापित हुआ। इनका इतिहास जानने का बहुत बड़ा साधन मुद्रा सम्बन्धी साक्ष्य ही है क्योंकि इनके विषय में ऐतिहासिक सामग्रियों का अभाव है।

भारतीय सम्राटों की मुद्राएँ—वैसे तो सभी भारतीय सम्राटों के इतिहास की जानकारी के लिए उनकी मुद्राओं की पूछ होती है, किंतु कुछ ऐसे भी सम्राट हैं जिनका इतिहास प्रधानतया मुद्रा सम्बन्धी साक्ष्य पर आधारित है। उदाहरणार्थ पाचाल, मालव, यौधेय के भिन्न राजाओं का इतिहास जानने के लिए हमें उनकी मुद्राओं की ही सहायता लेनी पड़ती है। इसी प्रकार सातवाहन कुल के राजाओं का इतिहास भी मुद्राओं द्वारा प्रकाशित है। गुप्तवंश के इतिहास की कुछ गुत्थियों को उस काल की मुद्राओं ने सुलझाने का प्रयास किया गया है।

बारहवीं शताब्दी तक का इतिहास जानने के लिए हमें दूसरे साधन ढूँढ़ने पड़ते हैं। इस समय तक अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना जिनसे प्रामाणिक सामग्री मिलने लगती है। मुसलमानों को इतिहास रचना में काफ़ी रुचि थी अतः उन्होंने मुसलमान शासकों का इतिहास विस्तारपूर्वक लिखा है। मुगल राज्य के पूर्व के प्रसिद्ध इतिहासकार और उनके ग्रंथ इस प्रकार हैं—

'तौकाते नासिरी' का रचयिता मिनहाज-उि-सिराज, 'तारीख फ़िरोजशाही' के रचयिता बर्नी और अफ़ीफ़, 'तारीख मुबारकशाही' का रचयिता यहिया बिन अब्दुल्ला, 'तारीख दाऊदी' का लेखक अब्दुल्ला, 'मखजन अफ़गानी' का लेखक नियामतुल्ला, इब्नबतूता अब्दुर्रज्जाक आदि।

मुगल राज्य में अनेक हिन्दू तथा मुसलमानों ने इतिहास-रचना की ओर ध्यान दिया। बाबर का 'बाबरनामा', अबुलफजल की 'आइनेअकबरी' और 'अकबरनामा' निजामुद्दीन की 'तबकाते अकबरी', बदाऊनी की 'मुन्तखब-उत्-तवारीख' तथा 'तुजुक जहाँगीरी' अब्दुल हमीद का 'बादशाहनामा', खाफी खाँ का 'मुन्तखब-उल लुबाब', सुजान राय का 'खुलासत-उत-तवारीख' ऐसे ग्रन्थ हैं जिनसे मुगल [redacted] का इतिहास

प्रकाशित होता है। इस काल के इतिहास की जानकारी के लिए पुरातात्विक सामग्रियों का भी बाहुल्य है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ इतिहास जानने के साधनों से आप क्या अर्थ समझते हैं? प्राचीन भारतीय इतिहास के साधनों का अध्ययन की सुविधा के लिए जो वर्गीकरण किया गया है, उसका उल्लेख कीजिये।

२. इतिहास जानने के साधनों में साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्यों का क्या महत्व है?

३ प्राचीन भारतीय इतिहास के साधनों पर प्रकाश डालिये।

४ क्या यह सच है कि प्राचीन भारतीय आर्यों ने अपना कोई इतिहास नही छोडा है?

५ इतिहास जानने की पुरातात्विक सामग्री पर एक निबन्ध लिखिये।

अध्याय २

प्रागैतिहासिक काल की सभ्यता

इतिहास का वह समय जिसके सम्बन्ध में कोई ठोस ज्ञान नहीं है या यों कहा जाय कि जिस काल का कोई क्रमबद्ध इतिहास नहीं है उसे प्रागैतिहासिक काल की संज्ञा दी गई है। धरती की उत्पत्ति से लेकर ऐतिहासिक युग के आरम्भ तक की कहानी बाद के इतिहास से कहीं अधिक रोचक है, किन्तु जानकारी के साधनों के अभाव में हम उस समय का इतिहास भली प्रकार नहीं जान पाते।

आदिम निवासियों का रहन-सहन—जिस समय मनुष्य पहले पहल धरती पर उतरा था उस समय उसके पास बाहरी शक्ति बहुत कम थी। दुर्भाग्यवश उसके शरीर की बनावट भी ऐसी थी कि वह कमजोर पड़ता था। सीधा तनकर खड़ा होना भी उसके लिए कठिन था। वह किसी भी जगली जानवर से किसी प्रकार कम न था। बड़े-बड़े भयानक पशुओं से उसे भय था। अभी तक उसे किसी प्रकार का हथियार बनाना नहीं आ सका था। ऐसी दशा में वह ऐसे स्थान पर रहता था जहाँ हिंसक जन्तुओं से उसकी रक्षा हो सके। भीषण वर्षा और धूप में किसी गुफा में छिपकर वह अपनी रक्षा कर लेता था। फल-फूल, जड़ें और पत्तियाँ उसकी भोजन थीं। छोटे छोटे पशुओं का शिकार करके उनके कच्चे मांस से पेट भर लिया करते थे। आग का ज्ञान था नहीं। उनमें किसी प्रकार भी सामाजिक भावना का अंकुर नहीं जम पाया था। नंग-धड़ंग फाकेमस्ती का जीवन बिताते थे। यह स्थिति लाखों वर्ष तक चलती रही। आदमी धीरे-धीरे कुछ सीखता गया क्योंकि बराबर नई-नई आवश्यकताएँ आ पड़ती थीं और उनकी पूर्ति के लिए हाथ-पैर, दिल-दिमाग दौड़ाना पड़ता था जिससे नई-नई चीजों का आविष्कार हो जाता था। उदाहरणार्थ पशु की हड्डी तोड़ने के लिए हाथ को बेकाम होते देखकर उसने एक बहुत बड़ा पत्थर का टुकड़ा उठा लिया और उसकी एक ही चोट से हड्डी चूर-चूर हो गई। इस प्रकार उस आदिम मनुष्य को यह मालूम हुआ कि हाथ के स्थान पर लकड़ी, पत्थर आदि से काम लिया जाय। ठीक इसी प्रकार तपतपाती धूप और भीषण वर्षा से रक्षा के लिए झोपड़े बनाये। धीरे-धीरे खाने-पीने की वस्तुओं का भी ज्ञान प्राप्त होने लगा और उन्होंने पशु पालना और खेती करना शुरू किया लेकिन यह स्थिति दो चार दस हजार वर्षों में नहीं आ जाती है इसके लिये मनुष्य को एक बहुत अधिक लम्बी दूरी पार करनी पड़ी। बहुत काफी समय तक भूलने-भटकने, गिरने-उठने के बाद उसने अपनी सुविधा की अनेक चीजें बनाईं। यहाँ हम आदिम मनुष्यों के विकास की कहानी का संक्षिप्त इतिहास पढ़ेंगे।

सभ्यता का उदय प्रकृति की वैसी ही स्वाभाविक प्रक्रिया है जैसे पशु-पक्षियों तथा मानव का उदय। मानव का विकास जिस प्रकार उत्तरोत्तर होता गया उसी प्रकार सभ्यता का विकास भी अपने क्रमिक रूप में होता रहा। मानव-विकास के साथ-साथ

ही सभ्यता का विकास होता गया, बस इतना ही सभ्यता के उदय के विषय में क[illegible]
पर्याप्त होगा—यह दूसरी वस्तु है कि जिस सभ्यता का उदय मानव विकास की प[illegible]
की भाँति हुआ, उसमें परिवर्तन, परिवर्द्धन, संशोधन, अन्वेषण आदि कालान्तर
होते थे।

मनुष्य जब प्रारम्भ में पूर्णतया प्रकृति पर आश्रित था तो वह निर्झर की भाँ
प्रकृति के आदेशानुसार अपनी गति, प्रवाह, मोड़ आदि निर्धारित करता और अप
अन्त भी वह प्रकृति पर छोड़ देता होगा। अपने इसी स्वाभाविक विकास की स्थि
को विश्व के विभिन्न स्थानों में मानव ने प्राप्त किया पर प्रगति मानव का सहज स्वभ
है। स्वाभाविक विकास की स्थिति में मानव ने सुधार किया। यह सुधार कोई ब
आश्चर्यजनक नहीं था। मनुष्य संतोष नहीं स्वीकार कर सकता क्योंकि यह उस
मृत्यु है। अतः इस सुधार के पश्चात् भी उसने कुछ अन्वेषण किये जो काफी महत्वा
थे। ठीक उसी प्रकार जैसे आज संस्कृति एवं सभ्यता के विनाशक राष्ट्रों के लिए ए
बम का आविष्कार। और इतना ही नहीं वह उत्तरोत्तर उन्नति करता गया—तब
जब तक कि पुनः उसकी जन्मदात्री प्रकृति ने अपने हाथों ही उसका विनाश नहीं
दिया। उसके बाद युगों की एक लम्बी दूरी बीती। तब तक मनुष्य इतना अ[illegible]
सभ्य हो गया कि वह यह 'कल्पना' (यद्यपि यह कल्पना नहीं है) भी भूल गया कि
कभी पशु था। किन्तु उसको अपनी वास्तविकता का बोध होना था और इसी
सौभाग्यवश आधुनिक मानव के पूर्वज आदि मानव के भग्नावशेष विभिन्न स्थानों
प्राप्त हुए। इन्हीं भग्नावशेषों से उसे प्रगैतिहासिक काल की सभ्यता का बोध हुआ
विभिन्न सोपानों में फली फली थी। यहाँ इस प्राचीनतम सभ्यता का ज्ञान प्राप्त क
में हमें अपनी कल्पना शक्ति का विशेष सहारा लेना पड़ता है। हम अवशेषों को देख
अपनी कल्पना द्वारा उस प्रागैतिहासिक काल के कल्पित रेखाचित्र का निर्माण करते
और उसी रेखाचित्र के आधार पर हम उस काल की सभ्यता की रूप-रेखा का स
करते हैं। बस अवशेष और कल्पना ही हमारे ज्ञान के साधन हैं। इन्हीं साधनों
आधार पर मानव की प्रागैतिहासिक काल की सभ्यता के निम्नलिखित सोपानों
कल्पना की गई है—

(१) पाषाणयुग, (२) धातुयुग।

पाषाण युग को भी पूर्व पाषाण युग उत्तर पाषाण युग दो सोपानों
विभक्त किया गया है और धातु युग को भी ताम्र युग, कांस्य युग तथा लौह
तीन सोपानों में विभाजित किया गया है। पाषाण युग के पूर्व मनुष्य पर्णतया पशु स
था पर मानव होने के नाते वे भी सभ्यता के क्रमिक विकास में कुछ योग देते
अतः उनके जीवन पर भी थोड़ा बहुत प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

प्रारम्भिक पाषाण युग—इस युग के मनुष्यों के विषय में हमें बहुत
ज्ञान है। [illegible] मनुष्यों के [illegible]
[illegible] या आकार [illegible] के आधार
कुछ [illegible] नहीं
जा सकता। [illegible] है कि वे लोग निश्चय ही

पत्थर, (६) लकड़ी काटने वाले हथियार, (७) चाकू, (८) छीलने वाले, (९) हथौड़े तथा (१०) चमक पैदा करने वाले। अपने इन्हीं हथियारों से वे वन्य पशुओं का शिकार करते थे और इसमें वे काफी रुचि लेते थे। ये अपने रहने के लिए किसी प्रकार का भवन या झोपड़ी सम्भवत. नहीं बना पाते थे। कर्नूल जिले की कुछ गुफायें पूर्व पाषाण कालीन मनुष्यों का आवास मानी जाती हैं। अतः हम देखते हैं कि जिस प्रकार इनके पूर्वज प्रारम्भिक पाषाण कालीन मनुष्य गिरि-कन्दराओं तथा वृक्षों पर रहते थे उसी प्रकार ये भी पहाड़ों की गुफाओं तथा वृक्षों की छाया में रहते थे। निश्चय ही वर्ष के अधिकांश दिन ये बाहर काट देते रहे होंगे और केवल वर्षाकाल में गुफाओं की शरण लेते रहे। इन्होंने कृषि-कार्य सीखने का प्रयास किया होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है क्योंकि उनके पास खोदने के हथियार थे और प्रकृति-प्रदत्त बीज उन्हें सुगमता से प्राप्त थे। पर इतिहासकार इससे सहमत नहीं हैं और अधिकांश विद्वानों का यह विचार है कि पूर्व पाषाण युगीय मनुष्य कृषि से पूर्णतया अपरिचित रहा और इस क्षेत्र में वह पूर्ववत् बना रहा।

इनके वसन के सम्बन्ध में भी इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वे बहुधा नग्न रहा करते थे किन्तु अधिकांश विद्वान् इस पक्ष में हैं कि

चित्र १—पाषाण युग के हथियार

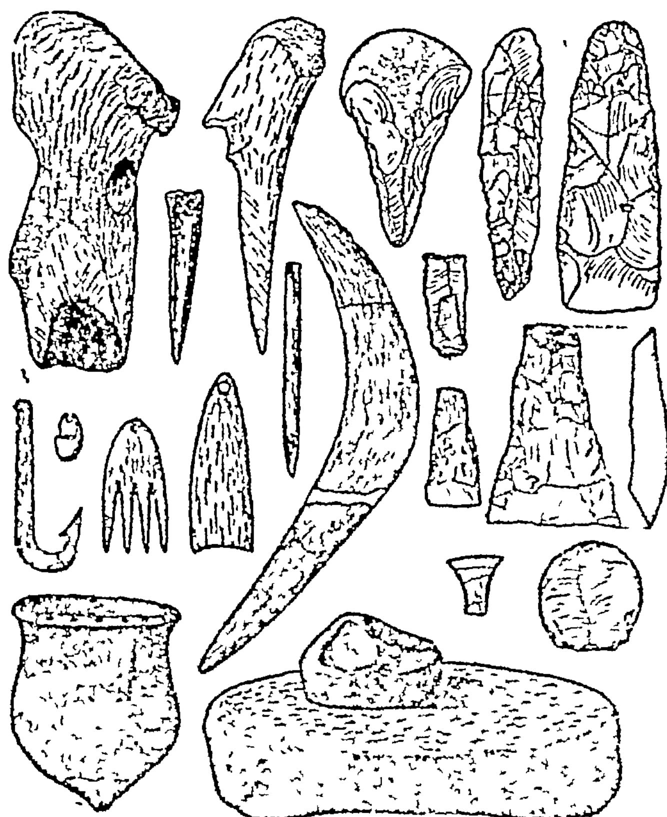
अपने अन्य दूसरे साथियों पर लादने की कोशिश की होगी और अन्त में वह अपने से दुर्बलों को दबाकर उनका प्रधान बन गया होगा। इस प्रकार भिन्न-भिन्न समूहों के भिन्न-भिन्न प्रधान रहे होंगे। जब पहला प्रधान वृद्ध हो जाता रहा होगा या उसकी शक्ति क्षीण हो जाती रही होगी तो दूसरा शक्तिशाली व्यक्ति नेतृत्व ग्रहण कर लेता रहा होगा। निश्चय ही इन प्रधानों के अधिकार असीमित रहे होंगे। बड़े-बड़े पशुओं के आखेट के समय समूह के वीर एकत्रित होते रहे होंगे और उसे मार कर प्रधान के आदेशानुसार बाँट लिया करते होंगे। पर उनका पारिवारिक जीवन कैसा था यह भी एक प्रश्न है। मनुष्य की सन्तान के पालन-पोषण की विधि और उस विधि-सम्बन्धी आवश्यकताओं पर ध्यान देते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस प्राचीन काल मे भी पारिवारिक जीवन का महत्व रहा होगा। माता अपने शिशु की सेवा-शुश्रुषा के लिए निश्चय ही पर्याप्त समय देती रही होगी और ऐसी दशा मे उस सन्तान का जनक उसके आहार की व्यवस्था करता रहा होगा। सन्तान जब तक अपने जननी-जनक पर आश्रित रहती होगी, जब तक वह स्वय आखेट करने योग्य नहीं हो जाती होगी तब तक वह पिताश्रित थी। इस प्रकार अर्ध पशु और अर्ध मानव (मानव से अभिप्राय सभ्यता से सयुक्त न कि केवल मनु की सन्तान) का जीवन बिताकर यह प्रारम्भिक पाषाण-कालीन मनुष्य अपनी आने वाली पीढ़ियों के लिए सभ्यता की ओर अग्रसर होने का मार्ग-निर्माण कर रहा था।

पूर्व पाषाण युग—जिस युग का वर्णन किया जा चुका है वह कोरी कल्पना (चाहे वह भूगर्भविशारदों, चाहे पुरातत्ववेत्ताओं या इतिहासकारों की हो) पर आधारित है। पर जिस युग का अध्ययन हम यहाँ करने जा रहे हैं उसके लिए हमारे पास कुछ ठोस सामग्री है। यह सामग्री और कुछ नहीं वे विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ हैं जिनका प्रयोग मनुष्य अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए करता था। इन्हीं अवशेषों के आधार पर पुरातत्ववेत्ताओं ने पूर्व पाषाण कालीन मनुष्यों के रहन-सहन, खान-पान आदि का अनुमान लगाया है जो बहुत कुछ सत्य के निकट ज्ञात होता है। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि पूर्व पाषाण युग के अवशेष फ्रांस, स्पेन आदि अन्य देशों की अपेक्षा भारत में बहुत अधिक प्राप्त हुये हैं। भारत मे भी ये अवशेष कुछ विशेष स्थानों तक ही सीमित हैं। उत्खनन् द्वारा प्राप्त भग्नावशेषों की परीक्षा से यह ज्ञात हुआ है कि पूर्व पाषाण कालीन मनुष्य अपने औज़ारों मे जिस पत्थर का प्रयोग करते थे वे 'क्वार्टजाइट' हैं। 'क्वार्टजाइट' एक विशेष प्रकार का पत्थर है जो इन निवासियों को दक्षिण भारत में कुदप्पा की पहाड़ियों तथा कुछ अन्य दक्षिणी पहाड़ियों से प्राप्त हो जाता था। राजकीय सग्रहालय मद्रास की प्रागैतिहासिक सामग्रियों की विवरण पत्रिका के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि इस युग की वस्तुएँ मद्रास, कुदप्पा तथा चिंगलपुट मे अधिक सख्या मे प्राप्त हुई है। दक्कन या दक्षिण भारत मे इन वस्तुओं का प्राप्त होना यह प्रमाणित करता है कि यह भाग भारतवर्ष का प्राचीनतम आबाद प्रदेश था। 'क्वार्टजाइट' पत्थर के अतिरिक्त वे अन्य प्रकार के पत्थर का प्रयोग भी करते थे। इनके औज़ार तथा अस्त्र-शस्त्र पत्थर के ही होते थे, पर कुछ लकड़ी तथा हड्डियों के भी रहे होंगे। इनके हथियारों का विभाजन वी० रगाचार्य ने इस प्रकार किया है—

(१) फरसा, (२) बाण, (३) भाला, (४) खोदने के हथियार, (५) फेंकने वाले

पत्थर, (६) लकड़ी काटने वाले हथियार, (७) चाकू, (८) छीलने वाले, (६) हथौड़े तथा (१०) चमक पैदा करने वाले। अपने इन्हीं हथियारों से वे वन्य पशुओं का शिकार करते थे और इसमें वे काफी रुचि लेते थे। ये अपने रहने के लिए किसी प्रकार का भवन या झोपड़ी सम्भवत. नहीं बना पाते थे। कर्नूल जिले की कुछ गुफायें पूर्व पाषाण कालीन मनुष्यों का आवास मानी जाती हैं। अतः हम देखते है कि जिस प्रकार इनके पूर्वज प्रारम्भिक पाषाण कालीन मनुष्य गिरि-कन्दराओं तथा वृक्षों पर रहते थे उसी प्रकार ये भी पहाड़ों की गुफाओं तथा वृक्षों की छाया में रहते थे। निश्चय ही वर्ष के अधिकाश दिन ये बाहर काट देते रहे होंगे और केवल वर्षाकाल में गुफाओं की शरण लेते रहे। इन्होंने कृषि-कार्य सीखने का प्रयास किया होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है क्योंकि उनके पास खोदने के हथियार थे और प्रकृति-प्रदत्त बीज उन्हें सुगमता से प्राप्त थे। पर इतिहासकार इससे सहमत नहीं हैं और अधिकाश विद्वानों का यह विचार है कि पूर्व पाषाण युगीय मनुष्य कृषि से पूर्णतया अपरिचित रहा और इस क्षेत्र में वह पूर्ववत् बना रहा।

इनके वसन के सम्बन्ध में भी इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वे बहुधा नग्न रहा करते थे किन्तु अधिकाश विद्वान् इस पक्ष में हैं कि



चित्र १—पाषाण युग के हथियार

वे पेड़ की पत्तियों, छालों तथा पशुओं की खाल से अपने शरीर को ढकते थे। अग्नि के प्रयोग के विषय में भी कुछ इसी प्रकार का मतान्तर है। इन्हें बर्तन बनाना बिलकुल नहीं आता था, अतः जल के लिए विवश होकर इन्हें सरिता, झरना या बहुत बड़े-बड़े कासारों के निकट बसना पड़ता था। प्रातःकाल से लेकर सूर्यास्त तक ये पशुओं के आखेटक के रूप में फिरते थे और रात्रि में हिंसक पशुओं से स्वयं अपनी रक्षा के निमित्त चिन्तित होकर किसी सुरक्षित स्थान में सो जाते थे। ये समूहों में रहते थे जिसे अर्थ-हीन सामाजिक संगठन कह सकते हैं। ये शव-विसर्जन किस प्रकार करते थे, यह अभी तक प्रामाणिक रूप से नहीं ज्ञात किया जा सका है। दफनाने तथा जलाने की क्रिया सभ्य समाज के पुश्तैनी अधिकार के रूप में है, अतः वे असभ्य पूर्व पाषाण कालीन मनुष्य इन दोनों प्रथाओं से वंचित रहे होंगे।

दक्षिण के ये निवासी किस जाति के थे, इस विषय में केवल इतना ही यहाँ जान लेना पर्याप्त होगा कि ये भारत के आदि निवासी थे। वास्तव में इन्हीं आदिम जातियों ने सभ्यता का बीजारोपण किया जिसे आने वाली पीढ़ी ने विकासोन्मुखी बनाया।

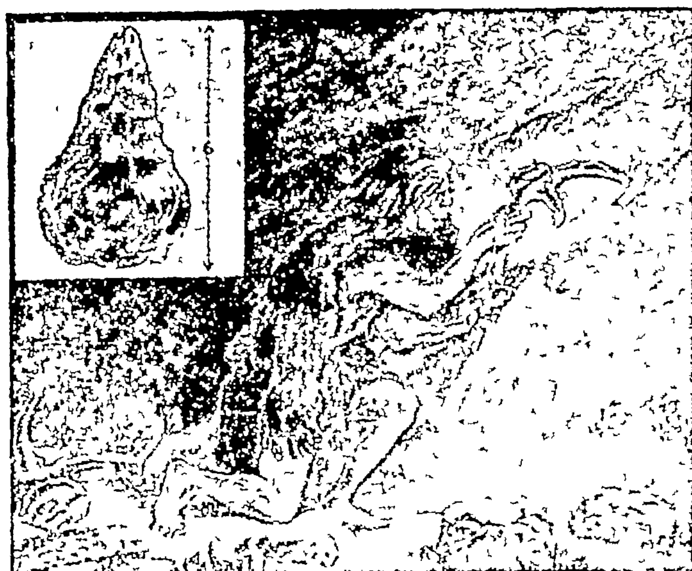
उत्तर पाषाण काल—यह युग लगभग पन्द्रह हजार ई० पू० के कुछ पहले से ही आरम्भ हो जाता है। पूर्व पाषाण काल के विषय में लिखते हुये यह बताया गया था कि इस युग के भग्नावशेष बहुत ही नगण्य हैं पर इसके ठीक प्रतिकूल उत्तर पाषाण काल के अवशेष पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं। साथ ही जहाँ पूर्व पाषाण कालीन लोगों ने अपने को केवल दक्षिण भारत में ही सीमित कर दिया था, जैसा कि उनके प्राप्त भग्नावशेषों से ज्ञात है, वहाँ दूसरी ओर उत्तर पाषाण कालीन मनुष्य का कार्य-क्षेत्र सम्पूर्ण भारत है। अन्वेषण द्वारा अब तक जो अवशेष प्राप्त हो सके हैं उनका विभाजन इस प्रकार किया गया है—

(१) चकमकीय उपादान (Pigmy Flints), (२) कारखाने (Implements Factories), (३) (Cinder mounds), (४) 'कटोरीदार चिह्न' या तक्षण-कला-सम्बन्धी (Cup-marks), (५) लाल खड़िया की चित्रकारी या चित्रकला सम्बन्धी (Ruddle or haematite drawings) तथा (६) कब्र या समाधियाँ (Tombs)।

चकमकीय उत्पादन के अन्तर्गत चकमक पत्थर द्वारा निर्मित उन समस्त छोटे-छोटे औजारों को रक्खा गया है जो आधा इन्च से लेकर डेढ़ इन्च तक लम्बे हैं। ये बहुधा नोकीले तथा समद्विबाहु त्रिभुजाकार हैं। इन औजारों की मुठिया भी लकड़ी की बनी होती थी। छीलने, काटने, कुरेदने, फाड़ने आदि का काम इन्हीं औजारों से लिया जाता था। इनके अवशेष विन्ध्य की पहाड़ियों, मिर्जापुर, रीवाँ, बघेलखण्ड आदि स्थानों में प्राप्त हुए हैं। छोटा नागपुर, आसाम तथा बर्मा में भी इसी वर्ग का एक विशेष प्रकार का औजार प्राप्त हुआ है जो छेनी के आकार का है। इस प्रकार का औजार इण्डोचीन तथा मलाया पेनिनसुला में भी प्राप्त हुआ है।

विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के कारखाने भी दक्षिण भारत में अपने ध्वंसावशेष के रूप में प्राप्त हुए हैं। दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यों की बस्तियों के चिन्ह भी इन्हीं कारखानों के चिन्हों के साथ प्राप्त हुए हैं। चाक द्वारा निर्मित उच्चकोटि के बर्तन भी यहाँ मिले हैं।

उत्तर पाषाण कालीन मनुष्य किस प्रकार चित्रकला में दक्ष था इसका जीता-जागता उदाहरण हमें मिर्जापुर, होशंगाबाद, कैमूर की पहाड़ियों आदि में प्राप्त हुआ है।



चित्र २—उत्तर पाषाण कालीन मनुष्य का कला-निर्माण

मिर्जापुर जिले में बारहसिंघे पर आक्रमण करते हुये एक आखेटक का चित्र प्राप्त हुआ है। होशंगाबाद में एक जिराफ का रेखांकन है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये जिराफ से परिचित थे। इसी प्रकार सिंघापुर में भी कुछ चित्र मिले हैं जिनमें एक कुछ कंगारू-सा है। घोड़े तथा हिरन के चित्र भी अंकित किये गये थे जो वहाँ प्राप्त हुये हैं।

कब्रों या समाधियो के चिन्ह भी प्राप्त हुए हैं जिनके आधार पर हम उनकी शव-विसर्जन क्रिया के साथ-साथ उनके प्रसार का बोध करते हैं। मिर्जापुर में सम्भवत किसी युवक का अस्थि-पंजर प्राप्त हुआ है। जिस समाधि में यह अस्थि-पंजर पड़ा था उसमें कुछ चमकीले बर्तन भी रखे थे। इसी युग का एक बहुत बड़ा कब्रिस्तान कोलर जिले में प्राप्त हुआ है। इस कब्रिस्तान में ५४ कब्रे हैं। पट्टावरम में मद्रास शहर के निकट भी एक समाधि-सी 'मेदी' मिली है। चिंगलपट, वेल्लौर तथा आर्कट (मद्रास) आदि स्थानो में भी ऐसी समाधियाँ प्राप्त हुई हैं। इसी प्रकार मद्रास के अतिरिक्त भारत के अन्य भागों में भी समाधियाँ विभिन्न प्रकार एवं ढंग की मिली हैं। मैसूर, निजाम राज्य तथा बम्बई में इनका बाहुल्य है। ५४ कब्रों वाले कब्रिस्तान से भी अधिक बड़ी एक समाधि-भूमि तिन्नवल्ली जिले में ताम्रपर्णी नदी के तट पर चन्नलुर नामक स्थान पर प्राप्त हुई है। यह समाधि-भूमि लगभग ११४ एकड़ में है और प्रत्येक एकड़ में कम से कम १००० शवों के लिए स्थान है। यहां के प्राप्त **शवों का पूरा** ढाँचा, टुकड़ों में विभाजित करके रक्खा हुआ, प्राप्त हुआ है। यह भी **शव-विसर्जन**

की एक प्रथा रही होगी। शव-पात्रों का यहाँ अधिकता से पाया जाना इस नई शव-विसर्जन-क्रिया का द्योतक है।

उनके भग्नावशेषों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि ये लगभग सम्पूर्ण भारत में फैल चुके थे। पूर्व पाषाण कालीन मनुष्य की भाँति ये केवल दक्षिण भारत तक ही सीमित न थे। उनके इन भग्नावशेषों के आधार पर हम इनके रहन-सहन की भी अनुमानित रूप-रेखा तैयार कर सकते हैं। निश्चय ही इनको भवन-निर्माण-कला का बोध हो चुका होगा। हाँ, इनके भवन किस प्रकार के होते थे यह कहना कठिन सा है, पर विद्वानों ने ऐसा अनुमान किया है कि ये घास-फूस की झोपड़ियाँ बनाते थे और उन्हें प्रौढ़ता प्रदान करने के लिए उन पर मिट्टी का लेप कर देते थे। कुछ इतिहासकारों के मत में ये केवल वल्कल, पत्तियाँ, छाल, खाल आदि से ही अपना तन ढकते थे परन्तु अधिकांश विद्वानों का यह मत है कि उत्तरार्ध काल में उन्होंने वस्त्र बनाना सीख लिया था। दोनों पाषाण युगों की प्रगति में काफी अन्तर पड़ चुका था, यह हमने अभी देखा है। इनकी मुख्य वस्तुओं अस्त्र-शस्त्र आदि में काफी परिवर्तन हो चुका था। यद्यपि अधिकांश पुराने हथियार अब भी चले आ रहे थे पर अब वे उतने भोंदे नहीं थे। उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यों ने अब उन्हें सुन्दर तेज और सुडौल बनाना आरम्भ कर दिया था। उन्होंने उस पर एक प्रकार की पालिश करना सीख लिया था। अब ये काफी चमकीले थे। दक्षिण के कतिपय स्थानों में बर्तनों के अवशेष तथा कब्रों में रक्खे हुये बर्तनों को देखने से यह ज्ञात होता है कि वे लोग प्रारम्भ में हाथ से बर्तन बनाते थे, फिर कालान्तर में वे चाक द्वारा बर्तन बनाने लगे। अब अपने आखेटक जीवन को थोड़ा सा घटाकर इन्होंने कृषि की ओर बहुत सूक्ष्म ध्यान दिया। वे गाय, बैल, भेड़, बकरी आदि जानवर पालते रहे होंगे। पशु-पालन से उन्हें दूध भी प्राप्त होने लगा। फल-फूल अब वे स्वयं थोड़ा बहुत उगाने लगे थे। आखेट अब भी करते थे। अतः ये सारे पदार्थ इनके भोजन में रहते होंगे। बाल काढ़ने की कंघियाँ तथा गुलूबन्द से यह प्रमाणित होता है कि इनकी स्त्रियाँ शृङ्गार से विशेष अभिरुचि रखती थीं।

उनके भग्नावशेषों के विषय में लिखते हुए हमने पिछले पृष्ठों में बतलाया था कि उनके अवशेषों में 'कटोरीदार-चिन्ह' या तक्षण-कला सम्बन्धी अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। भारत के अधिकांश भागों में प्रस्तर शिलाओं या चट्टानों पर उत्कीर्ण ये नमूने निश्चय ही आश्चर्यजनक हैं। तक्षण-कला के अतिरिक्त चित्रकला में भी ये कुछ दखल रखते थे। इनके उदाहरण पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुए हैं। भाले द्वारा बारहसिंघे पर आक्रमण करने का चित्र स्पष्ट रूप से यह व्यक्त करता है कि (क) आखेट उनका प्रिय विषय था, (ख) वे पशुओं को वश में करने के लिए उन पर मनुष्य का आधिपत्य दिखलाना चाहते थे तथा (ग) इनकी अदम्य शक्ति एवं उत्साह सराहनीय है। वनिमान, हिरन, शिकार आदि के जो रेखाचित्र प्राप्त हुए हैं उन सब की आकृतियाँ बहुत कुछ ठीक हैं। कुछ इतिहासकारों ने ऐसा अनुमान किया है कि वे प्रकृति पूजक थे। वे वृक्षों तथा चट्टानों में देवता का निवास समझते थे और उन्हें पूजते थे। इनके सामाजिक संगठन के विषय में हमें कुछ विशेष ज्ञान नहीं है। केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि अब समूहों में रहने की प्रथा प्रचलित थी और समूह का प्रधान कोई सर्व

श्रेष्ठ व्यक्ति (श्रेष्ठ शारीरिक शक्ति के अर्थ में) होता था। किसी राजनीतिक संगठन की कल्पना तर्कसंगत नहीं, यह विकास की बहुत बाद वाली पीढ़ी है।

कुछ इतिहासकारों ने पूर्व पाषाण काल तथा उत्तर पाषाण कालीन मनुष्य की जातियों में भेद माना है और कुछ ने उन्हें एक ही स्वीकार किया है।

धातु काल—पाषाण के पश्चात् मनुष्यों ने अपने प्रयोग की वस्तुओं में धातु का उपयोग आरम्भ किया। अतः इसी आधार पर इनका नामकरण धातु-युग किया गया। धातु-युग को तीन भागों में विभक्त किया गया है—(१) ताम्र युग, (२) कांस्य युग तथा (३) लौह युग। अपने क्रमानुसार ही ये युग आरम्भ हुए अर्थात् सर्व प्रथम ताँबे का प्रयोग, तत्पश्चात् कांसे का प्रयोग और अन्त में लोहे का प्रयोग किया जाने लगा। विश्व

चित्र ३—धातु युग के हथियार

के अन्य स्थानों में तो ये तीनों धातु-युग पाये जाते हैं पर भारत में केवल सिन्ध को छोड़कर अन्यत्र कांस्य का प्रयोग नहीं किया गया था। अत. भारतवर्ष में केवल ताम्र तथा लौह युग ही रहा। इन युगों का आरम्भ कब से हुआ यह भी एक प्रश्न है जिसका कोई भी प्रामाणिक उत्तर नहीं दिया जा सकता। कुछ विद्वानो के कथनानुसार ये लोग उत्तर पाषाण कालीन मनुष्यो के ही वंशज थे और कुछ लोगो के मतानुसार ये उत्तर-पश्चिम से भारत में आये।

ताम्र युग के विषय में हमें केवल उनके ध्वसावशेषो से कुछ सूचना प्राप्त होती है। मध्य भारत के गूगेरिया नामक गाव मे ४२४ ताम्र उपकरण प्राप्त हुये हैं। हिमालय से कानपुर तथा हुगली से सिन्धु नदी तक ताम्र-उपकरण पर्याप्त सख्या मे प्राप्त हुये हैं। औजारों में तलवार, फरसे, बर्छा, खजर आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार उत्तर भारत ही इस युग का केन्द्र था।

लौह युग ताम्रयुग के बाद आरम्भ होता है। यद्यपि दक्षिण भारत की प्राप्त कब्रों में काँसे के कुछ उपकरण प्राप्त हुये हैं पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वे साधारण प्रयोग में थे। वास्तव मे ये वस्तुएँ धनाढ्यों की विलासिता की सामग्री हैं और आयात द्वारा प्राप्त हैं। उत्तर भारत में ही लोहे का प्रयोग सर्व प्रथम आरम्भ हुआ।

धातु युग के मनुष्यों के सामाजिक जीवन मे पहले की अपेक्षा कुछ सुधार अवश्य हुआ होगा, अभी केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. सभ्यता के उदय के पूर्व मनुष्य किस प्रकार रहता था ?

२ आदि कालीन सभ्यता के विषय मे आप क्या जानते हैं ? कितने सोपानों में इसका वर्गीकरण किया गया है ?

३ पाषाण काल से आप क्या अर्थ समझते हैं ? इस युग की क्या विशेषता थी ?

४. धातु काल के विषय मे आप क्या जानते हैं ?

५ जिन साधनों से प्रागैतिहासिक काल की सभ्यता का बोध होता है उन्हें समझा कर लिखिये।

अध्याय ३
सिन्धु सभ्यता

इतिहास के साधन—इस प्राचीन भारतीय सभ्यता का ज्ञान हमें किस प्रकार हुआ, यह इतिहास ,भी बड़ा रोचक है। आज से हजारों वर्ष पूर्व की यह सभ्यता धरती के नीचे अपने भग्नावशेष छोड़कर विलीन हो गई थी, पर पुरातत्ववेत्ताओं के अदम्य उत्साह एव अपरिमित धैर्य के फलस्वरूप वे तिमिरविलीन भग्नावशेष दिन का प्रकाश देख सके। निम्नलिखित स्थानों की खुदाइयों से ही सिन्धु घाटी की सभ्यता का बोध होता है:—

(१) मोहेनजोदड़ो, (२) हड़प्पा, (३) अम्बाला, (४) कराँची, (५) चैन्हदड़ो एवं झूकरदड़ो तथा (६) केज़ात (बलूचिस्तान)।

उपरोक्त खुदाइयों में सभ्यता के वास्तविक रूप को सम्मुख लाने का श्रेय मोहन जोदड़ो एव हड़प्पा की खुदाइयों को ही दिया जा सकता है क्योंकि ये ही सिन्धु सभ्यता के केन्द्र थे और अधिकाश भग्नावशेष (कम से कम सभी महत्वपूर्ण भग्नावशेष या प्राचीन स्मारक) यहीं प्राप्त हुए हैं। अत: इन दोनों स्थानों की भौगोलिक स्थिति तथा उनकी खुदाइयों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जायगा।

मोहेनजोदड़ो—मोहेनजोदड़ो का शाब्दिक अर्थ 'शवों की ढेरी' है। यह सिन्ध के लरकाना जिले में सिन्ध तथा नर नहर के मध्य स्थित है। सर्व-प्रथम १६२२ ई० में 'आर्केलाजिकल सर्वे आफ इन्डिया' के पश्चिमी सर्किल के अध्यक्ष श्री राखाल दास बनर्जी को यहाँ एक बौद्ध समाधि प्राप्त हुई थी। इस आशा से कि यहाँ बौद्ध धर्म सम्बन्धी कुछ सामग्रियाँ प्राप्त होंगी, बनर्जी ने उत्खनन्-कार्य आरम्भ करवाया। पर यहाँ बौद्ध सामग्रियों का अवशेष न मिलकर एक पूरी सभ्यता का अवशेष प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् पानी को छूती हुई सात तहों तक खुदाई हुई। इस खुदाई में इतनी प्रचुर सामग्री प्राप्त हुई है कि लिखित विवरण के अभाव में भी (यद्यपि उक्त विवरण का अभाव न होते हुये भी लिपिबद्ध सामग्री का अपठनीय होना एक प्रकार का अभाव-सा ही है) हम उस प्राचीन सभ्यता की रूप-रेखा अंकित कर पाते हैं।

हड़प्पा—यह माटगोमरी जिले में एक स्थान है। यहाँ सर्वप्रथम १६२२ ई० में दयाराम साहनी ने अन्वेषण-कार्य आरम्भ किया था और कुछ भग्नावशेष प्राप्त किये थे; किन्तु तत्पश्चात् आर्केलाजिकल सर्वे आफ इन्डिया के डाइरेक्टर जनरल सर जान मार्शल के निरीक्षण में यहाँ पर्याप्त उत्खनन्-कार्य हुआ जिससे धरती में छिपी हुई सभ्यता का परिचय प्राप्त हुआ।

सिन्धु सभ्यता का अध्ययन करने के लिए हमें प्राप्त भग्नावशेषों को ही पृथक्-पृथक् विचाराधीन रखना होगा क्योंकि ये ही उस सभ्यता के मूक इतिहास हैं।

भग्नावशेष

भवन—कच्चे-पक्के, छोटे-बड़े हर प्रकार के भवनों के भग्नावशेष उत्खनन्

प्रमुख हैं। स्त्रियों के आभूषणों में नथुनी, करधनी, बाली आदि अधिक प्रचलित थीं। जैसा कि पिछले पृष्ठों में बताया गया है सोने, चाँदी, कीमती पत्थर आदि अनेक धातुओं और खनिजों से ये परिचित थे। अतः धनी लोगों के आभूषण सोने, चाँदी, मणियों एवं जवाहिरातों के होते थे और निर्धनों के आभूषण सुलभ हड्डियों, ताँबे तथा पक्की मिट्टियों के होते थे।

विलास-सम्बन्धी अन्य सामग्रियाँ—शृङ्गार की ओर स्त्रियों की विशेष अभिरुचि थी। हाथी दाँत की कंघियों तथा पीतल के आइने का प्रयोग वे करती थीं। मुख तथा ओष्ठ रंगने के लिए भी वे एक विशेष प्रकार के पदार्थ का प्रयोग करती थीं।

आमोद-प्रमोद—जीवन में आमोद-प्रमोद का महत्व उस प्राचीन काल में भी कम न था। प्राचीन काल का प्रिय खेल शतरंज यहाँ के निवासियों का प्रिय खेल था। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि उनके मनोरंजन का एक अन्य साधन आखेट भी था। पक्षियों को पालकर ये उन्हें लड़ाते थे। मुर्गों की लड़ाई का इन्हें विशेष शौक था। कुछ ऐसी मुहरें प्राप्त हुई हैं जिन पर तुरही, वीणा आदि के चित्र उत्कीर्ण हैं। इससे यह परिलक्षित होता है कि नृत्य एवं सङ्गीत से भी इन्हें प्यार था। काँसे की एक नर्तकी की मूर्त्ति भी इस सत्य को प्रमाणित करती है।

उत्खनन् द्वारा असंख्य खिलौने प्राप्त हुए हैं जिनमें झुनझुने, सीटियाँ, गाड़ियाँ जिनमें बैल जुते रहते थे और जिन पर चिड़ियाँ बैठाई जाती थीं आदि प्रधान हैं। ये सारे खिलौने बहुधा मिट्टी के होते थे। नर-नारियों एवं पशु-पक्षियों की आकृतियाँ भी मिट्टी की बनाई जाती थीं।

रहन-सहन के कुछ अन्य ढंग—भवनों एवं नगरों का वर्णन करते समय हमने बताया है कि इनके भवन हवादार एवं स्वच्छ होते थे। भवनों की सादगी से कुछ ऐसा भी आभासित होता है कि वे अपने भवनों को कुछ ऐसी वस्तुओं से सजाते रहे होंगे जो शीघ्र-नश्य रही होंगी। पर अलंकार से परे रहना इनके लिए सम्भव जान नहीं पड़ता। ये छोटी दाढ़ी-मूछें रखते थे। कंघी की सहायता से ये अपने बालों को पीछे की ओर फेरते थे।

तौल के बटखरे—उत्खनन् द्वारा पर्याप्त मात्रा में बटखरे प्राप्त हुए हैं। छोटे बटखरे चिकने स्लेटी पत्थर के हैं और वे प्रायः छपहले आकृति के हैं किन्तु बड़े बटखरे गोल पेंदा के नोकीले हैं। इतिहासकारों का ऐसा मत है कि ये बटखरे अपनी शुद्धता में मेसोपोटमियाँ तथा एलम के बटखरों से भी बढ़कर हैं।

अन्तिम क्रिया—ये तीन प्रकार से अपने शवों की अन्तिम क्रिया करते थे— (१) या तो उनको पूरी समाधि दे दी जाती थी। (२) या पहले शव को खुले स्थान में इसलिए छोड़ दिया जाता था कि वह पशु पक्षियों का आहार बने और तदुपरान्त अवशेष अस्थि-पंजर को दफना देते थे। (३) या पहले शव को जला देते थे और तब भस्म को भाण्ड में रखकर दफना देते थे।

सामाजिक संगठन—यहाँ सम्पूर्ण समाज चार वर्गों में विभक्त था—(१) विद्वान, (२) योद्धा, (३) व्यापारी तथा (४) श्रमजीवी।

पुजारी, ज्योतिषी तथा वैद्य आदि की गणना विद्वान वर्ग में की जाती थी।

सैनिक कार्य करने वाले तथा जन-रक्षकों को योद्धा वर्ग में रक्खा गया था। औद्योगिक कार्य करने वाले तथा वणिकों का तृतीय वर्ग व्यापारियों का था। चतुर्थ वर्ग में घर में काम करने वाले नौकर तथा अन्य श्रमजीवी थे। छोटे-मोटे घरेलू उद्योग-धन्धों में लगे हुए व्यक्तियों को भी इसी वर्ग में रक्खा गया था।

आर्थिक दशा

प्रारम्भ में बताया जा चुका है कि इनका मुख्य व्यवसाय कृषि था। कृषि-कार्य के सहायक उद्योग पशु-पालन से भी ये जीविका उपार्जन करते थे। इनके पालतू पशुओं में बैल, गाय, सुअर, कुत्ते और हाथी प्रमुख थे। इनके घरों में सुअर, घड़ियाल, मछलियों तथा चिड़ियों की भी हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं; जिन्हें सम्भवतः ये मारकर खाते थे। कुछ पत्रों पर गैंडा, चीता, भालू, बन्दर तथा खरगोश के भी चित्र उत्कीर्ण हैं जिनसे ये परिचित मालूम पड़ते हैं।

विभिन्न प्रकार के घरेलू उद्योग-धन्धे भी इनकी जीविका के प्रमुख साधन थे। इनमें स्वर्णकारी, कुम्भकारी, बढ़ईगिरी, लुहारी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। कुम्भकार चाक द्वारा रकाबियाँ, कटोरियाँ, प्यालियाँ, मटके, कुण्डे, भाण्ड आदि बनाते थे। मिट्टी के खिलौने बनाकर भी ये अच्छी आय कर लेते थे। मिट्टी के बर्त्तनो एव खिलौनो के अतिरिक्त ये दीवट, चूहेदानी तथा पिंजड़े भी मिट्टी के बनाते थे।

बढ़ई का महत्व भी इन दिनों कम न था। बच्चों की गाड़ियाँ और कुर्सियाँ तथा इसी प्रकार के अन्य छोटे-छोटे सामान बढ़ई बनाते थे। भवन-सम्बन्धी लकड़ी की सामग्रियाँ, दरवाजे, खिड़कियाँ आदि बनाने में भी ये काफी दक्ष थे। अस्त्र-शस्त्र तथा आभूषणों के अतिरिक्त धातु की अन्य समस्त सामग्रियाँ बनाने वाले को लुहार कहा गया है। ये ताँबा, काँसा आदि से गदा, फरसा, खजर, बर्छे, धनुष-बाण आदि बनाते थे। धातुओं के बर्त्तन भी यही लोग बनाते थे।

इनके अतिरिक्त जौहरी, हाथी दाँत के काम करने वाले, रँगरेज, पत्थर काटने वाले विभिन्न प्रकार के लोग नाना प्रकार के उद्योग-धन्धों द्वारा जीविकोपार्जन करते थे।

कृषि, पशु-पालन एव घरेलू उद्योग-धन्धों के अतिरिक्त व्यापार के क्षेत्र में भी इन लोगों ने पर्याप्त उन्नति की थी। इनका विदेशी व्यापार सुमेरिया तक फैला था।

धार्मिक दशा

इनके धर्म के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के प्रमुख साधन मुहरें, तावीजें मूर्त्तियाँ आदि हैं।

मातृदेवी की उपासना—मोहेनजोदड़ो तथा हड़प्पा में अनेक देवियों की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। विद्वानो का यह मत है कि ये मूर्त्तियाँ मातृ देवी या प्रकृति देवी की हैं। ये मातृ देवी की पूजा बलि द्वारा करते थे और बलि में नर-बलि भी सम्मिलित थी।

आदि पशुपति की उपासना—एक सील पर एक देवता की मूर्ति उत्कीर्ण है। इस देवता के तीन मुख और दो सींग हैं। यह योगासन में बैठा है। इसके दाहिने ओर एक हाथी और सिंह है, बाएँ ओर बारहसिंहा तथा भैंसा चित्रित है। सर पर शिरस्त्राण है। आसन के नीचे एक दो सींग वाला हिरन है। विद्वानों ने इस चित्र का गहन

अध्ययन किया है। तीन मुख से त्रिमुख और त्रिनयन (शंकर भगवान का) अनुमान किया गया है। इस प्रकार यहाँ आदि पशुपति की पूजा का आभास मिलता है।

योनि पूजा—शिव एवं शक्ति की उपासना के साथ-साथ लिंग-पूजा या योनि-पूजा भी प्रचलित थी। शिव की पूजा के साथ लिंग की पूजा का विकास होना हिन्दू धर्म की पूजा-पद्धति से समता स्थापित करता है। पत्थरों का बना हुआ लिंग तथा योनि की आकृतियाँ सिन्धु तथा बिलोचिस्तान दोनों स्थानों में पाई गई हैं। लिंग-पूजा से शिव या आदि पशुपति की पूजा निश्चय ही प्रमाणित हो जाती है।

वृक्ष-पूजा या प्रकृति-पूजा—वृक्ष-पूजा या प्रकृति-पूजा के प्रमाण स्पष्ट रूप से मिलते हैं। वृक्ष-पूजा दो रूपों में होती थी—(१) वृक्ष को उसके प्राकृतिक रूप में पूजना तथा (२) प्रतीकात्मक रूप में, अर्थात् उस वृक्ष में किसी देवता का निवास मानकर। पीपल की दो डालों के बीच में एक देवता का चित्र मोहेनजोदड़ो में प्राप्त हुआ है। इस देवता की आराधना में सात अन्य मूर्तियाँ चित्रित की गई हैं जो नारी चित्र हैं।

पशु-पूजा—सिन्धु सभ्यता के निवासी पशु-पूजा भी करते थे। उनकी पशु-पूजा का सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि वे पशुओं की आकृतियाँ कुछ विशेष आकार-प्रकार की बनाते थे। कुछ पशु आधे मनुष्य और आधे पशु थे। आधा भेंडा और आधा बकरा, आधा हाथी और आधा बैल या इसी प्रकार के अन्य मिश्रण से किसी पशु की आकृति का निर्माण करना यह सिद्ध करता है कि वे पशुओं में भी दैवी अंश मानते थे और उनकी आराधना करते थे।

धार्मिक प्रथाएँ—इनकी धार्मिक प्रथाओं के विषय में हमारा ज्ञान अत्यन्त स्वल्प है। प्राचीन सभ्य देशों में धार्मिक अन्ध-विश्वासों, जादू-टोना आदि का अधिक प्रचार ज्ञात होता है। सिन्धु-सभ्यता में भी हमें इस प्रकार के अन्ध-विश्वासों का पता चलता है। स्वर्ग-नरक के विषय में इनकी कोई कल्पना थी या नहीं, यदि थी तो क्या थी, इसका भी कोई ज्ञान हमें नहीं है। आमिषहारी होने के कारण इनकी धार्मिक प्रथाओं में से कुछ हिंसात्मक भी रही होंगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है पर इसका भी कोई मान्य साक्ष्य नहीं है।

कला

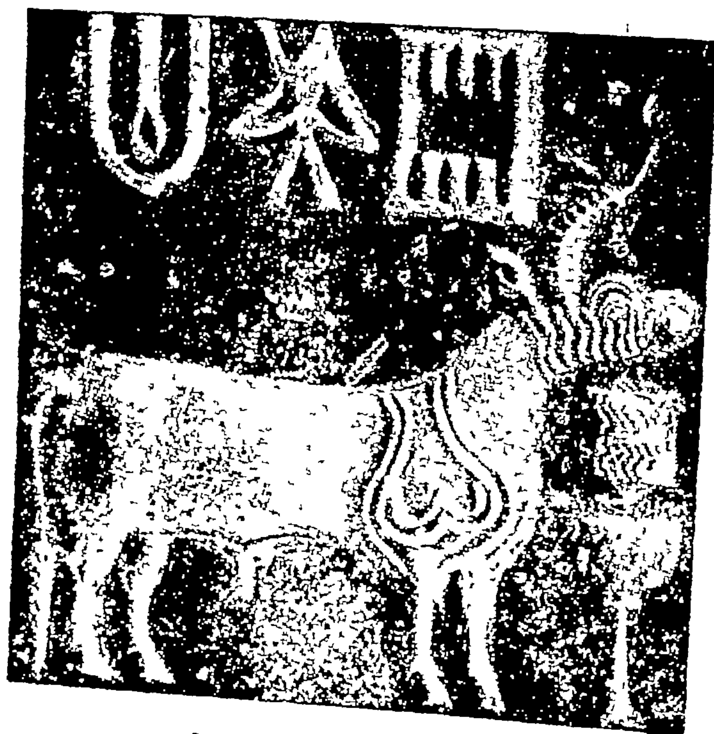
कला के क्षेत्र में यहाँ के कलाकारों ने काफी उन्नति की थी। सुविधा के लिए इनकी विभिन्न कलाओं का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जायगा।

भवन-निर्माण-कला—इनके भवन यद्यपि स्वच्छ एवं सुडौल होते थे पर इनमें कलात्मकता का अभाव था। विशाल भवनों एवं हालों को देखकर हम यह निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि वे इस कला में दक्ष थे और मकानों को अधिक से अधिक उपयोगी बनाना चाहते थे। वृहत स्नानागार इनकी इस कला का द्योतक है।

मूर्ति-कला—वास्तव में यहाँ के कलाकार मूर्ति-कला में ही विशेष उन्नति कर सके थे। इनकी मूर्तियाँ अधिक कलात्मक एवं कल्पनापूर्ण हैं। यहाँ नर्तकी की एक मूर्ति प्राप्त हुई है। नर्तकी किसी मुद्रा में नृत्य करने के लिए प्रस्तुत है। वह पैर ऊपर उठा कर पद-प्रक्षेप करना चाहती है।

मुद्रा निर्माण-कला—इस क्षेत्र में तो यहाँ के मनुष्यों ने आशातीत उन्नति

ती थी। मुहरें भिन्न-भिन्न प्रकार के पत्थरों, हाथी दाँत, धातुओं तथा मिट्टी की बनाई जाती थीं। इनके आकार भी विभिन्न हैं। अधिकांश मुहरें गोलाकार हैं। मुहरों की सुन्दरता उन पर उत्कीर्ण पशु-आकृतियों से और बढ़ जाती है।



चित्र ५—मोहेनजोदड़ो की कला

अन्य कलाएँ—कुम्भकार-कला, स्वर्ण-कला, बर्त्तन बनाने की कला आदि पर हले ही प्रसङ्गत: प्रकाश डाला जा चुका है। चित्र-कला का स्वतन्त्र रूप देखने को नहीं लता पर इससे अनुमान लगाना कि वे चित्रकला से अनभिज्ञ थे, तर्कसङ्गत नहीं। स्तव में चित्र-कला का प्रदर्शन बहुधा शीघ्र-नश्वर वस्तुओं पर होता है जिनका इतने नों तक सुरक्षित रहना असम्भव ही है। मिट्टी के बर्त्तनों और ताबीजों पर जो र बने हैं वे इस बात का प्रमाण हैं कि वे चित्र-कला से परिचित रहे होंगे।

लेखन-कला—यहाँ के निवासी लिखना-पढ़ना अवश्य जानते थे, जैसा कि ों पर उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होता है पर कोई लेख-पत्र नहीं प्राप्त हुआ है। लगभग ० मुहरें प्राप्त हुई हैं जिन पर कुछ लिखा है। इनकी लिपि चित्रात्मक प्रतीत है और प्रत्येक चिन्ह किसी शब्द या वस्तु विशेष के लिए बना है। ये दाहिने से को लिखते थे पर कुछ मुहरों में कुछ पंक्तियाँ बायें से दायें को भी चलती हुई गई हैं। दुर्भाग्यवश इनकी लिपि अब तक नहीं पढ़ी जा सकी है।

अध्याय ४

भारतीय आर्यों का मूल

आर्य जाति

आर्यों के आदि देश के विषय में खोज करने वाले अन्वेषकों का अभाव नहीं है और न तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों का ही अभाव है। मैक्समूलर, बेन्फे, गाइजर, पी० गाइल्स, बालगंगाधर तिलक आदि अनेक प्रकाण्ड विद्वानों एवं महारथियों ने इस क्षेत्र में अन्वेषण किया है और इस प्रकार अपने पाण्डित्य द्वारा आर्यों के इस अज्ञात आदि निवास-स्थान को बताने का प्रयास किया है। अपने अन्वेषण का आधार इन विद्वानों ने भाषा-विज्ञान, जाति-विषयक विशेषताएँ तथा पुरातात्विक उपकरण रक्खा है। आर्यों के आदि निवास-स्थान का जो वर्गीकरण किया गया है उसमें यह ज्ञात होता है कि कुछ विद्वान् आर्यों का आदि देश योरप में ही बताते हैं, कुछ लोग मध्य-एशिया को वह स्थान घोषित करते हैं, कुछ विद्वानों के मतानुसार वह भूमि आर्कटिक प्रदेश में कहीं थी और कुछ इतिहासकार भारत को ही आर्यों की मूल भूमि प्रमाणित करते हैं। इन समस्त मतों पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डाला जायगा।

आदि देश योरप—इस मत का प्रथम प्रचारक हम फ्लारेंस के एक सौदागर फिलिप्पोसैसेटी को कह सकते हैं। इसने यह घोषित किया कि भारत की संस्कृत भाषा तथा योरप की अन्य भाषाओं में कुछ साम्य है। उक्त सौदागर के विचारों का समर्थन सर्वप्रथम बंगाल के प्रधान न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने किया। इन्होंने पितृ, मातृ आदि शब्दों के साम्य को योरप की अन्य भाषाओं में दिखलाया। पर यह साम्य अधिक से अधिक केवल यह सिद्ध करता है कि उपरोक्त भाषा भाषी कभी कहीं एक स्थान पर रहे होंगे। कुछ आलोचकों का कहना है कि भाषा का साम्य केवल इसीलिए नहीं हो सकता कि उसके भाषा भाषी एक ही जाति के हों। किसी एक स्थान पर दो विभिन्न जातियाँ रह सकती हैं और उनमें भाषा सम्बन्धी साम्य हो सकता है। भाषा सम्बन्धी साम्य के आधार पर योरप को आर्यों का आदि देश मानने वालों का यह तर्क है कि भारोपीय (इन्डोयोरोपियन) भाषाएँ काफी अधिक संख्या में योरप के सीमित क्षेत्रों में ही पाई जाती हैं। योरप के बाहर या बहुत दूर इनका प्रयोग नाममात्र का ही है और केवल [illegible] रूप में कहीं इनके मुहाविरे बिखरे-से हैं।

योरप के विभिन्न भागों को आर्यों का मूल स्थान मानने वालों के तर्कों का विस्तृत वर्णन नीचे किया जायगा।

हंगरी का मैदान, दक्षिणी रूस तथा जर्मनी आदि को यह [illegible] भूमि विद्वानों द्वारा घोषित किया गया है। हंगरी के मैदान के समर्थक डा० पी० गाइल्स हैं। इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (Cambridge History of India) में लिखा है —

उनकी भाषा से हमें ज्ञात होता है कि [illegible] पशुओं [illegible] ज्ञात था। [illegible]

वे लोग पर्याप्त समय तक एक स्थान पर एक साथ रहे होंगे जिससे कई पीढ़ियों तक वे अपने विशेष गुणों में विकास लाते रहे। यह क्षेत्र गिरि-शृङ्खला अथवा जल द्वारा अन्य स्थानों से पृथक कर दिया गया होगा। इन भाषाओं के अध्ययन से हमें यह आभास नहीं मिलता कि यह लोग किसी द्वीप पर रहते रहे होंगे। यह भी सन्देहात्मक है कि समुद्र के लिए उन्हें किसी शब्द का बोध भी था। अतः यह असम्भव नहीं कि वह स्थान समुद्र से परिवेष्ठित हो। इनकी भाषाओं के अध्ययन से यह ज्ञात हो जाता है कि इन्हें किन-किन वृक्षों का ज्ञान था। ये वृक्ष शीतोष्ण कटिबन्ध में उत्पन्न होते हैं। अतः आर्यों का आदि देश शीतोष्ण कटिबन्ध में रहा होगा। वह पर्वतमालाओं से भी घिरा रहा होगा। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि किन फलों का उन्हें ज्ञान था। यह बहुत सम्भव है कि आर्य लोग स्थाई रूप से एक स्थान पर निवास करते थे। जिन पशुओं का उन्हें ज्ञान था वे बैल, गाय, भेंड़, घोड़ा, कुत्ता, सुअर, हिरन इत्यादि थे। गधे, खच्चर तथा हाथी से वे अपरिचित थे। जंगली पशुओं में उन्हें भेड़िया तथा भालू का ज्ञान था किन्तु बाघ अथवा सिंह से वे अपरिचित थे। बत्तख तथा गिद्ध को भी वे जानते थे। ये लोग खाद्यान्न, विशेषतः गेहूँ तथा जौ का प्रयोग जानते थे। योरप में कोई ऐसा अन्य प्रदेश नहीं है जहाँ ये सारी बातें प्राप्त हों केवल हंगरी का मैदान ही ऐसा एक क्षेत्र है। इसके पूर्व में कारपेथियन पर्वत माला है। दक्षिण में बाल्कन, पश्चिम में आस्ट्रियन, आल्प्स तथा बोहमरवाल्ड और उत्तर में एरजबर्ग तथा अन्य पर्वत मालाएँ हैं जो कारपेथियन से मिल जाती हैं। यह क्षेत्र बड़ा उपजाऊ है तथा इस मैदान में खाद्यान्नों के पौधे पाये जाते हैं। यहाँ घास के मैदान भी हैं जहाँ घोड़े पाले जा सकते हैं। पर्वत की उपत्यकाओं में भेड़ों के लिए काफी सुविधाएँ हैं। सुअर भी यहाँ मिलते हैं। इसी प्रकार प्राचीन आर्यों के ज्ञात वृक्ष भी यहाँ पाये जाते हैं। अतः यही क्षेत्र आर्यों का आदि देश रहा होगा।

कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि आर्यों का आदि देश जर्मनी या जर्मनी प्रदेश में कहीं था। इन विद्वानों में पेन्का महोदय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पेन्का महोदय ने स्कैन्डिनेविया को आर्यों का आदि देश निश्चित किया है। अपने मत के समर्थन में इन्होंने जाति सम्बन्धी विशेषताओं का आधार लिया है। पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर पेन्का के समर्थकों ने आर्यों का आदि देश पश्चिमी बाल्टिक समुद्र बतलाया है। इन समर्थकों का कथन है कि पूर्व पाषाण युग समाप्त हो जाने के पश्चात जो युग आरम्भ होता है उस युग के मनुष्यों की निर्मित अनेकानेक वस्तुएँ यहाँ प्राप्त हुई हैं। ध्वसावशेषों के आधार पर मध्य जर्मनी को भी आर्यों का आदि देश माना गया है। यहाँ जो पात्र प्राप्त हुये हैं उनके ज्योमितिक रेखा चित्र ठीक इन्डोयोरोपीय जान पड़ते हैं।

आर्यों के आदि देश की समस्या सुलझाते हुए विद्वानों ने योरप के दक्षिणी भाग को आर्यों का मूल बतलाया है। निश्चय ही यहाँ की भूमि उपजाऊ है, यह शीतोष्ण कटिबन्ध में पड़ता है और इस सम्बन्ध में उन्होंने यह भी तर्क उपस्थित किया है कि योरप का दक्षिणी भाग ही उन स्थानों के निकट है जहाँ विभिन्न योरोपीय आर्यों की शाखाएँ-प्रशाखाएँ निवास करती हैं। इतना ही नहीं एशिया की अपेक्षा योरप में आर्यों की संख्या अधिक है, अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि योरप के

दक्षिणी मैदान मे ही कहीं आर्यों का आदि देश है। स्थानान्तरण की सम्भावित सुविधाओं की ओर लक्ष्य करते हुये इस मत के समर्थकों का कथन है कि यहाँ बड़े बड़े गहन जगल, मरुभूमि तथा पर्वत-मालाएँ नहीं है। अतः यहाँ से पूर्व की ओर स्थानान्तरण सरल है। अपने मत की पुष्टि मे इन्होने दूसरा प्रमाण यह दिया है कि पर्यटन प्रायः पश्चिम से पूर्व को हुए है, पूर्व से पश्चिम को पर्यटन नहीं हुये हैं।

आदि देश मध्य एशिया—यह मत भी काफी मान्यता पा चुका है। प्रो० मैक्स मूलर इस मत के प्रचारक हैं। अपने मत के समर्थन मे इन विद्वानो ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि आर्य जाति की सभ्यता एव संस्कृति का बोध हमें वेद तथा अवेस्ता से होता है। वेद भारतीयो (भारतीय आर्यो) का तथा अवेस्ता ईरानियो का आदि धार्मिक ग्रन्थ है। ईरान तथा भारत के समीप ही कोई भू-भाग आर्यों का आदि देश रहा होगा, क्योंकि इन दोनो ग्रन्थों मे पर्याप्त साम्य है। एक लेखक का तो यहाँ तक कथन है कि 'केवल एक-आध शब्द या वाक्य खण्ड ही नहीं वरन् एक सम्पूर्ण पद्यांश को शब्दावली परिवर्तित किए बिना ही भारतीय भाषा से ईरानी भाषा मे लाया जा सकता है। इतना निकट साम्य यह निश्चयपूर्वक सिद्ध करता है कि ये दो विभिन्न देश के निवासी कभी बहुत दिनों तक एक ही स्थान पर रहे होंगे और तब कालान्तर मे कुछ कारण वश स्थानान्तरण कर गए होगे।' भारत तथा ईरान के बीच ही कहीं इनका आदि देश बताकर इन विद्वानो ने आर्यों के स्थानान्तरण के विषय मे यह कहा है कि यहीं से आर्यों के तीन जत्थे चले। एक जत्था भारत को, दूसरा ईरान को तथा तीसरा योरप को चला। इन विद्वानो ने भी आर्यों की परिचित वस्तुओं तथा उनके ग्रन्थो के आधार पर अनुमानित जलवायु से युक्त भूमि को आर्यो का मूल सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्हे मध्य एशिया ही ऐसा स्थान प्रतीत होता है जहाँ ये सारी वस्तुएँ हैं। उनका तर्क इस प्रकार है—कृषि-कर्म तथा पशु-पालन आर्यों का प्रमुख व्यवसाय था। इन दोनो कार्यों के लिए लम्बे-चौड़े मैदानों की आवश्यकता है। अपने वर्ष की गणना आर्य हिम से करते थे। इसका अर्थ यह है कि य किसी शीत प्रधान देश मे रहते थे। किन्तु बाद मे वे ही आर्य वर्ष की गणना शरद स करने लगे जिससे यह परलक्षित होता है कि ये लोग दक्षिण की ओर बढ़ गये जहाँ अपेक्षाकृत कम ठढक पड़ती है। नावो का प्रयोग वे जानते थे, इसका यह अर्थ है कि वह भाग झीलो तथा नदियो से युक्त रहा होगा। वे घोड़ो से भी परिचित थे उसका प्रयोग वे सवारी मे करते थे। पीपल के पेड़ से वे परिचित थे किन्तु आम तथा बरगद से वे अपरिचित थे। इन सारी वस्तुओं की प्राप्ति मध्य एशिया मे ही सम्भव है अत यही देश आर्यो का आदि देश रहा होगा। यहीं से स्थानान्तरण करके शक हूणादि जातियाँ भी भारत आई थी। इतना ही नहीं इन विद्वानो ने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यहाँ से भारत, ईरान तथा योरप को जाना सरल है।

पामीर प्रदेश या रूसी तुर्किस्तान को आर्यों का आदि देश मानने वालो का कथन है कि लघु एशिया मे बोगाजकोई मे कुछ सन्धि-पत्रो के अभिलेख प्राप्त हुए हैं इन अभिलेखो मे वैदिक देवताओ—इन्द्र, वरुण, मित्र आदि के रूपान्तरित नाम प्राप्त हुए हैं। पामीर प्लेटो के आस-पास आर्यों का आदि देश मानने के कुछ प्रमाण इस मत के समर्थको ने इस प्रकार दिए हैं —

योरोपीय भाषाओं में हिट्टाइट प्राचीनतम भाषा है। लगभग १६०० ई० पू० में कैपेडोशिया के रहने वाले हिट्टी भाषा-भाषी थे। गोरजे का ऐसा विचार है कि हिट्टाइट लोगों ने लगभग १६५० ई० पू० में कैपेडोशिया पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था और करीब-करीब इसी समय इन्डो-ईरानी लोग भी पामीर प्रदेश या तुर्किस्तान में पहुँच चुके थे। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्यों का आदि देश कैपेडो-शिया तथा मध्य एशिया से समान दूरी पर ही स्थित रहा होगा। भारत तथा पश्चिमी योरप आर्यों का आदि देश नहीं हो सकता है। किन्तु यहाँ हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि आर्यों का आदि देश काफी हरा-भरा था और आर्य जाति कृषि-कार्य करती थी। इसी आधार पर डा० पी० गाइल्स ने कहा है कि इतना उजाड़-खण्डहर प्रदेश, जैसा कि पामीर प्रदेश है, आर्यों का आदि देश कदापि नहीं हो सकता।

उपरोक्त विवरण से हमें ज्ञात होता है कि डा० पी० गाइल्स, मेयर आदि विद्वानों ने एशिया में ही कहीं आर्यों का आदि देश ढूँढ़ने का प्रयास किया है। किन्तु इस सिद्धान्त के आलोचकों का यह कथन है कि जब हम जानते हैं कि आर्यों के आदि देश में जल का बाहुल्य था और उनकी मातृ-भूमि नितान्त उर्वरा थी तो मध्य एशिया जैसे अल्प जल वाले तथा कम उर्वरा भूमि को किस प्रकार आर्यों का आदि देश मान सकते हैं। यही नहीं यदि आर्यों का आदि देश मध्य एशिया में कहीं था तो फिर अपनी मातृ-भूमि में ही आर्य लोग इतनी कम संख्या में क्यों रह गये और भारतीय आर्यों के आदि ग्रन्थ वेद में मध्य एशिया का कोई संकेत क्यों नहीं है? मध्य एशिया को आर्यों का आदि देश मानने वालों ने उसकी वाञ्छनीय प्राकृतिक दशा के अभाव-सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर दिया है कि मध्य एशिया का यह भौगोलिक परिवर्त्तन आर्यों के स्थानान्तरण के पश्चात् हुआ।

आर्कटिक प्रदेश आर्यों का आदि देश—वेद के आधार पर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने उत्तरी ध्रुव को आर्यों का आदि देश बतलाया है। उनका कहना है कि वेदों में ऐसे उल्लेख आये हैं जो उत्तरी ध्रुव को आर्यों का आदि देश मानने में सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ वेदों से हमें पता चलता है कि आर्यों को यह ज्ञान था कि एक लम्बे दिन और एक लम्बी रात का एक वर्ष होता है तथा कई दिनों का प्रातःकाल होता है। 'कई दिनों का प्रातःकाल' यह स्पष्ट बतलाता है कि वहाँ अधिकाधिक तुषारपात होता रहा होगा। प्रारम्भ में उत्तरी ध्रुव प्रदेश तुषारावृत्त था। एक तुषारपात का वर्णन हमें वेद-सा प्रामाणिक ईरानी ग्रन्थ अवेस्ता से मिलता है और इसी तुषारपात के कारण ईरानी आर्यों को अपनी जन्म-भूमि से स्थानान्तरण करना पड़ा था। लगभग ८००० ई० पू० तक आर्य यहीं उत्तरी ध्रुव प्रदेश में ही रहे और तत्पश्चात् उन्होंने वहाँ से स्थानान्तरण किया और ६००० ई० पू० के लगभग इनकी एक शाखा मध्य एशिया में आकर बस गई थी। इस प्रकार तिलक जी ने मध्य एशिया के सिद्धान्त वालों के आँसू पोंछते हुए अपने एक नये मत का प्रतिपादन किया है। पर इनका मत अधिकांश विद्वानों को अस्वीकार है।

भारत आर्यों का आदि देश—कुछ विद्वान प्राचीन आर्यों का आदि देश योरप, मध्य एशिया आदि न मानकर भारत को ही बतलाते हैं। ध्यान रहे कि ...

आदि देश बताने वाले अधिकाश विद्वान् भारतीय है और यह कहना अनुचित न होगा कि यहाँ उन विद्वानो के तर्क के पीछे आत्ममोह की एक हल्की पृष्ठभूमि है, फिर भी इनका तर्क बहुत कुछ बुद्धियुक्त एव गम्भीर ज्ञात होता है। इन विद्वानो मे श्री अविनाश चन्द्र दास, श्री गगानाथ झा, श्री डी० ए० त्रिवेदी तथा डा० एल० डी० कल्ला का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वेद मे 'सप्तसिन्धव' का गुणगान यत्र-तत्र किया गया है। अत यही भूमि-आर्यों का आदि देश रही होगी। पुराण तथा ईरानियो के धार्मिक ग्रन्थो के सम्मिलित अध्ययन से भी यह पता चलता है कि कोई सग्राम (पुराणो का देवासुर सग्राम) दो जत्थो के बीच हुआ। इस युद्ध मे पुराणो के अनुसार देवताओ ने असुरो को खदेड़ दिया। अवेस्ता मे भी इसी प्रकार का विवरण है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ आर्यों के आदि देश के सम्बन्ध मे कौन-कौन से मत प्रचलित हैं? किसी एक का सविस्तार वर्णन कीजिये।

२ आर्यों के मूल के विषय मे आप जो कुछ जानते हो लिखे।

३ क्या आर्य भारत के आदि निवासी थे?

४ आर्यों का मूल निवास-स्थान मध्य एशिया मे था। इस मत के समर्थन मे आप क्या तर्क दे सकते हैं?

५ आर्यों की आदि भूमि योरप बताने वालो के तर्कों का उल्लेख करते हुए उनका खण्डन या समर्थन कीजिये?

अध्याय ५

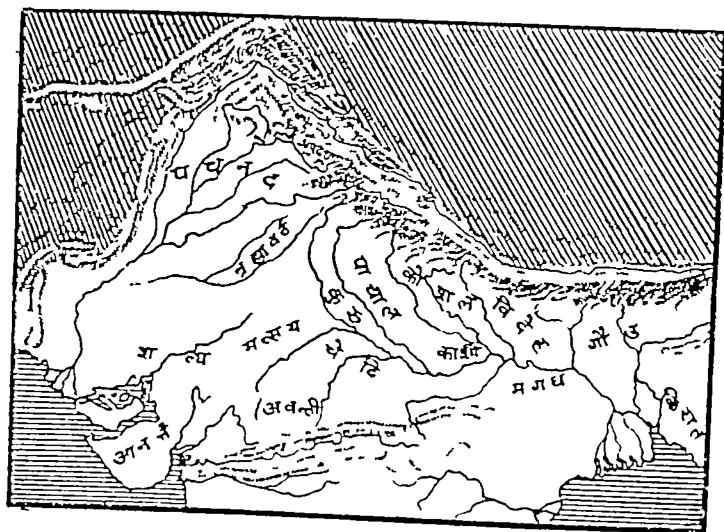
ऋग्वैदिक काल की सभ्यता

ऋग्वेद से ऐसा ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम भारतीय आर्य अफगानिस्तान तथा पंजाब में बसे थे। अफगानिस्तान में बसने का प्रमाण यह है कि काबुल, स्वात, कुर्रम तथा गोमल का उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है। पंजाब की पाँचों नदियों का उल्लेख ऋग्वेद के मन्त्रों में बार-बार किया गया है। वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चेनाब), परुष्णी (रावी), विपाशा (व्यास), और शुतुद्री (सतलज)। सिन्धु तथा सरस्वती का भी उल्लेख आया है। पंजाब में इनके निवास करने का एक दूसरा प्रमाण यह है कि यमुना का प्रयोग तीन बार और गंगा का केवल एक बार किया गया है। इसी प्रकार गंगा के पूर्व की नदियों का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं किया गया है। खाद्यान्नों में चावल का भी उल्लेख नहीं है क्योंकि यह पूर्व में उत्पन्न होता है। इसी तरह जानवरों में बाघ का संकेत नहीं है क्योंकि यह भी पूर्व का पशु है। अतः ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि आर्य प्रारम्भ में पंजाब में बसे थे और तब वहाँ से उन्होंने भारत के शेष भागों का आर्य-करण किया। इस आर्य-करण में आर्यों को अनार्यों से घोर संघर्ष करना पड़ा। इसका वर्णन ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। अनार्य अपेक्षाकृत कम थे यह हमें भली-भाँति ज्ञात है। अतः इनके रण-सम्बन्धी अस्त्र-शस्त्र भी दुर्बल एवं अपरिष्कृत थे। इनको रण-विद्या एवं सैनिक संगठन का भी बोध नहीं था। सभ्य आर्यों को इन्हें पराजित करने में कठिनाइयाँ अवश्य पड़ी पर धीरे-धीरे वे इन पर विजय पाते गये और इसी गति से अपना प्रसार भी दक्षिण की ओर करते गये। सर्वप्रथम सरस्वती तथा दृशद्वती नदियों के भू-भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित करके आर्यों ने इसका नामकरण ब्रह्मावर्त्त किया। आशा है कि ब्रह्मावर्त्त में ही ऋग्वेद के पर्याप्त अंशों की रचना की गई होगी। ब्रह्मावर्त्त पर अपना अधिकार स्थापित कर लेने के पश्चात् उनका रण-प्रयाण आगे को हुआ और उन्होंने अनार्यों की भूमि को छीन कर उसका नाम ब्रह्मर्षि रक्खा। ब्रह्मर्षि की स्थापना के पश्चात् आर्यों ने मध्य प्रदेश की स्थापना की और जब सम्पूर्ण भारत पर इनका अधिकार हो गया तो इसका नामकरण उन्होंने आर्यावर्त किया।

ऋग्वेद—ऋग्वेद में कुल दस मण्डल हैं। इन दसों मण्डलों में कुल १०२८ मंत्र हैं। प्रथम ६ मण्डल प्राचीनतम हैं और दसवें मण्डल की रचना बाद में हुई।

ऋग्वेद की तिथि—मैक्समूलर महोदय ने वैदिक एवं लौकिक संस्कृत की तुलना ग्रीक भाषा के अन्तरों के आधार पर करके यह सिद्ध किया है कि ऋग्वेद की रचना १२०० १००० ई० पू० के लगभग हुई थी। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जैकोबी ने ज्योतिषशास्त्र के प्रमाणों के आधार पर ऋग्वेद का समय लगभग ४००० ई० पू० माना है। इसी प्रकार श्री बालगंगाधर ने भी ज्योतिष के आधार पर यह समय ८००० ई० पू० बतलाया विन्टरनित्स के मतानुसार यह तिथि २५०० ई० पू० हो सकती है।

के आधार पर इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ऋग्वेद की रचना १५०० ई० पू० से १२०० ई० पू० के भीतर या सम्भवत: इससे भी पहले हुई होगी।



चित्र ६ —वैदिक भारत

आर्यों का राजनीतिक उत्कर्ष

ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि आर्यों के कई दल थे। इन दलों में भारत, अनुस, मत्स्य, द्रुह्यु, तुर्वसु, यदु, पुरु आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मवर्त्त में भरत, आधुनिक जयपुर, अलवर, भरतपुर राज्य में मत्स्य, पंजाब में अनुस तथा द्रुह्यु, दक्षिण पूर्व में तुर्वसु, पश्चिम में यदु तथा सरस्वती नदी के आस-पास की भूमि में पुरु दल वाले निवास करते थे। इन विभिन्न दलों में महत्ता के लिए संघर्ष अनिवार्य था। 'दस राजाओं का युद्ध' उत्तर पश्चिम में पहले के बसे हुए लोगों तथा ब्रह्मवर्त्त के बाद के बसे हुए लोगों में हुआ। ऐसी सम्भावना है कि इस युद्ध में सम्पूर्ण ऋग्वैदिक भारत (अनार्यों समेत) सम्मिलित था। विश्वामित्र की मंत्रणा से दस राजाओं का एक संघ बनाया गया ताकि भरतों के राजा सुदास पर आक्रमण किया जाय। संघ का निर्माण तो हो गया पर भरतों के राजा सुदास ने इसे पराजित कर दिया। पूर्व में भी सुदास को संघर्ष करना पड़ा था। भेद की अध्यक्षता में अजा, शिग्रु तथा यक्षु ने सुदास पर आक्रमण किया था किन्तु सुदास ने इन्हें भी यमुना के निकट पराजित कर दिया। इस प्रकार सुदास ने अपनी विजयों द्वारा अपना प्रभुत्व सम्पूर्ण ऋग्वैदिक भारत पर स्थापित कर लिया। पुरोहित का विवाद ही युद्ध का कारण था।

ऋग्वेद में वर्णित अनार्य—ऋग्वेद में अनार्यों की जो रूप रेखा दी गई है उस पर भी एक विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में इन

अनार्यों की भर्त्सना की गई है। इन्हें दास, दस्यु या असुर कहा गया है। पिशाच तथा राक्षसों का उल्लेख भी ऋग्वेद में आया है।

पर अनार्यों को हमे पूर्णतया असभ्य नहीं मान लेना चाहिए। ऋग्वेद पर ध्यान देने से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने रहने के लिए मकान बनाये थे जिन्हें आर्यों ने जला दिये। दासों और दस्युओं के अपने नगर थे जिनके विनाश की प्रार्थना आर्यों ने बार-बार इन्द्र से की है। इसी प्रकार युद्ध के लिए वे सेनाएँ भी रखते थे और किलों का निर्माण करके उनमें अपना खजाना रखते थे।

आर्यों-अनार्यों का संघर्ष पर्याप्त समय तक चलता रहा। अन्त में अनार्यों ने दस्यु या दास जाति वालों (अनार्यों) को बुरी तरह पराजित कर दिया। युद्ध में काम आने के पश्चात् बहुत अधिक संख्या में दस्यु या दास जाति बच गई। इन शेष लोगों को विवश होकर या तो आर्यों से कहीं बहुत दूर जगल-गिरि-कन्दराओं की शरण लेनी पड़ी या तो उन्हीं की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। फलत. इस दस्यु या दास जाति के इतने अधिक लोग गुलाम बनाये गये कि दास शब्द का अर्थ ही गुलाम हो गया। इनके नेताओं का वध कर दिया गया होगा।

आर्यों की सामाजिक अवस्था

आर्य-अनार्य-संघर्ष, आर्य-आर्य-संघर्ष आदि के पश्चात् आर्यों के समाज की जो रूप-रेखा तैयार हुई वास्तव में यही उनकी विकसित सामाजिक व्यवस्था थी। इसके पूर्व जो सामाजिक व्यवस्था आर्यों ने निर्मित की थी वह अब तक काफी परिवर्तित हो चुकी थी। प्रारम्भ मे केवल आर्यों का ही समाज में हाथ था पर कालान्तर मे अनार्यों को भी इसमें स्थान दिया गया।

आर्य वर्ग—यद्यपि ऋग्वैदिक काल मे सम्पूर्ण आर्य वर्ग एक था, उनमें खान-पान, रोटी-बेटी का निकटतम सम्बन्ध था, उनमे उद्यम-व्यवसाय की पूर्ण स्वतन्त्रता थी, जैसा की एक ऋषि स्वय कहता है कि 'मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता पिसनहारी है. मैं कविता करता हूँ' तथापि सामाजिक विकास के सिद्धान्त में ही कुछ ऐसे मूल तत्व होते हैं जो समाज के वर्गीकरण के कारण बनते हैं।

'विराट.पुरुष' द्वारा चार वर्गों की उत्पत्ति का विवरण हमें पुरुषसूक्त (ऋग्वेद के दसवें मण्डल) से प्राप्त होता है। आर्यों की धार्मिक दशा के सम्बन्ध में अगले पृष्ठों मे पढ़ने से ज्ञात होगा कि इनके धार्मिक कृत्य इतने जटिल थे कि इनके लिए बहुत अधिक लोगों की आवश्यकता थी। वैदिक मत्रो के स्पष्टीकरण के लिए भी कुछ विद्वानों की आवश्यकता थी। अस्तु एक पुरोहित वर्ग बनने लगा जो ब्राह्मण कहलाया। यद्यपि इन्हें वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी किन्तु ये अन्य वर्गों से कन्याएं लेना बहुधा हेय समझते थे और सवर्गीय वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने में इन्हें विशेष सुविधा भी पड़ती थी। अब ब्राह्मण वर्ग की दशा पर भी थोड़ा विचार किया जायगा। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं से यह ज्ञात होता है कि उन्हें समाज में काफी आदर मिलता था और उनका पद काफी ऊँचा था। पुरोहितों को दान रूप सिक्के, आभूषण, वस्त्र, रथ, आदि देने का भी उल्लेख किया गया है। ब्राह्मणों के पुरोहित रूप के अतिरिक्त उनके

वीर रूप का भी हमें बोध होता है। विश्वामित्र तथा वशिष्ठ आदि ऋषियों ने अस्त्र-शस्त्र ग्रहण किया था।

अब हम आर्यों के दूसरे महत्वपूर्ण वर्ग पर प्रकाश डालेंगे। जिस प्रकार धार्मिक आवश्यकताओं ने आर्यों में ब्राह्मण वर्ग को जन्म दिया उसी प्रकार सैनिक आवश्यकताओं ने क्षत्रिय वर्ग का उदय किया। सैनिक शिक्षा की व्यवस्था भी सुचारु रूप से सैनिक पिता के पुत्र को ही मिल सकती थी। क्षत्रिय होना इतना महान् समझा जाता था कि कुछ अन्य वर्ग वाले भी क्षत्रिय होने का दावा करते थे।

इन दो प्रमुख वर्गों के अतिरिक्त कुछ अन्य वर्ग भी थे जिनके विषय में हमें ऋग्वेद संकेत मात्र करता है। ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डल (जिनका रचना-काल दसवें मण्डल के पूर्व माना जाता है) हमें अन्य किसी वर्ग का बोध नहीं कराते। इनसे हमें केवल इतना ज्ञात होता है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के पश्चात् शेष आर्य जनता को 'विश' कहा जाने लगा। जैसा कि बताया जा चुका है ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डल प्राचीनतम हैं और फिर उनके बाद दसवें मण्डल की रचना हुई। इसी दसवें मण्डल से हमें यह ज्ञात होता है कि विराट पुरुष से चार जातियों का जन्म हुआ। ध्यान रहे कि ये चार जातियाँ वही हैं जो उत्तर वैदिक काल, महाकाव्य काल आदि से लेकर आज तक हिन्दू समाज में बनी हैं। इस प्रकार जातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) की इस दैवी उत्पत्ति का उल्लेख ऋग्वेद के इस मण्डल (पुरुष सूक्त) में प्राप्त होता है जो अपेक्षाकृत बाद का है। यहाँ यह भी स्मरण रहे कि ऋग्वेद में कहीं भी वैश्य शब्द नहीं आया है। वैश्यों का कार्य-क्षेत्र बहुत विकसित था। ब्राह्मणों के पूजा-पाठ तथा क्षत्रियों के सैनिक कार्य में लग जाने के पश्चात् अब यही एक ऐसा वर्ग बच गया जिस पर समाज की आर्थिक व्यवस्था आधारित थी। शूद्रों को तो 'चरण' से उत्पन्न होने के कारण चरण सेवा से फुर्सत न थी, अतः उत्पादन तथा वितरण का कार्य वैश्यों पर आ गया। दासों का उप-वर्ग इन्हीं शूद्रों में से एक था। ये अनार्य थे और या तो युद्ध के बन्दी थे या अन्य प्रकार से आत्म-समर्पण किये हुए व्यक्ति थे।

पारिवारिक जीवन—आर्य कुटुम्ब पितृसत्तात्मक था पर साथ ही नारी सम्मानयुक्त थी। पिता या पितामह ही कुटुम्ब का प्रधान होता था जिसे गृहपति कहते थे। गृहपति की प्रधानता घर के अन्य व्यक्ति मानते थे। गृहपति से वीरता तथा उदारता की आशा की जाती थी। गृहपति की पत्नी का भी कुटुम्ब के अन्य सदस्यों पर उसी प्रकार अधिकार था। [illegible] सन्तान को गृहपति जहाँ एक ओर [illegible] पालन [illegible] करता था वहाँ [illegible] सन्तान को वह कठोर दण्ड भी देता था। गृहपति का पद वंशानुगत था और पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र [illegible] था। पिता की सम्पत्ति का [illegible]

समाज और नारी—[illegible]

भी शिक्षित किया जाता था। उनके विदुषी होने के उदाहरण ऋग्वेद में रचित उनकी रचनाएँ हैं। विद्या के क्षेत्र में वे पुरुषों से किसी प्रकार पीछे न थीं। रणक्षेत्र में भी वे कम कौशल नहीं दिखलाती थीं।

इस सम्बन्ध में हमें वैवाहिक प्रथाओं पर भी विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि नारियों की दशा की उच्चता या हीनता अधिकांशत इसी पर आधारित होती है। आदर्श ब्याह केवल एक ब्याह करना था। शादी तय हो जाने के पश्चात् बड़ी धूम से वैवाहिक-प्रथायें पूरी की जाती थीं। वर-पक्ष के लोग सज-धज कर वधू के घर जाते थे जहाँ उनका पूर्ण स्वागत होता था। पुरोहित शुभ समय एवं मुहूर्त में वर-वधू का पाणि-ग्रहण कराता था और तत्पश्चात् वर-वधू अग्नि की परिक्रमा करते थे। पाणिग्रहण के पश्चात् बहुत ही विराट उत्सव होता था।

ऋग्वेद में अनेक ब्याह का भी वर्णन प्राप्त होता है और राजा-महाराजा या सम्मानित पुरोहित कभी-कभी अनेक ब्याह कर लेते थे।

नारी जीवन का दूसरा अभिशाप वैधव्य है। जिस समाज में विधवाओं को ब्याह करने की अनुमति नहीं दी जाती है उसमें न केवल नारियों के साथ अन्याय किया जाता है वरन् समाज में दुराचार का विष बोने का जान-बूझकर प्रयास भी किया जाता है। ऋग्वेद के कुछ मंत्रों से विधवा-जीवन का कारुणिक दृश्य तथा उनसे सम्बन्धित क्रियाओं का बोध होता है। एक मंत्र में इस प्रकार का वर्णन है —

"उठो स्त्री! तुम उसके पास पड़ी हो जिसका जीवन समाप्त हो चुका है। अपने पति से दूर हटकर जीवितों के संसार में आओ और उसकी पत्नी बनो जो तुम्हारा हाथ पकड़ता है और तुमसे ब्याह करने को तैयार है।" उक्त मंत्र से यह ज्ञात हो जाता है कि विधवा-विवाह की प्रथा प्रचलित थी किन्तु पति के शव के पास श्मशान में बैठी हुई नव-विधवा से तुरन्त उसी समय कोई वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने और हाथ पकड़ने को तैयार हो जाता है, यह वस्तु कुछ खटकनी है। खटकनी इसलिए है कि यह कार्य ठीक शव-दाह के समय होने जा रहा है। वास्तविकता जो भी हो—चाहे विधवा अपने पति की मृत्यु के शीघ्र पश्चात् ब्याह कर लेती हो या कुछ काल पश्चात् करती रही हो, पर विधवा-विवाह की मनाही नहीं थी।

दैनिक जीवन—दैनिक जीवन के अन्तर्गत हम आर्यों की वेश-भूषा, उनके रहन-सहन, खान-पान, आमोद-प्रमोद का अध्ययन करेंगे।

आर्य तीन प्रकार का वस्त्र धारण करते थे। पहला 'नीवी' (जो नीचे की धोती थी), दूसरा 'वास' और तीसरा 'अधिवास' था। ऊनी तथा सूती दोनों प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग ये भली भाँति जानते थे। धनवान सोने के काम के रंगीन वस्त्र धारण करते थे। उत्सवों पर वे विशेष वस्त्र धारण करते थे। ऐसे अवसरों पर वे 'सुनहरे आभूषण' भी पहनते थे। आभूषणों में कुण्डल, हार, अंगद, वलय, गजरे आदि मुख्य थे। नारियाँ सजावट शृङ्गार आदि में पूर्णतया परिचित ही नहीं थीं वरन् वे उसमें दक्ष भी थीं। वे अपने बालों को कंघी से सँवारती थीं और तेल (सम्भवतः सुगन्धित तेल) से उन्हें बनाती थीं कुछ पुरुष भी बड़े बड़े बाल रखते थे और उन्हें सँवारते थे। दाढ़ी रखने की प्रथा भी प्रचलित थी।

आर्यों के भोजन में दूध का महत्वपूर्ण स्थान था। दही तथा घृत, का भी ये लोग भली-भाँति उपयोग करते थे। 'क्षीर पक्वम्-ओदकम्' (दूध में पका हुआ अन्न) का भी प्रयोग ये किया करते थे और एक प्रकार का पनीर भी पीते थे। ये रोटियाँ और चावल, घी के साथ खाते थे। ये मांसाहारी भी थे और सम्भवत बलि में मारे गये पशुओं, भेड़ बकरों का मांस खाते थे। गाय को इन्होंने 'अघन्य' घोषित कर दिया था अत. उसका वध नहीं किया जाता था। इनका सबसे मधुर पेय पदार्थ 'सोम' या सोमरस था।

आर्यों के आमोद-प्रमोद पर भी ऋग्वेद में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। रथ-दौड़, घुड़-दौड़, नृत्य तथा संगीत उनके आमोद-प्रमोद के प्रमुख साधन थे। जुआ खेलने की प्रथा भी प्रचलित थी। पुरुष तथा स्त्रियाँ दोनों नृत्य करते थे। वाद्य यंत्रों का भी सुन्दर प्रयोग ये भली-भाँति जानते थे।

आर्थिक व्यवस्था

जैसा कि अन्य सभी प्रारम्भिक सभ्य देशों में कृषि, गृह उद्योग धन्धे तथा छोटे-बड़े पैमाने पर व्यवसाय जीवनयापन के साधन रहे हैं, उसी प्रकार भारत में भी मनुष्यों का उद्यम कृषि, पशु-पालन, घरेलू-उद्योग-धन्धे तथा व्यापार था।

पशु-पालन—आर्यों की आर्थिक व्यवस्था का मूलाधार पशु पालन था। साँड तथा बैलों से हल जोतने का काम लिया जाता था। ये अन्नागार तथा खाद्यान्न ढोने तथा अन्य सामान ढोने के लिए गाड़ी खींचने के काम में भी लाये जाते थे। इनके अन्य पालतू पशुओं का उल्लेख हमें ऋग्वेद में प्राप्त होता है जिनमें भेड़, बकरी, गदहा तथा कुत्ते प्रमुख हैं। गोधन को वे 'सारे कल्याणों का जोड़' मानते थे। घोड़े का महत्व भी उन दिनों काफी था। ये रथ संचालन के काम में लाये जाते थे।

कृषि—पशु-पालन के पश्चात् कृषि का ही स्थान आता है। 'कृषि' को ऋग्वेद में काफी महत्व प्रदान किया गया है। कुछ इतिहासकारों का ऐसा मत है कि कृषि आर्यों का प्राचीनतम पेशा था। बैलों द्वारा हल जोता जाता था। उस समय आजकल की भाँति केवल दो बैलों से हल नहीं जोता जाता था अपितु ६, ८ या [illegible] बैलों तक का हल खींचने के काम में लाया जाता था। ये यव तथा धान्य की खेती करते थे। भली भाँति जुताई-बुआई करके तथा खाद द्वारा खेतों की उर्वरता बढ़ाकर और सिंचाई के समुचित साधन एकत्रित करके सुचारु रूप [illegible] अच्छी फसल तैयार करते थे।

आखेट—ऐसा ज्ञात होता है कि [illegible]

गृह-उद्योग या व्यवसाय—[illegible]

सोना प्राप्त किया जाता था। चर्मकार भी विभिन्न वस्तुएँ बनाता था। कनाई-बुनाई के कार्य में भी ये पूर्ण दक्ष थे। बिनाई का काम बहुधा स्त्रियाँ ही करती थीं।

व्यापार—उस प्राचीन युग में भारतीय आर्यों ने इस क्षेत्र में जो उन्नति की वह उनके सीमित साधनों को देखते हुए पर्याप्त थी। देशीय तथा अंतर्देशीय दोनों व्यापारों में ये लोग लगे हुए थे। उपरोक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वैदिक काल में आर्थिक विषमता न थी और लोग सुखमय जीवन बिताते थे।

धार्मिक अवस्था

ऋग्वैदिक काल भारतीय आर्यों का वह प्रभात काल है जब उन्होंने आध्यात्म जगत में प्रथम पदार्पण किया था। पर इस प्रारम्भिक काल में ही उन्होंने इतनी उन्नति कर ली थी कि उनकी मान्यताएँ, उनकी व्यवस्थाएँ आज तक अकाट्य हैं। निश्चय ही आध्यात्मिक क्षेत्र की इस महती उन्नति के पीछे शताब्दियों की शिक्षा और योग्यता है जिसके योग से आर्यों ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया। शिक्षा के अभाव में किसी भी विकसित धार्मिक अवस्था का होना असम्भव है। अतः हम सर्वप्रथम ऋग्वैदिक कालीन शिक्षा पर प्रकाश डाल लेना आवश्यक समझते हैं।

शिक्षा—अपनी विभिन्न क्षेत्रों में अर्जित थाती को सँजोये रखने के लिए शिक्षा की आवश्यकता प्रत्येक समाज को पड़ती है। उस प्राचीन काल में भी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना अनिवार्य था। विभिन्न प्राचीन सभ्य देशों से लगभग भिन्न शिक्षा-पद्धति भारत में प्रचलित थी। यहाँ प्रत्येक ब्राह्मण का घर ही पाठशाला तथा प्रत्येक ब्राह्मण शिक्षक था। ऋग्वेद में कहीं भी लिखने का उल्लेख नहीं किया गया है। वेद के मंत्र रटे जाते थे। ऋग्वेद में हमें कुछ ऐसा संकेत भी प्राप्त होता है जिससे पाठशाला की-सी कोई संस्था थी ऐसा अनुमान किया जा सकता है, क्योंकि एक स्थान पर यह बताया गया है कि विद्यार्थी दादुरों की भाँति पढ़ते थे।

देवता—ऋग्वैदिक काल की धार्मिक अवस्था का अध्ययन उनके देवताओं से आरम्भ करना ही अधिक सुगम होगा। अतः हम पहले उन पर ही प्रकाश डालेंगे। ऋग्वेद में कुल ३३ देवता माने गये हैं। इनमें सबसे श्रेष्ठ इन्द्र, अग्नि, तथा सोम हैं। इन्द्र के लिए २५०, अग्नि के लिए २०० तथा सोम के लिए १०० से अधिक मंत्र रचे गये हैं। द्यौ' और पृथ्वी को जगत्माता-पिता कहा गया है और ६ मंत्रों में इनका गुणगान है। इसी प्रकार वर्षा के देवता 'पर्जन्य' तथा परलोक के देवता 'यम' का भी उल्लेख तीन-तीन मंत्रों में किया गया है। प्राचीन सभी सभ्य देशों में सूर्य देव-पद पाता रहा है। भारत में भी इसको देवत्व प्राप्त हुआ और सम्भवतः अपेक्षाकृत अधिक ऊँचा स्थान दिया गया था। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य देवता भी अधिक महत्वपूर्ण थे। इनमें द्यौः की पुत्री तथा प्रभात की पुनीत देवी ऊषा प्रसिद्ध हैं जिनके लिए अनेक सुन्दर मंत्रों की रचना हुई थी। रुद्र का नाम भी इन देवताओं में विशेष उल्लेखनीय है। आगे चलकर ये शिव का रूप धारण कर लेते हैं। मरुत रुद्र के पुत्र माने जो अत्यन्त भयंकर और मतवाले थे। वायु और वात भी रुद्र की भाँति जीवन-दर्शक देवता थे।

उपरोक्त विवरण से हमें ऋग्वैदिक काल के मनुष्यों के ...

हो जाता है और इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि इनके धर्म में बहुदेववाद और प्रकृति-उपासना का समन्वय है।

किन्तु ऋग्वेद-काल में या यों कहें कि ऋग्वेद में एकेश्वरवाद की ओर जो स्पष्ट संकेत किया गया है वह भी इनकी आध्यात्मिक उन्नति की पराकाष्ठा है। इन सारे देवताओं के परे उन्होंने एक ऐसी शक्ति की कल्पना की है जो सर्वोपरि है और समस्त सृष्टि की जन्मदात्री है। वह सर्वोपरि शक्ति और कुछ नहीं ईश्वर है। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं से यह स्पष्ट हो जायगा—"सृष्टि-कर्त्ता वास्तव में महान् है, वही सबका सृजन तथा पालन करता है, सबके ऊपर उसी का अनुशासन है। भाग्यशाली लोग अपनी इच्छाओं की पूर्ति उस लोक में पाते हैं जहाँ पुरुष समर्थियों के परे निवास करता है।"

अपने देवताओं को प्रसन्न करने के लिए लोग प्रार्थनाएँ करते थे और दूध, घृत, सोमरस तथा अन्य खाद्यान्न चढ़ाते थे। यज्ञों की भी प्रधानता रही जो प्रत्येक घर में होता था।

नैतिक आदर्श—ऋग्वैदिक कालीन आर्यों के नैतिक आदर्श पर भी दृष्टि-पात कर लेना आवश्यक है। ऋग्वेद में नैतिक आदर्शों पर काफी जोर दिया गया है। नैतिक आदर्शों की महानता पर ही किसी धर्म की उत्तमता मान्य हो सकती है। कोरा दर्शन ही धर्म में सब कुछ नहीं। नैतिक आदर्श मानव मानव के निकटतम सम्बन्धों को सुन्दरतम बनाने में सहायक होते हैं। प्राचीन आर्यों में आतिथ्य सत्कार का बहुत बड़ा महत्व था। प्राचीन भारतीय सभ्यता के पोषक भारतीय ग्रामों में आज भी इसका काफी महत्व है।

राजनीतिक अवस्था

ऋग्वैदिक काल की राजनीतिक व्यवस्था को अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न-लिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं —

(१) कुटुम्ब (गृह या कुल),

(२) ग्राम,

लगा और ग्राम के अधिकारी को 'ग्रामणी' कहते थे। ग्रामणी की निर्वाचन-पद्धति क्या थी इस विषय पर कोई प्रकाश ऋग्वेद से नहीं पड़ता। अतः यह कहना कठिन है कि वह राजा द्वारा निर्वाचित होता था या उसका पद वंशानुगत था। पर इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसका पद काफी ऊँचा था और ग्राम-शासन-व्यवस्था का कर्णधार 'ग्रामणी' होता था। ऋग्वेद में कहीं-कहीं 'व्रजपति' आया है, पर यह सम्भवतः 'ग्रामणी' ही का पर्यायवाची है।

विश—"विश' के सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ऋग्वेद का विश कोई स्थानीय तहसील (Sub-division), परगना या कोई वर्ग विशेष था।" ऋग्वेद से यह ज्ञात होता है कि 'विश' कोई वर्ग विशेष था। विश का प्रधान 'विशपति' होता था।

जन—कई 'विश' मिलकर 'जन' बनते थे। 'जन' का प्रधान 'गोप' कहलाता था। ऋग्वेद में प्रसिद्ध 'पञ्चजन' का उल्लेख किया गया है। ये 'पञ्चजन' पुरु, तुर्वसु, यदु, अनुस तथा द्रुह्यु थे। प्रायः राजा ही जन का प्रधान अर्थात 'गोप' होता था।

राष्ट्र—देश के लिए 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे सत्तात्मक सरकार होने का अनुभव किया जाता है।

राजा—ऋग्वेद-काल के राजनैतिक विभाजन का अध्ययन कर लेने के पश्चात् उसकी शासन-व्यवस्था का अध्ययन करना सुगम है। राजा जो शासन-प्रबन्ध का कर्णधार होता है हमारी विवेचना का प्रमुख विषय होगा।

प्रारम्भ में हम राजा की उत्पत्ति पर प्रकाश डालेंगे।

राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण की कथा इस प्रकार है —

एक बार देवताओं और असुरों का युद्ध हुआ। युद्ध में असुरों की विजय हुई और देवताओं की पराजय। देवताओं ने कहा कि हम लोग 'अराजतया'-अर्थात् राजा न रखने के कारण पराजित हुये हैं। हम लोगों को अपना राजा बनाना चाहिए। इस प्रस्ताव को सबने स्वीकार किया।

तैत्तिरीय ब्राह्मण की कथा इस प्रकार है :

एक बार देवों और असुरों में युद्ध हुआ। प्रजापति ने अपने श्रेष्ठ पुत्र इन्द्र को इसलिए छिपा दिया कि कहीं असुर उसे मार न डालें। उधर कयाधु के पुत्र प्रह्लाद ने अपने पुत्र विरोचन को इसलिए छिपा दिया कि कहीं देव उसे मार न डालें। किन्तु देवों को ऐसा ज्ञात हुआ कि राजा के बिना युद्ध नहीं हो सकता था। अतः उन्होंने देव प्रजापति के पास जाकर कहा, "राजा के बिना युद्ध करना असम्भव है"। तत्पश्चात् यज्ञ करके उन्होंने इन्द्र से राजा होने की प्रार्थना की।

राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमें इसी अनुमान का सहारा लेना पड़ेगा कि अनार्यों से संघर्ष करने के लिए यह एक आवश्यकता थी।

राजा के उच्च स्थान का बोध हमें ऋग्वेद की ऋचाओं से होता है। पुरुओं का राजा त्रसदस्यु कहता है "...देवता मुझे वरुण के कार्यों में सम्मिलित करते हैं। मैं राजा वरुण हूँ, देवता मुझे वह शक्तियाँ देते हैं जिनसे असुरों का नाश होता है... मैं इन्द्र हूँ, मैं वरुण हूँ।" राजा की आज्ञा सर्वमान्य थी और जो लोग राजा की आज्ञा ...

मानते थे उनके साथ बल का प्रयोग किया जाता था। राजा न्यायाधीश के पद न्याय करता था, दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के मामलो का फैसला करता था और फौजदारी के मुकदमो मे वह एक विस्तृत विधान-संहिता का उपयोग करता था। राजा 'अदण्ड्य' था और प्रजा को अपराधो पर दण्ड देता था, इस कार्य मे वह गुप्तचरों से भी काम लेता था। जहाँ वह अपराधियो को दण्ड देता था वहीं वह दीन-दुखिया की सहायता भी करता था। राजा लोगो को उपहार भी दिया करते थे। एक स्थल पर यह कहा गया है कि जो राजा रक्षा चाहने वाले ब्राह्मण की सहायता करता है उसकी रक्षा देवता करते हैं।

शासन-प्रबन्ध पर प्रकाश डालने के पूर्व ऋग्वेद के दो शब्दों 'राजन्य' तथा 'सम्राट' पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। राजन्य का प्रयोग ऋग्वेद में बार-बार किया गया है। इसका प्रयोग दो अर्थों मे किया गया है— (१) जमींदार। (२) राजा। ऐसा ज्ञात होता है कि राजा के चारो ओर जमींदार (राजन्य) रहते थे जो राजा की प्रभुता को स्वीकार करते थे और साथ ही वे कुछ विषयो मे स्वतन्त्र रूप से भी शासन करते थे। इसी प्रकार सम्राट शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि कई राजा बड़े राजा की प्रधानता स्वीकार कर लेते थे और तब उसे सम्राट कहा जाता था। पर इस सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रामाणिक ढग से नहीं कहा जा सकता क्योकि तत्सम्बन्धी साक्ष्यों का सर्वथा अभाव है।

राजा के मन्त्री—शासन-कार्य चाहे जितना भी प्रारम्भिक रूप मे हो उसमे राजा के अतिरिक्त कुछ अन्य कर्मचारियो की आवश्यकता पड़ती है। ऋग्वेदिक काल मे भी राजा को सुन्दर शासन-व्यवस्था के लिए कुछ सहायको की आवश्यकता पड़ती थी। **पुरोहित** इनमे प्रधान था। पुरोहित का प्रभाव राजा पर अधिक रहता था। ऋग्वेद मे अग्नि का बड़ा पुरोहित तथा यज्ञ मे सहायक कहा गया है। उसका कार्यालय 'पुरोहती' और 'पुरोध' कहलाता था। पुरोहित राजा का 'अभिन्न मित्र, पथ प्रदर्शक, दार्शनिक तथा सहायक' होता था। वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि पुरोहितो का उल्लेख ऋग्वेद मे किया गया है। पुरोहितो का प्रमुख कार्य राज-परिवार के धार्मिक गुरु के रूप मे था पर वे राजा के साथ रण-क्षेत्र मे भी जाते थे जहाँ वे अपने मत्रो द्वारा राजा की शक्ति एव सुरक्षा की वृद्धि करने की प्रार्थना करते थे।

पुरोहितो के बाद **सेनानी** का पद आता है। यह भी राज्य का प्रमुख पदाधिकारी था। सेनानी सेनाध्यक्ष होता था। इसकी नियुक्ति सम्भवत राजा स्वय करता था।

कुछ अन्य पदाधिकारियो का भी उल्लेख ऋग्वेद मे किया गया है जिनमे ग्रामणी का स्थान प्रमुख है। **ग्रामणी** के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला जा चुका है। ग्राम शासन का सम्पूर्ण भार इसी पर था। **उर्पास्त** तथा **इभ्य** नामक पदाधिकारियो का भी उल्लेख किया गया है। कुछ समाचार-वाहक दूत तथा रक्षा के प्रबन्धो का भी वर्णन प्राप्त होता है जो अपने काम मे काफी कुशल एव बुद्धिमान तथा राजभक्त थे। इस प्रकार विभिन्न राज पदाधिकारियो से युक्त राजा शासन करता था।

सभा समिति—राजपदाधिकारियो के पश्चात् हमे उन संस्थाओं पर विचार कर लेना आवश्यक है जो स्वय राजा तक के निर्वाचन का अधिकार रखती थीं तथा प्र

अध्याय ६

उत्तर वैदिक काल

जिस 'ऋग्वैदिक काल' की सभ्यता का उल्लेख पिछले परिच्छेद में किया गया है वह आर्यों के भारत प्रवेश से लेकर ऋग्वेद की रचना तथा उसके पश्चात् तक की सभ्यता है। पर ऋग्वेद के पश्चात् जब कुछ अन्य महत्वपूर्ण धार्मिक ग्रन्थों की रचना हो जाती है तो इस काल की सभ्यता को ऋग्वेदिक काल की सभ्यता से पृथक करने का प्रश्न क्यों उठ खड़ा हो जाता है? क्या यह सर्वथा मौलिक, नवीन या कोई भिन्न सभ्यता है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर केवल यही है कि सभ्यता भिन्न नहीं है, सभ्यता के मूलभूत तत्व भिन्न नहीं हैं पर हाँ कुछ ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन-परिवर्धन अवश्य हो जाते हैं जो एक ही सभ्यता-धार को दो धाराओं में विभक्त-सा कर देते हैं। इस महान परिवर्तन को हम 'प्रगति' की संज्ञा दे सकते हैं। इसमें कुछ परिष्कार, कुछ संशोधन और साथ ही कुछ अन्धानुकरण भी है। अतः इसे हम किसी काल विशेष की सभ्यता न कहकर उत्तर वैदिक काल के ग्रन्थों में वर्णित सभ्यता कहें तो अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि वैदिक कालीन सभ्यता के समस्त परिवर्तन का बोध हमें इन्हीं ग्रन्थों से होता है।

भौगोलिक सीमा का प्रसार—ऋग्वैदिक काल की सभ्यता केवल पंजाब तक सीमित थी किन्तु अब आर्यों की अधीनता में भारत के अधिकांश भाग आ गए थे। कुरुक्षेत्र इस युग की सभ्यता का केन्द्र था। 'मध्य देश' भी इससे सम्बन्धित था। आधुनिक दिल्ली, उत्तर प्रदेश तथा बिहार की गणना मध्य देश में होती थी। यहाँ कुरु-पंचाल, वश तथा उशीनर आर्य समूह था। हिमालय तक कुरुओं के निकट उत्तर-मद्र थे। उत्तर बिहार में विदेह तथा पूर्वी बिहार में अंग थे। यमुना के किनारे सात्वत निवास करते थे। उनके उत्तर में केकय तथा बल्हीक का प्रभुत्व था। इन आर्य-समूहों के अतिरिक्त कुछ अन्य आदि समूह भी थे जिनमें शिवि, वैन, मत्स्य, हृव, विदर्भ आदि अधिक प्रसिद्ध थे। इस प्रकार सम्पूर्ण उत्तर भारत, मध्य भारत (विशेषतया पूर्वी भाग) तथा कुछ दक्षिणी भाग में आर्य फैल चुके थे। ऐतरेय ब्राह्मण में आन्ध्र जाति का भी उल्लेख आता है किन्तु ये अनार्य थे। पुण्ड्र, मूतिब, पुलिन्द तथा शबर आदि का भी उल्लेख प्राप्त होता है पर ये भी अनार्य थे।

कुरु-पाञ्चाल—ऊपर अनेक आर्य समूहों का उल्लेख किया गया है। इनमें से कुछ प्रमुख समूहों का विस्तृत अध्ययन कर लेना आवश्यक है। समस्त आर्य-समूहों में मध्य देश के कुरु पाञ्चाल अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी संस्कृति तथा सुन्दर भाषा की प्रशंसा शतपथ ब्राह्मण में की गई है।

कुरु राजा परीक्षित तथा जनमेजय के शासन-काल में कुरु प्रदेश चरमोन्नति को प्राप्त कर चुका था।

सेना में पैदल तथा रथ का अधिक महत्व था। रथों में दो, तीन या चार साहसी घोड़े लगाये जाते थे। ऋग्वेद में वर्णित अस्त्र-शस्त्र निम्नलिखित थे —

(१) धनुष-बाण, (२) कवच, (३) 'हस्तघ्न, तथा (४) अन्य अस्त्र-शस्त्र जैसे 'असि, (तलवार), भाला, बर्छा आदि।

ऋग्वैदिक काल की समस्त परिस्थितियों का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी अत्यन्त विशाल एवं सर्वोत्तम सभ्यता के लिए जिन मूल भूत तत्वों की आवश्यकता पड़ती है वे सारे तत्व ऋग्वैदिक कालीन सभ्यता में विद्यमान है, कुछ तो इतनी विकसित अवस्था में हैं कि उनमें कोई भी विकास या परिवर्तन हम आज तक नहीं कर सके।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ ऋग्वैदिक काल की सभ्यता का बोध कराने वाले ऋग्वेद के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ?

२ ऋग्वैदिक काल के समाज के विषय में आप जो कुछ जानते हों लिखें।

३ भारतीय आर्यों के प्रारम्भिक प्रसार पर प्रकाश डालते हुए उनके विभिन्न दलों का उल्लेख कीजिए। दस राजाओं के युद्ध के विषय में भी संक्षेप में प्रकाश डालिए।

४ ऋग्वैदिक काल की धार्मिक और आर्थिक अवस्थाओं के विषय में में आप क्या जानते हैं ?

५ ऋग्वैदिक काल के राजनीतिक संगठन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

अध्याय ६

उत्तर वैदिक काल

जिस 'ऋग्वैदिक काल' की सभ्यता का उल्लेख पिछले परिच्छेद में किया गया है वह आर्यों के भारत प्रवेश से लेकर ऋग्वेद की रचना तथा उसके पश्चात् तक की सभ्यता है। पर ऋग्वेद के पश्चात् जब कुछ अन्य महत्वपूर्ण धार्मिक ग्रन्थों की रचना हो जाती है तो इस काल की सभ्यता को ऋग्वैदिक काल की सभ्यता से पृथक करने का प्रश्न क्यों उठ खड़ा हो जाता है? क्या यह सर्वथा मौलिक, नवीन या कोई भिन्न सभ्यता है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर केवल यही है कि सभ्यता भिन्न नहीं है, सभ्यता के मूलभूत तत्व भिन्न नहीं हैं पर हाँ कुछ ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन-परिवर्धन अवश्य हो जाते हैं जो एक ही सभ्यता-धारा को दो धाराओं में विभक्त-सा कर देते हैं। इस महान परिवर्तन को हम 'प्रगति' की संज्ञा दे सकते हैं। इसमें कुछ परिष्कार, कुछ संशोधन और साथ ही कुछ अन्धानुकरण भी है। अतः इसे हम किसी काल विशेष की सभ्यता न कहकर उत्तर वैदिक काल के ग्रन्थों में वर्णित सभ्यता कहें तो अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि वैदिक कालीन सभ्यता के समस्त परिवर्तन का बोध हमें इन्हीं ग्रन्थों से होता है।

भौगोलिक सीमा का प्रसार—ऋग्वैदिक काल की सभ्यता केवल पंजाब तक सीमित थी किन्तु अब आर्यों की अधीनता में भारत के अधिकांश भाग आ गए थे। कुरुक्षेत्र इस युग की सभ्यता का केन्द्र था। 'मध्य देश' भी इससे सम्बन्धित था। आधुनिक दिल्ली, उत्तर प्रदेश तथा बिहार की गणना मध्य देश में होती थी। यहाँ कुरु-पंचाल, वश तथा उशीनर आर्य समूह था। हिमालय तक कुरुओं के निकट उत्तर-मद्र थे। उत्तर बिहार में विदेह तथा पूर्वी बिहार में अंग थे। यमुना के किनारे पारावत निवास करते थे। उनके उत्तर में केकय तथा बल्हीकों का प्रभुत्व था। इन आर्य-समूहों के अतिरिक्त कुछ अन्य आदि समूह भी थे जिनमें शिवि, वैन, मत्स्य, द्रुह्य, विदर्भ आदि अधिक प्रसिद्ध थे। इस प्रकार सम्पूर्ण उत्तर भारत, मध्य भारत (विशेषतया पूर्वी भाग) तथा कुछ दक्षिणी भाग में आर्य फैल चुके थे। ऐतरेय ब्राह्मण में आन्ध्र जाति का भी उल्लेख आया है, किन्तु ये अनार्य थे। पुण्ड्र, मूतिब, पुलिन्द तथा शबर आदि का भी उल्लेख प्राप्त होता है पर ये भी अनार्य थे।

कुरु-पाञ्चाल—ऊपर अनेक आर्य समूहों का उल्लेख किया गया है। इनमें से कुछ प्रमुख समूहों का विस्तृत अध्ययन कर लेना आवश्यक है। समस्त आर्य-समूहों में मध्य देश के कुरु पाञ्चाल अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी संस्कृति तथा सुन्दर भाषा की प्रशंसा शतपथ ब्राह्मण में की गई है।

कुरु राजा परीक्षित तथा जनमेजय के शासन-काल में कुरु अपनी सर्वोन्नति को प्राप्त कर चुका था।

कोसल, काशी तथा विदेह—ये तीनों पौर्वात्य राज्य उत्तर वैदिक काल के प्रमुख राज्य थे। इनका पृथक-पृथक अध्ययन करना कुछ कठिन है क्योंकि कुछ ऐसी उलझी हुई सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं जिससे यह कहना कठिन पड़ जाता है कि तीनों का अलग-अलग क्या अस्तित्व था। एक पश्चात कालिक निर्देश में जल जातूकर्ण्य विदेहों, काशियों और कोशलों का पुरोहित कहा गया है। यदि यह सत्य है तो ऐसा अनुमान करना पड़ता है कि सम्भवतः ये तीनों राज्य कभी एक थे। सांख्यायन श्रौत सूत्र में राजा पर को कोसल तथा विदेह का शासक कहा गया है।

मगध और अंग तथा अन्य राजनीतिक संगठन—मगध तथा अंग के विषय में यह कहा जाता है कि यह आर्यों की सत्ता के बाहर था, कम से कम आर्य धर्म के इतर तो यह था ही। अथर्ववेद में इसे अनार्य देश मानकर ही इस प्रान्त की ओर एक ऋषि ज्वरादि व्याधियों को फेंकता है। इसी ग्रन्थ में इन्हें 'व्रात्य' कहा गया है। अन्यत्र कहा गया है कि वे जो भाषा बोलने में सरल है (संस्कृत) उसको बोलने में कठिन बताते हैं। अर्थात् संस्कृत जैसी सरल भाषा भी वे नहीं बोल पाते।

इनके अतिरिक्त सिन्धु नदी के दोनों तटों पर गान्धार जनपद था जिसके तक्षशिला तथा पुष्करावती प्रसिद्ध नगर थे। इसी गान्धार तथा व्यास के मध्यस्थ केकय था। अन्य आर्य वर्गों का उल्लेख प्रारम्भ में ही किया जा चुका है।

सामाजिक अवस्था

वर्गीकरण या वर्ण-व्यवस्था—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य ये तीनों वर्ग अब पूर्णतया वर्ण बन चुके थे। अर्थात् अब इनमें परम्परा का पुट आता जा रहा था। पुरोहित पिता का पुत्र भी पुरोहित (ब्राह्मण) होता था। इसी प्रकार शासकों एवं योद्धाओं (क्षत्रियों) का पुत्र भी क्षत्रिय होता था, किन्तु ऋग्वैदिक काल में ऐसी कोई बात न थी। वैश्य पिता के कवि पुत्र तथा भिषक् होने की माता का उल्लेख इस सम्बन्ध में किया जा चुका है। शूद्रों का भी उल्लेख उस काल में किया गया था। पर इनमें भी अब महान परिवर्तन आ गया था।

जिस प्रकार ऋग्वैदिक काल में अनार्यों (जिन्हें अब शूद्र कहा जाने लगा था) या दस्युओं के धनी होने का प्रमाण मिलता है उसी प्रकार उत्तर वैदिक काल के साहित्य से भी यह ज्ञात होता है कि कुछ शूद्र काफी धनाढ्य थे। अब हम ऋग्वैदिक काल के ब्राह्मण, क्षत्रियों, तथा उत्तर वैदिक काल के ब्राह्मण, क्षत्रियों के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए उन पर पृथक् पृथक् प्रकाश डालेंगे।

ब्राह्मण—ऋग्वैदिक काल से ही ब्राह्मणों ने पठन पाठन का कार्य अपनाया था। पठन पाठन का एक मात्र [illegible] था [illegible] में पारंगत होना। धर्म की प्रधानता उत्तर वैदिक काल में उत्तरोत्तर [illegible] जा रही थी। अतः समाज के एक मात्र अधिष्ठाता ब्राह्मणों की प्रधानता में भी वृद्धि होना स्वाभाविक था। ब्राह्मण अपने से नीचे किसी [illegible] [illegible] सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे किन्तु व्यवहार में ऐसा बहुत कम होता था।

क्षत्रिय—क्षत्रिय के अधिकारों में भी अब उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही थी। [illegible] क्षत्रिय का गर्व [illegible]। अतः [illegible]

नीतिक महत्व के कारण ही उनकी पद-वृद्धि होती गई। ब्राह्मणों की भाँति कालान्तर में इनमें भी अनेक शाखाओं का जन्म हो गया।

वैश्य—वैश्य शब्द का प्रयोग सबसे पहले पुरुषसूक्त में किया गया है। वैश्यों में अनेक उप-जातियाँ शीघ्रातिशीघ्र बन गई क्योंकि इन्होंने असंख्य प्रकार के व्यवसायों को अपना लिया था।

शूद्र—शूद्रों के विषय में प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है। पर इन चारों वर्णों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी लोग थे जो इस वर्ण-व्यवस्था के बाहर थे। चाण्डाल, पौल्कस आदि इसी प्रकार के वर्ग थे। दासों के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे इस वर्ण-व्यवस्था के बाहर थे या इसके अन्तर्गत ही थे, पर उनको किसी प्रकार का सामाजिक या राजनीतिक अधिकार नहीं प्राप्त था। वे अपने मालिक की सम्पत्ति थे और दान रूप में या अन्य किसी रूप में भी दिये जा सकते थे।

ऐतरेय ब्राह्मण में इस वर्ण-व्यवस्था की रूप-रेखा इस प्रकार दी गई है कि ब्राह्मण दान लेने वाले (आदायी), सोम पीने वाले (आपायी), सदा घूमने वाले (आवसायी), इच्छा पर, सम्भवत. राजा की इच्छा पर हिलने-डुलने वाले (यथाकामप्रयाप्य) हैं। वैश्य दूसरों को कर देने वाला (अन्यस्य बलिकृत), दूसरों से भोग किया जाने वाला (अन्यस्याद्य), इच्छानुसार रक्खा जाने वाला (यथा कामज्जेय) कहा गया है। इसी प्रकार शूद्रों को दूसरों का नौकर (अन्यस्य प्रेष्य) जब चाहे हटा दिये जाने वाला (कामोत्थाप्य), जब चाहे मार दिया जाने वाला (यथाकामवध्य) कहा गया है। यह सम्भवतः क्षत्रियों की दृष्टि से कहा गया है।

समाज और नारी—ऋग्वैदिक काल के आर्यों ने अपने समाज में नारियों को जो महत्व दिया था उससे हम भली भाँति परिचित हैं, किन्तु उत्तर वैदिक काल में उनकी दशा धीरे-धीरे गिरती जा रही थी। आर्य-अनार्य-सम्मिश्रण का भय समाज के नेताओं को बहुत बना रहा। अत. उन्होंने वैवाहिक नियमों को कठोर बनाने का प्रयास किया था। यद्यपि वे इसमें पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाये थे, क्योंकि उत्तर वैदिक काल में ऐसे ब्याहों के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं, किन्तु उनके प्रयासों का तो प्रभाव समाज पर पड़ा ही होगा। स्त्रियों में पर्दा प्रथा न थी, पर अब वे पुरुष-वर्ग से धीरे-धीरे दूर रहने लगी थीं। जिसका तत्कालीन कुप्रभाव तो यह पड़ा कि उन्हें पुरुषों के सम्पर्क से प्राप्त होने वाले ज्ञान से वंचित रहना पड़ा और समता के भाव का भी लोप हो गया। अज्ञानता एवं अशिक्षा ने इनकी स्थिति को और भी दुर्बल बना दिया।

उत्तरवैदिक कालीन साहित्य में जहाँ हमें स्त्रियों की हीनता के उदाहरण अधिकाधिक प्राप्त होते हैं वहाँ उनकी महानता के भी फुटकल उल्लेख मिलते हैं। स्त्रियों के विदुषी होने के प्रमाण हमें ऐतरेय ब्राह्मण तथा कौषीतकी ब्राह्मण से प्राप्त होते हैं। स्त्रियों की शिक्षा का प्रबन्ध चाहे छोटे पैमाने पर ही क्यों न रहा हो, पर था अवश्य क्योंकि उपनिषदों में शिक्षित नारियों के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। कुछ स्थलों पर तो स्त्री शिक्षकों का भी उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार कुछ वीरांगनाओं के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं, जो अपने पतियों के साथ समरिक कार्यों में हाथ बटाती थीं।

विवाह-प्रथा--विवाह-प्रथा में अब तक विशेष परिवर्तन नहीं हो पाया था। और दहेज देने की भी प्रथा थी, पर कभी-कभी दामाद श्वसुर को द्रव्य देता था। सगोत्र विवाह की मनाही अभी सम्पूर्ण वर्गों में नहीं हुई थी।

बहु विवाह की भी प्रथा उन दिनों काफी प्रचलित थी। मैत्रायणी संहिता में मनु की दस पत्नियों का उल्लेख है।

विधवा-विवाह तो ऋग्वैदिक काल में प्रचलित था ही, उत्तर वैदिक काल में भी इसका प्रमाण मिलता है।

कौटुम्बिक जीवन—कौटुम्बिक जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आ पाया था। अब भी प्रधान का वही आदर था। माता के आदर का भी प्रमाण हम पुरुषसूक्त में प्राप्त होता है। कौटुम्बिक जीवन में यदा-कदा कटुता आ जाने का उल्लेख भी किया गया है। इसलिए अथर्ववेद में कौटुम्बिक शान्ति के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। बहू या बहुओं में संघर्ष हो जाया करते थे, सम्भवतः इसीलिए कुछ स्त्रियाँ ससुराल से मायके भाग जाती थीं। इस प्रकार सम्मिलित कुटुम्ब अब भी चल रहा था और इसमें स्वाभाविक प्रेम या द्वेष विद्यमान थे।

आर्थिक व्यवस्था

कृषि—आर्थिक क्षेत्र में आशातीत उन्नति होना स्वाभाविक था क्योंकि बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए कृषि एवं व्यवसाय में प्रगति लाना आवश्यक था। अब भी कृषि ही आर्थिक व्यवस्था का मूलाधार थी। कृषि में अब काफी उन्नति हो गई थी। काठक संहिता में २४ बैलों वाले हल का उल्लेख किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में कृषि-कार्य, जुताई, बुआई, कटाई, ओसाई आदि का उल्लेख आया है—जौ (यव), धान (व्रीहि), गेहूँ (गोधूम), तिल आदि की खेती की जाती थी।

अन्य-व्यवसाय—कृषि के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यवसायों द्वारा भी लोग अपनी जीविका का उपार्जन करते थे। इनमें से कुछ का उल्लेख वाजसनेयी संहिता में किया

प्याले बनाये जाते थे। अष्टप्रद, शतमान, कृपाल आदि निर्धारित भार के स्वर्ण-शकल से मुद्राओं का ही बोध हो सकता है।

पशु-धन में भी अभिवृद्धि होती जा रही थी और अब लोग हाथी भी पालने लगे थे। उपरोक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि उत्तर वैदिक काल में लोगों ने विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में काफी उन्नति कर ली थी।

बौद्धिक एवं धार्मिक अवस्था

उत्तर वैदिक काल की बौद्धिक उन्नति के परिचायक न केवल वे महान् ग्रन्थ हैं जिनका उल्लेख परिच्छेद के बिलकुल प्रारम्भ में किया गया है वरन् इनके अतिरिक्त भी बहुत से महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना हुई जिन्हें केवल बौद्धिक विकास के आधार पर ही सृजित किया जा सकता था। नीचे तत्कालीन शिक्षा-पद्धति तथा साहित्यिक प्रगति पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डाला जायगा।

शिक्षा—ऋग्वैदिक काल में दादुरों से बालकों की उपमा देखकर हमने पाठशालाओं की कल्पना की थी किन्तु उत्तर वैदिक काल में कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं, पाठशालाओं के प्रमाण ही हमें प्राप्त होते हैं। सर्वप्रथम 'उपनयन' संस्कार होता है और तभी 'आचार्य' विद्यार्थी—'ब्रह्मचारी' का एक दूसरे जीवन में प्रवेश कराता है ('द्विज' बनाता है जिसका अर्थ दूसरा जन्म होता है)। 'श्रम' और 'तप' करना उसके लिए आवश्यक था। गुरु अपने शिष्य को हर प्रकार से सत्य-पथ पर लाने का प्रयास करता था क्योंकि वह उसके पापों का उत्तरदायी था (शिष्यापापम् गुरोर्सि)। शिष्य भी अपने गुरु को दूसरा भगवान् मानता था और वह उसके संकेतों पर ही चलता था।

शिक्षा के विषयों पर प्रकाश डाल देना भी आवश्यक है। छान्दोग्य उपनिषद में नारद तथा सनत्कुमार का जो वार्तालाप दिया गया है उससे ज्ञात होता है कि उन दिनों विभिन्न प्रकार के विषय पढ़ाये जाते थे। जिनमें देव-विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, क्षात्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या, देवजन-विद्या, कल्प, श्राद्ध, राशी, तर्कशास्त्र आदि प्रमुख थे। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद से भी इतिहास, उपनिषद, अनुव्याख्यान, व्याख्यान आदि की शिक्षा का बोध होता है।

धर्म—शिक्षा की प्रगति का अध्ययन कर लेने के बाद हमें विचाराधीन काल की धार्मिक स्थिति पर विचार करना चाहिये क्योंकि इस युग की धार्मिक स्थिति के मूल में शिक्षा का भी बहुत बड़ा हाथ रहा और उसके ज्ञान के पश्चात् ही हम उक्त काल की धार्मिकता को भली-भाँति समझ सकते हैं।

यज्ञ—प्रारम्भिक उत्तरवैदिक काल में धार्मिक क्षेत्र में महान परिवर्तन हुआ, यह ब्राह्मणों तथा यज्ञों के महत्व की वृद्धि है। अब तक केवल सात पुरोहित यज्ञ में भाग लेते थे किन्तु, उत्तर वैदिक काल में इनकी संख्या १७ हो गई—होतृ तथा उनके तीन सहायक, उद्गातृ तथा उसके तीन सहायक, अध्वर्यु तथा उसके तीन सहायक, ब्राह्मण तथा उसके तीन सहकारी। इन १६ पुरोहितों का प्रधान सत्रहवाँ ऋत्विज सदस्य था। यज्ञ की संख्याओं में भी वृद्धि हो गई थी। कुछ यज्ञ तो ऐसे भी यज्ञ थे जो वर्षों चलते रहते थे। यज्ञों की प्रधानता ने जीवन के दृष्टिकोण को अब पूर्णतया परिवर्तित कर दिया था। अब ब्राह्मणों का ग्रन्थानुसरण करना आवश्यक हो गया था।

तप—तप की महिमा का गुणगान ऋग्वेद के दसवें मण्डल से ही प्रारम्भ हो जाता है। इसके पूर्व नौ मण्डलों में तप का माहात्म्य नहीं बताया गया है। ऋत और सत्य की उत्पत्ति तप से हुई है, तप ही भावी जीवन का द्रष्टा है, तप से अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, देवता तप करते हैं और तप-यज्ञ से देवताओं ने स्वर्ग जीता है, प्रजापति ने सृष्टि रचना के लिए तप किया था, तप यज्ञ, ऋत तथा ब्रह्म आदि के आधार पर ही विश्व स्थिर है आदि का उल्लेख हमें वैदिक साहित्य में बिखरा-सा मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया कि देवताओं ने तप के द्वारा देवत्व प्राप्त किया था। इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद में वरुण ने अपने पुत्र से कहा है, "तप से ब्रह्म को जानो क्योंकि तप ही ब्रह्म है।" मैत्रायणी उपनिषद ने तो यहाँ तक कह दिया है कि तप के बिना तो ज्ञान प्राप्त ही नहीं हो सकता है। पर इसी काल में कुछ ऐसे भी चिन्तक थे जिन्होंने तप के महत्व को नहीं स्वीकार किया है।

दार्शनिकता—इस यज्ञ तथा तप के काल में ही दूसरी ओर दार्शनिकता का जो बोल-बाला आरम्भ हुआ वह सम्पूर्ण आर्य जगत को अपने में समाविष्ट कर लेने को पर्याप्त था। इस दार्शनिकता के मूल में तत्त्व ज्ञान की खोज थी जिसमें ज्ञान-पिपासा की शान्ति, लोक परलोक के वास्तविक मार्ग की माँग थी। यद्यपि यज्ञ तथा तप के समर्थकों ने इन प्रश्नों का केवल एक उत्तर बड़ी दृढ़तापूर्वक यह दे दिया कि 'तप ही ब्रह्म है, पर ज्ञान-पिपासा तर्क ढूँढती है, विश्वास से पूर्ण सन्तुष्ट नहीं होती।' सौभाग्यवश उन दिनों तर्क की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। इसी स्वतन्त्रता ने दार्शनिकों को अपने मतों के प्रतिपादन में सफलता प्रदान की। आत्मा, परमात्मा, इहलोक, परलोक, स्वर्ग नरक, मोक्ष आदि की जो स्पष्ट एवं उचित व्याख्या तत्कालीन दार्शनिकों ने की उससे आशा तो यह थी कि तत्कालीन समाज पूर्णतया परिवर्तित हो जाता, दार्शनिकों (के) विश्वासों की [illegible] कर देती पर दुर्भाग्यवश इन दार्शनिकों में मतैक्य न था, कभी कभी तो वे एक दूसरे का जोरदार खण्डन कर देते थे और तब क्या ग्राह्य है क्या नहीं, क्या गलत है, क्या अनुचित यह समस्या लोगों के सम्मुख उपस्थित हो जाती थी, जिनका समाधान उनकी इच्छानुसार या आवश्यकतानुसार न होने पर उन्हें पुनः अन्धानुकरण ही करना पड़ता था जिसका प्रतिफल था यज्ञ और तप में जोर लगा देना।

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति अर्थात् दार्शनिकता का स्थान भी अब उपनिषदों ने लिया

उपरोक्त मत का प्रतिवाद इस प्रकार उपस्थित किया गया है कि केवल सदाचार से ही ब्रह्म या आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। यज्ञ, दान आदि की आलोचना करते हुए इसमें बताया गया है कि परमेश्वर की भक्ति, परमेश्वर को आत्मसमर्पण आदि से ही ब्रह्म को समझा जा सकता है। अहंकार और मद के रहते हुए यह सब असम्भव है। कहीं-कहीं उपनिषदों में यह भी कहा गया है कि जीव, ब्रह्म और आत्मा एक ही हैं। योग द्वारा ब्रह्म को समझा जा सकता है।

मोक्ष और पुनर्जन्म—ये दोनों विपरीत स्थितियाँ हैं। उपनिषदों के अनुसार मोक्ष पाने के पश्चात् आत्मा का अन्त नहीं होता। वह उस महान सागर (परमात्मा) में विलीन हो जाती है। उसका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। इसके विपरीत यदि मनुष्यों का कर्म (इस जन्म का कर्म) पवित्र नहीं है तो उन्हें पुनः अपने कर्मानुसार जन्म लेना पड़ेगा। "देवता, मनुष्य, जन्तु, वनस्पति सबकी आत्मा कर्म के कठोर नियम के अधीन है। प्रत्येक अभिलाषा, आकांक्षा या क्रिया का प्रभाव—अच्छा या बुरा आत्मा पर पड़ता है, यह प्रभाव एक जीवन तक परिमित नहीं है, मरने के बाद फिर कर्मानुसार जन्म होता है और कर्म का फल भोगना पड़ता है, इस दूसरे जीवन के कर्मों का फल तीसरे जीवन में होता है और इस प्रकार चक्र चलता रहता है।"

देवता—ऋग्वैदिक कालीन देवता अब भी पूज्य थे यद्यपि उनमें कुछ का महत्व घटता जा रहा था और कुछ का बढ़ता जा रहा था। प्रजापति जो प्रारम्भ में देवलोक में विशिष्ट स्थान रखता था अब उसकी महत्ता घट गई और अब रुद्र तथा विष्णु को प्रधानता दी जाती थी। ऋग्वेद में रुद्र को कोई विशेष स्थान नहीं प्राप्त था किन्तु उत्तर वैदिक काल में इसकी महत्ता बहुत अधिक बढ़ गई। इसी प्रकार विष्णु जो सूर्यदेव के पाँच रूपों में से एक रूप माना जाता था अब स्वतन्त्र महत्वपूर्ण देवता हो गया। रुद्र का विरुद् अब शिव हो गया और वह मंगलकारी देवता माना जाने लगा।

राजनीतिक अवस्था

आर्यों के विभिन्न वर्गों का उल्लेख करते हुए भारत में उनके द्वारा विभिन्न भू-भागों पर राजनीतिक सत्ता स्थापित करने का विवरण प्रारम्भ में ही दिया जा चुका है। इस विवरण से हमें ज्ञात हो चुका है कि अब उनका राजनीतिक विकास लगभग पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था और इसमें आश्चर्यजनक प्रगति हो चुकी थी। यहाँ उनके राजनीतिक संगठन पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जायगा और तत्कालीन विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं के नियमों का उल्लेख किया जायगा। सर्वप्रथम हम सरकारों पर प्रकाश डालेंगे।

संघ-शासन—आर्यों ने जब पूर्व तथा दक्षिण की ओर प्रसार किया तो उन्हें काफी विस्तृत साम्राज्य स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ। पर यातायात की असुविधा तथा प्राकृतिक बाधाओं के कारण उन्हें इसमें कठिनाई पड़ी। अतः उन्हें विशाल साम्राज्य के अधीन छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना करनी पड़ी। कुछ ग्रन्थों में 'अधिराज' शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे यह परिलक्षित होता है कि एक बड़े राजा के अधीन कुछ अन्य राजा भी राज्य करते थे। 'राजाधिराज' 'सम्राट' आदि शब्दों से

स्पष्टतया ज्ञात होता है कि कुछ बहुत बड़े-बड़े राजा थे जिनके अधीन अनेक छोटे-छोटे राजा भी थे। उत्तरी भारत में असंख्य छोटे-छोटे राजाओं के होने का प्रमाण मिलता है।

राजा—राजा या सम्राट का पद बहुधा वंशगत होता था, पर इसके लिए प्रजा की अनुमति आवश्यक थी। अथर्ववेद में प्रजा के नियमन का उल्लेख विस्तृत रूप से मिलता है।

राज्याभिषेक—राजा की महत्ता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हमें उसके अभिषेक सम्बन्धी उत्सव से प्राप्त हो जाता है। राज्याभिषेक के अवसर पर राजसूय यज्ञ का आयोजन किया जाता था। अभिषेक के समय राजा शपथ ग्रहण करता था कि यदि वह किसी प्रकार का अत्याचार प्रजा पर करे तो उसका सारा पुण्य, उसका लोक और परलोक तथा उसकी सन्तान आदि नष्ट हो जायँ।

इस युग में राजा का निर्वाचन अधिकांशतः प्रजा पर आधारित था, उसके ऊपर अगणित उत्तरदायित्व भी लाद दिये जाते थे, अपने मंत्रियों पर वह पूरी तरह निर्भर करता था तथा सभा और समितियाँ उसकी निरंकुशता पर अंकुश रखती थीं। पर इस सारी व्यवस्था के ऊपर ब्राह्मण थे। ब्राह्मणों की महत्ता का प्रमुख कारण यह था कि तत्कालीन राजनीति पूर्णतया धर्माश्रित थी। धर्म ही अनुशासन था। राजा उसका माध्यम मात्र था और ब्राह्मण धर्म-व्याख्याता था। अतः वह [illegible] रहा।

राज्याधिकारी—राज कार्य में राजा के अतिरिक्त अन्य लोगों की भी आवश्यकता पड़ती है। अतः अनेक राज्याधिकारी राजा के चारों ओर घिरे रहते थे। इन राज्याधिकारियों को 'रत्निन' कहते थे। ज्ञात होता है कि 'रत्निन' सम्भवतः उच्चकोटि के ही अधिकारी थे। इनके अतिरिक्त अन्य साधारण अधिकारी भी रहे होंगे। 'रत्निन' के अतिरिक्त 'वीर' भी राज्य के अधिकारी थे। वीरों या रत्निनों का उल्लेख अथर्ववेद में किया गया है। पंचविंश ब्राह्मण में आठ वीरों का उल्लेख किया गया है —

(१) राजा का भ्राता, (२) राजपुत्र, (३) राजपुरोहित, (४) राजमहिषी, (५) सूत, (६) ग्रामणी, (७) क्षत्ता ([illegible]), (८) संग्रहीता (कोषाध्यक्ष)। तैत्तिरीय संहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में कुछ अन्य [illegible] गिनाये गये हैं

इसके बिना काम नहीं कर सकता था। सभा में वाद-विवाद के पश्चात् राज्य की समस्याओं को सुलझाया जाता था।

समिति की महत्ता पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। इसके अधिकारी भी काफी थे। यह सम्भवतः युद्ध-सन्धि, आय-व्यय आदि विषयक मामलों को देखती थी। बहुमत द्वारा ही सभा और समितियों का काम होता था।

शासन-प्रबन्ध—राज्याधिकारियों का उल्लेख करते समय हमने बताया था कि शासन-प्रबन्ध को सुचारु रूप से सञ्चालित करने के लिए विभिन्न प्रकार के अधिकारी थे। उनका पृथक्-पृथक् विभाग भी रहा होगा। सेनानी सेना का प्रबन्ध करता था। अथर्ववेद से यह ज्ञात होता है कि दूत या प्रहित जासूसी करते थे। इसी प्रकार ग्रामणी भी सैनिक अधिकारी था।

न्याय की देख-रेख सभा के अतिरिक्त राजा स्वयं करता था। तैत्तिरीय संहिता से ग्रामवादिन गाँव का न्यायाधीश जान पड़ता है।

पञ्चायत द्वारा भी झगड़ों का अन्त किया जाता था। अपराधों के विषय में हमें अधिक कुछ ज्ञान नहीं पर राजद्रोह निश्चय ही भारी अपराध माना जाता था जिसके लिए ब्राह्मण तक को प्राण-दण्ड दिया जा सकता था।

आय के साधनों में भूमिकर तथा व्यापार-कर प्रमुख थे। अमीरों से कर लेने का उल्लेख कुछ स्थलों पर किया गया है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ उत्तर वैदिक काल से आप क्या अर्थ समझते हैं ? इस समय आर्यों की भौगोलिक सीमा में जो प्रसार हुआ उस पर प्रकाश डालिए।

२. उत्तर वैदिक काल की राजनीतिक अवस्था के विषय में आप क्या जानते हैं ?

३. उत्तर वैदिक काल की धार्मिक एवं सामाजिक अवस्थाओं पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

४ उत्तर वैदिक काल की सभ्यता एवं संस्कृति के विषय में आप क्या जानते हैं ?

अध्याय ७

परवर्ती वैदिक साहित्य और उसकी सभ्यता

प्रारम्भिक सभ्यता के ज्ञान के लिए हमने ऋग्वेद का सहारा लिया था, तत्पश्चात् साम वेद से लेकर उपनिषदों आदि ने नवीन, परिवर्तित रूप का दिग्दर्शन कराया। इस परिच्छेद में हम उपनिषदों के पश्चात् से एवं पुराणों तक के साहित्य द्वारा वर्णित सभ्यता पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे अर्थात् सूत्र-साहित्य, एवं महाकाव्यों के आधार पर हम ८०० ई० पू० (जो अनुमानतः इनकी तिथि है) तथा उसके कुछ काल पश्चात् की भारतीय संस्कृति पर प्रकाश डालेंगे। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि इन ग्रन्थों की रचना-तिथियों का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करना कठिन है। और इनका क्रम भी नहीं निर्धारित किया जा सकता जिससे क्रमबद्ध इतिहास भी नहीं रचा जा सकता। अतः अनुमान के आधार पर ही इन्हें ८०० ई० पू० से ६०० ई० पू० के भीतर या सम्भवतः उससे भी कुछ बाद का मानकर तत्कालीन विभिन्न परिस्थितियों पर प्रकाश डाला जायगा।

अष्टाध्यायी में वर्णित सभ्यता

संगीत तथा नृत्य जीवन का एक अंग बन चुका था। पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में 'गायक' (गायक) तथा 'नर्तक' का उल्लेख किया है। कुछ वाद्य-यन्त्रों का भी उल्लेख किया गया है जैसे 'मृदंग' 'मड्डुक' आदि।

शिक्षा—शिक्षा का जीवन में बहुत महत्व था। 'आचार्यकरण' के पश्चात् 'छात्र' को पाठशाला में प्रविष्ट किया जाता था। 'छात्र' अपने 'अध्यापकों' के नाम से सम्बोधित किए जाते थे। वेदोच्चारक को 'श्रोत्रिय' तथा वेद पर 'प्रवचन' करने वाले को 'प्रवक्ता' कहते थे। बालिकाओं की शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध रहा, क्योंकि एक स्थल पर पाणिनि ने इसका उल्लेख किया है और महिला छात्रावास 'छात्रिशाला' का भी दृष्टान्त दिया है।

आर्थिक अवस्था

लोग विभिन्न उद्योग-धन्धों तथा नौकरियों में लोग लगे हुए थे। 'वेतनादिभ्यो जीवित' से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि वेतन पर नौकरी करके लोग जीविकोपार्जन करते थे। 'कर्मकार' तथा 'भृत्ति' से श्रमिकों का बोध होता है।

वाणिज्य-व्यापार का भी जिक्र पाणिनि ने किया है। ब्याज पर रुपया भी दिया जाता था।

उत्तर वैदिक काल में कृषि की उन्नत अवस्था का बोध हमने किया था। पाणिनि के ग्रन्थ से तत्कालीन भारत की कृषि सम्बन्धी उन्नत अवस्था का भी बोध होता है।

नौकरी तथा कृषि के अतिरिक्त कुछ उद्योग-धन्धे भी इनकी जीविका के साधन थे। वस्त्र-कुटीर-उद्योग का स्पष्ट विवरण हमें अष्टाध्यायी से मिलता है। 'कुलाल' (कुम्भकार) 'शाकुनिक' (बधिक) आदि का भी उल्लेख किया गया है। वस्त्रों की रँगाई का भी इन दिनों काफी काम होता था जिसमें 'नील', 'लाक्ष', 'गोरोचन' आदि का प्रयोग किया जाता था। इन विभिन्न उद्योग-धन्धे वालों का अपना कोई संगठन भी रहा होगा ऐसा अष्टाध्यायी से परिलक्षित होता है।

मुद्राओं के क्षेत्र में अब काफी उन्नति हो चुकी थी, ऐसा अष्टाध्यायी में वर्णित मुद्राओं से ज्ञात होता है। पाणिनि, 'कार्षापण', 'निष्क', 'पण', 'पाद', 'माष' आदि मुद्राओं का उल्लेख करता है। मुद्राओं को चिन्हित किए जाने का भी उल्लेख किया गया है।

सूत्रों में वर्णित सभ्यता

सूत्रों की तिथियों के सम्बन्ध में उनके वर्ण्य-विषय तथा सूत्रकारों के जन्म स्थानों एवं ग्रन्थों के आधार पर अनुमान लगाया गया है जो सातवीं शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी ई० पू० तक है। यहाँ प्राचीनतम सूत्रग्रन्थों में वर्णित सभ्यता एवं संस्कृति पर ही प्रकाश डाला जायगा।

राज-प्रबन्ध—राजसत्ता का राजा को अपने हाथ में रखने का उल्लेख है। वर्णाश्रम धर्म का पालन राजा के लिए आवश्यक बताया गया है। गौतम के अनुसार देश, जाति तथा कुटुम्ब के वे नियम जो धर्मविरुद्ध न हों राजा को स्थिर रखना चाहिए अर्थात् उनके विरुद्ध कोई नियम नहीं बनाना चाहिए। इसी प्रकार किसानों, मजदूरों, शिल्पियों आदि के अपने बनाए हुए नियमों को भी मान्यता प्रदान करना चाहिए।

न्याय—न्याय के लिए दीवानी तथा फौजदारी का विधान किया गया है। वर्ण के आधार पर ही न्याय किया जाता था। एक ही अपराध के लिए विभिन्न दंड थे। ब्राह्मण को अपशब्द कहने वाले क्षत्रिय को १०० मुद्रायें तथा वैश्य को १५० मुद्रायें दण्ड स्वरूप देनी पड़ती थी पर क्षत्रिय को अपशब्द कहने वाले ब्राह्मण को केवल ५० मुद्रायें देनी पड़ती थी। शूद्र को क्षति पहुँचाने वाला को एक प्रकार से मुक्ति प्रदान थी। बौधायन में राजकीय न्यायालयों तथा वेदों के ज्ञाताओं की परिषद होती थी। न्याय करते समय वास्तविकता जानने के अभिप्राय से ही पड़ोसियों की गवाही वांछनीय थी। आपस्तम्ब में अपनी जमीन को बंजर रखने वाले का राज्य का हरजाना देने का उल्लेख है। खेत को क्षति पहुँचाने वाले पशुओं को खेतिहर बन्द कर सकता है, इसका भी उल्लेख किया गया है।

कर—उपज का १/६, १/८, १/१०, भाग पशु एवं सुवर्ण का [illegible], फल फूल आदि का १/६० भाग राजा कर के रूप में ले सकता था। कारीगर एक दिन राजा के यहां बेगार करते थे और व्यापारी को प्रतिमास एक वस्तु सस्ते दामों पर राजा को देना पड़ता थी। बौधायन ने भूमि कर १/६ भाग तथा सामुद्रिक व्यापार के माल पर [illegible] भाग चुंगी के रूप में लिये जाना बतलाया है।

गृहस्थ जीवन तथा उसके मूलाधार—गृहस्थ [illegible] का [illegible] गृह्यसूत्र से प्राप्त होता है। इनमें जन्म से लेकर मृत्यु तक के [illegible] सामाजिक एवं धार्मिक क्रिया का उल्लेख है। [illegible] का भी उल्लेख कर दिया गया है पर यह [illegible] है। गृह्यसूत्र में वर्ण-संस्कार का उल्लेख किया गया है [illegible] निम्नलिखित हैं :—

(१) गर्भाधान संस्कार, (२) पुंसवन संस्कार [illegible] करण संस्कार, (५) [illegible] संस्कार [illegible], (६) अन्नप्राशन संस्कार, [illegible] (८) उपनयन संस्कार [illegible] (१०) विवाह संस्कार, (११) [illegible] किया।

इन संस्कारों [illegible] होकर [illegible]

[illegible] विवाह संस्कार [illegible] प्रथाएँ [illegible]

देवों, पूर्वजों, सखा, स्वजन, परिजन, अतिथियों आदि के प्रति कर्त्तव्य-पालन, जिससे जीवन सुखमय हो सके।

सम्पूर्ण गृहस्थ जीवन का मूलाधार यही कर्त्तव्य-पालन ही था। इनसे च्युत होने वाला व्यक्ति आर्य-वर्ग में हीन समझा जाता रहा होगा।

वर्णाश्रम—ऋग्वैदिक काल के 'वर्ग' ने उत्तरवैदिक काल में 'वर्ण' का हल्का रूप धारण करना आरम्भ कर दिया था किन्तु अब इसमें काफी जटिलता आती जा रही थी। सूत्रों में इस सम्बन्ध में पूर्ण मतैक्य नहीं है, कोई बहुत कठिन, कोई बहुत लचीला तथा कोई मध्यम कोटि का नियम प्रतिपादित करता है। गौतम धर्म सूत्र में ब्राह्मण को अन्य वर्णों के अतिरिक्त आपत्ति-काल में शूद्र का दिया हुआ भोजन भी पान करने तक की अनुमति दी गई है। किन्तु साथ ही पुलिस या जेल के अधिकारी, कृपण तथा शत्रु का भोजन करने की आज्ञा नहीं दी गई है। पर इसके विरुद्ध आपस्तम्ब ने ब्राह्मणों को अपने से नीचे वाले वर्णों का भोजन पान करने का कठोर प्रतिबन्ध लगाया है। गौतम धर्म सूत्र में ब्राह्मणों को अन्य वर्णों के अतिरिक्त आपत्ति काल में क्षात्र या वैश्य-कर्म करने की अनुमति दी गई है। एक ओर तो गौतम ब्राह्मणों को अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए किसी वर्ण का काम करने की अनुमति देते हैं तथा क्षत्रियों और वैश्यों को भी यही स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं, पर दूसरी ओर वे शूद्रों के साथ हर प्रकार की कठोरता करने की अनुमति देते हुए कहते हैं कि शूद्रों को अपने ऊँचे वर्ण वालों (वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण) के जूठे भोजन, वस्त्र, छाते, चटाई तथा जूते आदि का प्रयोग करना चाहिये। इससे यह ध्वनित होता है कि वे नई वस्तुओं का प्रयोग नहीं कर सकते थे। इतना ही नहीं यदि वे वेद भूल से भी सुन लें तो उनके कानों में लाख भर देनी चाहिये, यदि वेद मन्त्र का उच्चारण कर दें तो उनकी जबान काट ली जाय और यदि याद कर लें तो उनके शरीर को दो भागों में विभक्त कर देना चाहिये। बोधायन धर्मसूत्र से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मण कृषक, गड़ेरिया, नौकर तथा नट तक का काम करते थे।

आश्रम—गृह सूत्र के विषय में लिखते हुए बताया गया था कि वह ग्रन्थ आश्रम धर्म पर पूर्ण प्रकाश डालता है। आश्रम का महत्व कितना अधिक बढ़ गया था इसका प्रमाण हमें गृह सूत्र से प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा सन्यास चार आश्रमों का विधान किया गया था। ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरु के पास रहकर विद्याध्ययन करना पड़ता था। तत्पश्चात् घर लौटकर गृहस्थ जीवन नियमानुसार व्यतीत करना पड़ता था। ऋषिऋण, देवऋण तथा पितृ ऋण से उऋण होने के लिए सतत प्रयास करना पड़ता था। ऋषिऋण से मुक्त होने के लिए स्वाध्याय, देवऋण के लिए यज्ञ तथा पितृऋण से मुक्त होने के लिए सन्तानोत्पत्ति करने का विधान था। अतिथि सत्कार गृहस्थ जीवन का प्रमुख अंग था। पंच महायज्ञों का उल्लेख किया जा चुका है।

गृहस्थ जीवन समाप्त कर लेने के पश्चात् तृतीय आश्रम का प्रारम्भ होता है जो प्रथम दो से बहुत कठिन है। सम्भवतः अर्धांग उत्पन्न हो जाने के पश्चात् वानप्रस्थ ग्रहण किया जाता था। वानप्रस्थ आश्रम के अन्तर्गत (१) वस्तु त्याग, (२) स्वाध्याय, (३) वर्षा काल में एक स्थान पर निवास, (४) भिक्षाटन (बिना सेवकपूर्वक दी

युक्त है। माद्री अपने पति पाण्डु के साथ अपनी जीवन-लीला भी समाप्त कर देती है। पर दमयन्ती के दूसरे स्वयम्वर की घोषणा का भी उल्लेख मिलता है जिसे सुनकर नल के अतिरिक्त और किसी को कोई आश्चर्य नहीं हुआ।

महाभारत के समय में सम्भवतः सर्वप्रथम नियोग की प्रथा का प्रचलन ज्ञात होता है। नियोग पति की मृत्यु के पश्चात् या विशेष दशा में उसके जीवित रहने पर भी उसकी आज्ञा से किया जाता था।

तत्कालीन समाज पर एक दृष्टि—मांस भक्षण समाज में अब अधिक बढ़ गया था। आदिपर्व तथा वनपर्व से ज्ञात होता है कि राजा रन्तिदेव की पाकशाला में नित्य दो हजार पशुओं का वध किया जाता था तथा वह मांस सर्वसाधारण में वितरित कर दिया जाता था।

समाज में यज्ञ का बड़ा महत्त्व था। अब भी यज्ञों को प्रधानता दी जाती थी। राजसूय यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ आदि का उल्लेख बराबर मिलता है। पर देवी-देवताओं में कुछ नवीनता आ रही थी, नवीनता इस अर्थ में कि कुछ प्राचीन वैदिक देवताओं को कम महत्त्व दिया जाने लगा और नवीन देवताओं के महत्त्व में वृद्धि कर दी गई। यह तत्कालीन धार्मिक परम्परा का ही अनुसरण था।

[illegible] प्रासाद, सभा, वाटिका, दुर्ग, [illegible] आदि अनेक वस्तुएँ इस

मन्त्रिपरिषद्—राजा की निरंकुशता पर मन्त्रिपरिषद् का तथा समाज का भारी अंकुश था। मन्त्रिपरिषद् की अनुमति बिना राजा कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं करता था। बहुधा साधारण कार्यों में भी वह मन्त्रणा लेता था। चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र तथा एक सूत का एक सचिवालय होता था।

परिषद् के अतिरिक्त 'सभा' का भी उल्लेख किया गया है जिसका प्रधान 'सभाध्यक्ष' होता था। सभा न्याय सम्बन्धी मामलों की देख-रेख करती थी।

ग्राम-शासन—शासन की न्यूनतम इकाई ग्राम को माना गया था। ग्राम का प्रधान अधिकारी ग्रामणी होता था। इसके ऊपर दशग्रामी, विंश, तथा शतग्रामी होते थे। ये क्रमशः १०, २० तथा १०० ग्रामों के अधिकारी होते थे। इन सब के ऊपर एक हजार ग्रामों का अधिकारी अधिपति होता था। ग्राम का पूर्ण शासन इनके अधीन था। ये ही कृषि-कर भी वसूल करके राजकोष में भेजते थे। सभापर्व में नारद ने युधिष्ठिर को गाँव में पाँच अधिकारी रखने की मन्त्रणा दी है।

गणराज्य—महाभारत में पाँच गणराज्यों का भी उल्लेख किया गया है। अन्धक, वृष्णि, यादव, कुकुर तथा भोज के गण-राज्यों ने अपना एक संगठन बना लिया था। कृष्ण को इस संघ का 'संघमुख' बताया गया है।

राज्य पदाधिकारी—शासन-प्रबन्ध के सुचारु रूप से संचालित करने के लिए अनेक प्रकार के अधिकारी होते थे। सभापर्व में १८ अधिकारियों का उल्लेख किया गया है। युवराज का शासन-प्रबन्ध में काफी हाथ था। राजमहल, कारागार, अरण्य, सीमावर्ती प्रदेश आदि के विभिन्न अधिकारियों का विवरण मिलता है। शान्तिपर्व में अनेक प्रकार के अफसरों का उल्लेख किया गया है। इनमें खान, नमक, नदी, सेना, शुल्क आदि के अधिकारी प्रमुख हैं। सेना में अनेक प्रकार के अधिकारी थे।

सेना—युद्ध के लिए सेना रखना आवश्यक था और साम्राज्य-निर्माण के लिए युद्ध आवश्यक था। सेना में पैदल, अश्वारोही, गजारोही, रथी आदि सम्मिलित थे। सेना के अधिकारी अभिजात कुलीय व्यक्ति होते थे।

राज्य की आय—आय के प्रमुख साधन कृषि कर, जो उपज का १/६ भाग लिया जाता था तथा व्यापार-वाणिज्य कर थे। जुर्माना से भी अच्छी आमदनी हो जाती थी। शान्तिपर्व में ब्राह्मणों से कर न लेने की बात कही गई है।

रामायण की सामग्रियाँ तथा उनका ऐतिहासिक महत्व

यद्यपि रामायण-महाभारत की सामग्रियों का अध्ययन विद्वानों ने एक साथ ही किया है क्योंकि ये दोनों लगभग एक ही काल का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु विचारों की विभिन्नता के कारण इनका अध्ययन पृथक्-पृथक् करना अधिक उपयुक्त है। समाज की अनेक मान्यताएँ रामायण में परिवर्तित हो गई हैं, राजनीति का भी कलेवर कुछ अंशों में बदला सा है। कौटुम्बिक जीवन को एक नया महत्व प्रदान किया गया है। इन सब कारणों से इसका पृथक् अध्ययन ही अधिक सुगम है।

सामाजिक जीवन

राजा के जीवन का जो चित्रण वाल्मीकि ने किया है उससे यह ज्ञात होता है कि

महापुरुष लोग उन्हें हेय दृष्टि से नहीं देखते थे। राजनीति में उन्हें स्थान देकर इनका महत्व अधिक बढ़ा दिया गया था। अरण्य में राम तथा निषादों के व्यवहार से भी इस की पुष्टि हो जाती है कि उदारचित्त व्यक्ति शूद्रों को सम्मानित करने में कोई अपराध की बात नहीं समझते थे।

नारियों की दशा में कुछ विकास हुआ था, पर ध्यान रखना चाहिये कि रामायण में दो ऐसे पात्रों का चित्रण प्रत्येक क्षेत्र में किया गया है जिनमें से एक उत्तम तथा दूसरा अधम है। जहाँ एक ओर राम का आदर्श प्रस्तुत किया गया है वहीं दूसरी ओर रावण के पतित जीवन का भी चित्रण है, जहाँ सीता जैसी सौम्यमूर्ति है वहीं कैकेयी जैसी [illegible] उन्मादिनी नारियाँ भी हैं। राजकुमारियों को स्वयंवर का अधिकार था पर स्वयंवर में पिता कुछ शर्तें रख देता था जिससे उनकी स्वतंत्रता का अन्त हो जाता था। पातिव्रत धर्म का बहुत अधिक महत्त्व था। पति की सेवा का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण सीता है।

बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी यह कहने की आवश्यकता नहीं। स्वयं राजा दशरथ इसके प्रमाण हैं। रानियों के पारस्परिक सम्बन्ध भी अच्छे न थे तभी तो राम के वन जाते समय [illegible] कहा था कि अब उनकी सौत उनकी अवहेलना करेंगी। [illegible]

[illegible] था।

[illegible]

हो सकती है किन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि चौथी शती ई० पू० के पश्चात् इसे नहीं रक्खा जा सकता।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. महाकाव्य युग से आप क्या अर्थ समझते हैं? इस समय के पूर्व के भारत का इतिहास हमें किन साधनों से ज्ञात होता है? उन सामग्रियों से जो सूचना मिलती है उन पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

२. महाभारत और रामायण में भारतीय समाज का जो चित्रण किया गया है उस पर प्रकाश डालिए।

३. महाकाव्य युग की राजनीतिक एवं धार्मिक अवस्थाओं के विषय में आप क्या जानते हैं?

४. जाति-प्रथा के विकास पर एक छोटा-सा निबन्ध लिखिए।

अध्याय ८

बुद्धकालीन भारत

उत्तर भारत की राजनीतिक अवस्था

उत्तर भारत में आर्यकरण का कार्य बहुत ही वेग से चल रहा था और छठी शताब्दी ई० पू० तक आते-आते यहाँ अनेक शक्तिशाली आर्य केन्द्र स्थापित हो चुके थे जैसा कि हमने धर्म-सूत्रों में या इसके भी पूर्व पाणिनि की अष्टाध्यायी में देखा था। उसमें २२ जनपदों का उल्लेख किया गया है जिनमें केकय, गांधार, कम्भोज, मद्र, अवन्ति, कुरु, साल्व, कोसल, भारत, उसीनर, यौधेय, प्राग तथा मगध सम्मिलित थे। इनमें से कुछ तो प्राचीन थे तथा कुछ का संगठन बाद में हुआ था। पाञ्चाल, विदेह, अंग तथा बंग, भी 'प्राच्य जनपद' के नाम से विख्यात थे। धर्मसूत्रों के समय में भी इस क्षेत्र में काफी प्रयास हुआ था। महाकाव्यों के रचना-काल तक आते-आते तो साम्राज्य-निर्माण की भावना इतनी प्रबल हो जाती है कि साम्राज्य के लिए ही कौरव-पाण्डवों का भीषण युद्ध होता है और उधर कैकेयी का प्रपञ्च रचना पड़ता है। पर अब तक की जितनी सामग्रियाँ मिलती हैं वे तत्कालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक अवस्थाओं का ही सुन्दर रूप से परिचय कराने में सफल सिद्ध होती है। राजनीतिक सिद्धान्तों एवं कुछ अंशों में शासन-व्यवस्था पर भी थोड़ा बहुत वे भले ही प्रकाश डाल दें पर राजनैतिक संगठनों का ठीक-ठीक उल्लेख करके तत्कालीन राजनीतिक अवस्था का बोध कराने में वे उतना सफल नहीं होतीं प्रत्युत यह कहना चाहिए कि इस दृष्टिकोण से वे पूर्णतया असमर्थ सिद्ध होती हैं। वास्तव में प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थों में ही हमें सर्वप्रथम राजनीतिक इतिहास की पृष्ठभूमि अधिक स्पष्ट रूप से प्राप्त होती है। इन ग्रन्थों में 'अंगुत्तर निकाय' अधिक महत्वपूर्ण है, पर 'महावस्तु' तथा 'भगवतीसूत्र' में भी जनपदों की तालिका दी गई है जिनमें कुछ विभिन्नता है। यहाँ हम अंगुत्तर निकाय में दी गई सूची के आधार पर १० महाजनपदों का संक्षिप्त विवरण देंगे।

महाजनपद

(१) अंग, (२) मगध, (३) काशी, (४) कोशल, (५) वज्जि, (६) मल्ल, (७) चेदि, (८) वंश या वत्स, (९) कुरु, (१०) पाञ्चाल, (११) मच्छ या मत्स्य, (१२) सूरसेन (१३) अस्सक, (१४) अवन्ति, (१५) गान्धार तथा (१६) कम्भोज आदि १६ महाजनपद थे।

विद्वानों ने उपरोक्त जनपदों की स्थिति इस प्रकार बताई है—

(१) अंग—चम्पा इस जनपद की राजधानी थी। वह मगध के अन्तर्गत आधुनिक भागलपुर के निकट था। प्रारम्भ में इस जनपद के राजाओं ने ब्रह्मदत्त के

सहयोग से मगध के कुछ राजाओं को पराजित भी किया था किन्तु कालान्तर में इनकी शक्ति क्षीण हो गई और इन्हे मगध से पराजित होना पड़ा।

(२) मगध—आधुनिक पटना तथा गया जिला इसमें सम्मिलित थे। इसकी राजधानी गिरिव्रज थी। भगवान बुद्ध के पूर्व बृहद्रथ तथा जरासन्ध यहाँ के प्रसिद्ध राजा हुए हैं।

(३) काशी—इसकी राजधानी वाराणसी या बनारस थी। पार्श्वनाथ के पिता अश्वसेन किसी समय यहाँ राज्य कर चुके थे।

(४) कोशल—आधुनिक अवध के अनेक भाग इसके अन्तर्गत थे। श्रावस्ती इसकी राजधानी थी। सहेत-महेत (गोंडा) मे आज भी इसके भग्नावशेष प्राप्त होते हैं। कस कभी यहाँ का शासक रहा जिसका संघर्ष बराबर काशी से होता रहा और अन्त मे कस ने काशी को अपने अधीन कर लिया।

(५) वज्जि—कई जातियो के सगठन स्वरूप वज्जि राज्य की उत्पत्ति हुई थी। वैशाली इसकी राजधानी थी।

(६) मल्ल—मल्लों की दो शाखाएँ थी—एक की राजधानी कुशीनारा (देवरिया जिले मे आधुनिक कसिया) तथा दूसरे की पावा (आधुनिक पडरौना) थी।

(७) चेदि—आधुनिक बुन्देलखण्ड तथा उसके समीपवर्ती भू-भाग इसमें सम्मिलित थे। शक्तिमती या सोथिवती इसकी राजधानी थी।

(८) वश या वत्स—अवन्ति के उत्तरपूर्व यमुना की तटवर्ती भूमि इसमें सम्मिलित थी। इसकी राजधानी कौशाम्बी (इलाहाबाद से ३० मील दूर) थी।

(९) कुरु—दिल्ली की समीपवर्ती भूमि तथा मेरठ इस जनपद के अधीन था। इसकी राजधानी सम्भवतः हस्तिनापुर या इन्द्रप्रस्थ थी।

(१०) पचाल—आधुनिक रुहेलखण्ड इसके अन्तर्गत था। मल्लों की भाँति इसकी भी दो शाखाएँ थी, पहली शाखा उत्तर पचाल की राजधानी अहिच्छत्र तथा दूसरी शाखा दक्षिण पचाल की राजधानी काम्पिल्य थी।

(११) मच्छ या मत्स्य—यह जनपद आधुनिक जयपुर रियासत में स्थित था। विराट नगर इसकी राजधानी थी।

(१२) सूरसेन—इसकी राजधानी मथुरा थी।

(१३) अस्सक—यह अवन्ति का एक समीपवर्ती राज्य था। प्रारम्भ में अस्सक गोदावरी नदी के तट पर बसे हुए थे और पोतलि अथवा पोतन इनकी राजधानी थी।

(१४) अवन्ति—इसके अन्तर्गत आधुनिक मालवा था। उज्जैन इसकी राजधानी थी। हैहयों ने कभी यहाँ राज्य किया था। माहिष्मती इसकी राजधानी थी।

(१५) गन्धार—आधुनिक काश्मीर तथा तक्षशिला के प्रदेश इसके अन्तर्गत थे। तक्षशिला इसकी राजधानी थी।

(१६) कम्बोज—ये गान्धारों के पड़ोसी थे। इनमें कभी निकट सम्बन्ध भी रहा होगा क्योंकि गान्धार-कम्बोज अनेक स्थलों पर साथ-साथ उल्लिखित हैं। राजपुर तथा द्वारका इनके दो प्रमुख नगर थे।

गण-राज्य

उपरोक्त १६ महाजनपदो के अतिरिक्त कुछ गण-राज्यों का उल्लेख भी प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में किया गया है। ये गण-राज्य निम्नलिखित हैं :—

(१) कपिलवत्थु (कपिलवस्तु) के शाक्य,
(२) अल्लकप्प के बुली,
(३) केसपुत्त के कालाम,
(४) सु समगिरि के भग्ग,
(५) रामगाम के कोलीय,
(६) पावा के मल्ल,
(७) कुशीनारा के मल्ल,
(८) पिप्पलिवन के मोरिय,
(९) मिथिला के विदेह,
(१०) वैशाली के लिच्छिवी तथा
(११) वैशाली के नाय।

इन गण-राज्यों पर सक्षेप मे नीचे प्रकाश डाला जायगा।

(१) कपिलवस्तु के शाक्य—महात्मा गौतम बुद्ध का जन्म इसी कुल मे हुआ था, अत यह स्वाभाविक है कि बौद्ध ग्रन्था मे इसका विस्तृत पर अतिरजित वर्णन मिले। शाक्य नैपाल की सीमा पर हिमालय की तराई मे रहते थे। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु थी। शाक्यों का गण-राज्य काफी उन्नत था और उन्होंने अनेक विशाल नगरो का निर्माण किया था। राइस डेविस के मतानुसार उक्त गण-राज्य मे ८०,००० कुटुम्ब (लगभग पॉच लाख मनुष्य) थे।

शाक्यों का शासन-प्रबन्ध अत्यन्त सुन्दर था। इनकी मन्त्रणा-सभा काफी विषद थी। इस सभा द्वारा ही न्याय तथा शान्ति की व्यवस्था की जाती थी। इसका प्रधान 'राजा' कहलाता था। महात्मा बुद्ध के पिता शुद्धोदन भी इसके 'राजा' रह चुके थे। 'सथागार' में ५०० सदस्यों की सभा होती थी। किसी विषय पर मतैक्य न होने पर 'शलाकाओं' (वोटिंग) द्वारा बहुमत लिया जाता था, जो सर्वथा मान्य था।

शाक्यों में विद्या एव कला के प्रति विशेष अनुराग था। कपिलवस्तु उस समय शिक्षा एव सस्कृति का केन्द्र माना जाता था। महात्मा बुद्ध ने यहीं विभिन्न प्रकार की कलाओं का अध्ययन सफलतापूर्वक किया था जिसके फलस्वरूप ५०० शाक्यों को प्रतियोगिता मे पराजित करके ही वे यशोधरा को ग्रहण कर पाये थे। शाक्यों को अपनी कला एव सस्कृति पर गर्व था और उसे स्थायित्व देने तथा उसमे किसी प्रकार का सम्मिश्रण न होने देने के अभिप्राय से ही वे अपने इतर वर्गवाले क्षत्रियों से वैवाहिक सम्बन्ध नहीं स्थापित करना चाहते थे। यही कारण था कि उन्होंने कौशल नरेश प्रसेनजित को शाक्य कन्या न देकर एक दासी से ब्याह कर दिया।

(२) अल्लकप्प के बुली—बुली वेथदीय राज के निकट ही कहीं बसे थे। इनकी भूमि आधुनिक शाहाबाद तथा मुजफ्फरपुर के बीच कहीं थी।

(३) केसपुत्त के कालाम—महात्मा गौतम बुद्ध के गुरु आलारकालाम इसी

कुल के थे। इनका सम्बन्ध सम्भवतः शतपथ ब्राह्मण में वर्णित पंचाल केशियों से है।

(४) सुसुमागिरि के भग्ग—ये ऐतरेय ब्राह्मण के प्राचीन भग्ग थे। डा० के० पी० जायसवाल के अनुसार इनकी भूमि में मिर्जापुर तथा उसका समीपवर्ती भू-भाग सम्मिलित था।

(५) रामगाम के कोलीय—इनका निवास-स्थान प्रसिद्ध शाक्यों के पूर्व में था। दोनों गणराज्यों के मध्य में रोहिणी नदी थी। सिंचाई के लिए रोहिणी के जल के प्रश्न पर दोनों गण-राज्यों में संघर्ष हो जाया करते थे। इसी पारस्परिक कलह की शान्ति के लिए ही सम्भवतः महात्मा बुद्ध के पिता शुद्धोदन ने कोलियों की दो कन्याओं से ब्याह किया था। महात्मा बुद्ध को भी इसी प्रकार के एक कलह को शान्त करना पड़ा था जिसका उल्लेख जातक में किया गया है।

(६) पावा के मल्ल—ये वशिष्ठ गोत्र के क्षत्रिय थे। इनकी दो शाखाएँ थीं। पहली शाखा पावा के मल्ल सम्भवतः आधुनिक पड़रौना में बसे थे। किन्तु डा० कनिंघम के इस मत के विरुद्ध कुछ इतिहासकार फाजिलपुर को ही पावा मानते हैं। पावा में ही महात्मा महावीर ने पंचत्व प्राप्त किया था।

(७) कुशीनारा के मल्ल—यह मल्लों की दूसरी शाखा थी। आधुनिक कसिया ही कुशीनारा नाम से विख्यात था। यहीं महात्मा बुद्ध का परिनिब्बान (परिनिर्वाण) हुआ था जिसका प्रमाण कसिया में प्राप्त महात्मा गौतम बुद्ध की परिनिर्वाण मुद्रा में सोई हुई एक विशाल मूर्ति है।

मल्लों को भी शाक्यों की भाँति शिक्षा एवं कला से विशेष रुचि थी। सुदूर तक्षशिला में मल्लों के एक प्रमुख ने अपने पुत्र बन्धुल को विद्याध्ययन के लिए भेजा था। दर्शन के क्षेत्र में भी ये काफी आगे बढ़े थे और इनका एक नगर उरवेलकप्प तो दार्शनिक वाद-विवाद के लिए प्रसिद्ध था। धर्म के प्रति भी इनकी विशेष रुचि थी। बौद्ध धर्म के उत्थान में मल्लों की प्रशंसनीय देन है। अनरुद्ध, आनन्द, उपालि आदि के नाम एवं कार्य इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय हैं।

(८) पिप्पलियन के मोरिय—महावंश टीका से ज्ञात होता है कि मोरिय पहले शाक्य थे पर कालान्तर में विड्डभ की क्रूरता से ऊबकर ये स्थानान्तरण करके हिमालय के पर्वतीय भाग में चले आये जहाँ उन्होंने पिप्पलियन नगर का निर्माण किया। इन्हें मोरिय की संज्ञा इसलिए दी गई थी कि इनकी नगरी सर्वदा मोरों के शब्दों से गुञ्जरित रहती थी। मगध साम्राज्य का निर्माता चन्द्रगुप्त इन्हीं मोरिय (मौर्यों) का वंशज था।

(९) मिथिला के विदेह—मिथिला इनकी राजधानी थी। जातक से ज्ञात होता है कि यह बहुत ही प्रसिद्ध व्यापारिक नगर था और दूर-दूर के व्यापारी यहाँ व्यापार करने आते थे।

(१०) वैशाली के लिच्छिवी—लिच्छिवी क्षत्रिय थे। इनके वैवाहिक सम्बन्धों के आधार पर ही हम इन्हें क्षत्रिय मानते हैं। महावीर के पिता सिद्धार्थ ने इनकी कन्या से ब्याह किया था। क्षत्रिय होने के कारण ही महात्मा बुद्ध के भस्मावशेष में ये अधि-

कारी हुए। वैशाली इनकी राजधानी थी। महावस्तु, महाभग्ग, महापरिनिब्बान सुत्त आदि से ज्ञात होता है कि महात्मा गौतम बुद्ध के काल में लिच्छिवियों ने आशातीत उन्नति कर ली थी। इनके अनेक नगर अत्यधिक सुसज्जित एवं समृद्धशाली थे। नगर में चारों ओर अनेक चैत्य, विहार तथा राजप्रासाद थे। राजप्रासाद विभिन्न कुलीन सरदारों के थे।

लिच्छिवियों का शासन अत्यन्त सुव्यवस्थित था। गण राज्य में ७,७०७ 'राजा' अनेक 'उपराजा', 'सेनापति', तथा 'भाण्डागारिक' थे। मिथिला के विदेह, वैशाली के लिच्छिवी तथा नाय का ही एक संगठन 'अट्ठकुल' (अष्टकुल) के नाम से विख्यात था।

महापरिनिब्बान सुत्त से ज्ञात होता है कि लिच्छिवियों का गण राज्य अनेक विशेषताओं से युक्त था। उनमें मतैक्य, सौहार्द्र, आदर, दृढ़ता आदि की भावना बलवती थी। इन गुणों के अतिरिक्त उनमें एक सर्वश्रेष्ठ गुण था राष्ट्रीयता की प्रबल भावना। महात्मा बुद्ध ने इनकी सहिष्णुता की काफी प्रशंसा की है। लिच्छिवियों पर बुद्ध तथा जैन के उपदेशों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा और अनेक राजकुमारों ने धार्मिक-क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किये।

(११) वैशाली के नाय—अष्टकुल का उल्लेख पीछे किया गया है। इसके अन्तर्गत आठ गण थे जिनमें विदेह, ज्ञात्रिक, लिच्छिवी तथा वज्जि सम्मिलित थे। उग्र, भोग, ऐक्ष्वाकु तथा कौरव अन्य चार गण थे। ज्ञात्रिक कश्यप गोत्र के क्षत्रिय थे। सूत्र-कृतांग से ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी का जन्म इसी कुल में हुआ था क्योंकि उक्त ग्रन्थ ने उन्हें 'सर्वोच्च जिन', ज्ञात्रिपुत्र महावीर' कहा है। ज्ञात्रिकों का अपना गण-राज्य वैशाली, कुण्डग्गाम तथा वनियगाम से युक्त था और इसका केन्द्र कोल्लग नामक स्थान में था।

संघ की बैठक—'संथागार' या 'आराम' में 'आसनपन्नापक' नामक अधिकारी 'अदसक निसीदनम्' (चटाई या कम्बल) पर लोगों के बैठने का प्रबन्ध करता था। संघों में एक निश्चित सदस्यों की उपस्थिति वाञ्छनीय थी। यह संख्या ५, १०, २० या इससे भी अधिक थी। निश्चित संख्या से कम उपस्थिति होने पर (कोरम पूरा न होने पर) सभा स्थगित करनी पड़ती थी अन्यथा उसकी कार्यवाही मान्य नहीं समझी जाती थी। कभी-कभी कोरम की पूर्ति स्थानापन्न व्यक्ति द्वारा कर ली जाती थी जिसे 'गण-पूरक' कहते थे। संघ के प्रधान 'विनयधार' को कोरम के इतर समझा जाता था। इस कोरम में 'भिक्षु-णियों', अजातीय व्यक्तियों तथा उस व्यक्ति को भी सम्मिलित किया जाता था जिसके विरुद्ध संघ की कार्यवाही होने को रहती थी। चूलवग्ग में संघ की कार्यवाही को मान्यता देने के लिए आवश्यक तत्वों का निरूपण किया गया है जिसके अनुसार कोई भी बैठक तब तक जायज नहीं मानी जाती थी जब तक (१) उसका कोरम पूर्ण न हो, (२) केवल योग्य व्यक्तियों से युक्त न हो, (३) उसमें मत न माँगा जाय, (४) विचाराधीन विषय पर संघ की अनुमति न ले ली जाय तथा (५) प्रस्ताव का पाठ तीन बार न किया जाय।

'ज्ञप्ति' की 'स्थापना' से कार्यवाही आरम्भ होती थी और तत्पश्चात् इसकी घोषणा (अनुस्सावनम्) की जाती थी । 'अनग्र' (विषयेतर वार्ता) निषेध थी। 'ज्ञप्ति द्वितीय' या 'ज्ञप्ति चतुर्थकम्म' से ज्ञात होता है कि कभी-कभी दो बार और कभी चार-चार बार तक प्रस्तावपाठ होता था। महावग्ग से यह पता चलता है कि जो प्रस्ताव के समर्थक थे उन्हें मौन रहने को कहा जाता था और जो इसके विरोधी थे वे बोलते थे। कभी-कभी वादाविवाद इतना अधिक बढ़ जाता था कि 'कलह' उत्पन्न हो जाती थी। जब किसी प्रश्न पर किसी स्थान (आवास) का संघ मतैक्य नहीं हो पाता था तो उसके समस्त सदस्य अपने निकटवर्ती किसी बड़े संघ में जाते थे और वहाँ भी मान्य निर्णय न होने पर समस्या हर प्रकार से कुशल एवं योग्य व्यक्तियों (सदस्यों) की चुनी हुई सभा (उद्वाहिका सभा) के सम्मुख रखी जाती थी। यदि उक्त सभा भी समझौता नहीं करा पाती थी तो मामला सम्पूर्ण संघ के सम्मुख रख दिया जाता था जिसमें 'वोटिंग' द्वारा निर्णय लिया जाता था, जिसे 'येभ्भुय्यसिकेन' कहते थे। पोलिंग-आफिसर 'छन्द' (पक्षपात) दोष, मोह, भय आदि से रहित होता था। 'शलाका' द्वारा वोट लिया जाता था, 'शलाकाग्राहापक' (पोलिंग-आफिसर) इन शलाकाओं को एकत्रित कर लेता था। संघ की जो बैठकें होती थीं उनका लेखा रखने के लिए लिपिक होते थे। चार-चार ऐसे कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे।

गणतन्त्रों की विधान-निर्मात्री सभा का हमें कुछ स्पष्ट ज्ञान नहीं प्राप्त है। सम्भवतः केन्द्रीय समिति पर ही इसका उत्तरदायित्व था।

उपरोक्त विवरण से यह परिलक्षित होता है कि तत्कालीन भारत में संघ का महत्त्व बहुत अधिक था। इनकी बैठकों के इस विराट विवरण से हमें जनता की राजनीतिक जागरूकता का भी बोध होता है। आधुनिक युग में संघ-सरकार की सभाओं में जिन पद्धतियों का प्रचलन है उनमें लगभग सारी उन प्राचीन काल में प्रचलित थीं। स्वयं महात्मा बुद्ध भी गण-राज्यों की इस व्यवस्था से काफी प्रभावित हुए थे और इन्हीं संघों के आधार पर पश्चात् कालीन बौद्ध संघ का संगठन हुआ था।

राजतन्त्रीय राज्य

१६ महाजनपदों तथा ११ गण-राज्यों के अतिरिक्त चार विशाल राजतन्त्रीय राज्यों का भी बोध हमें बौद्ध ग्रन्थों से होता है। यहाँ हम उन चार प्रमुख राज्यों का वर्णन करेंगे जो उस समय समस्त उत्तरी भारत में प्रसिद्ध थे, जिनकी शक्ति अपरिमित थी और जो साम्राज्यवाद की बलवती भावना से ओत-प्रोत थे। ये राज्य (१) वत्स, (२) अवन्ति, (३) मगध और (४) कोशल हैं।

वत्स—वत्स की राजधानी कोशाम्बी थी जो इलाहाबाद से २८ मील दूर कोसम गाँव की निकटवर्ती भूमि के पास या सम्भवतः उसी स्थान में थी। महात्मा गौतम बुद्ध के काल में व्यापार में इसने आशातीत उन्नति कर ली थी। इसका व्यापारिक महत्त्व रखने का प्रमुख कारण यह था कि यह विदिशा होते हुये उज्जैन जाने के व्यापारिक मार्ग में पड़ता था। बुद्ध काल में उदयन यहाँ का शासक था। उदयन के सम्बन्ध में कहानियों का बाहुल्य है पर ये इतिहास के कितने निकट हैं यह नहीं कहा जा सकता।

उदयन के सम्बन्ध मे कथासरित्सागर मे पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है पर जैसा कि डी० आर० भण्डारकर का मत है इसका अधिकाश अविश्वसनीय है।

उदयन की शक्ति के सम्बन्ध मे बौद्ध ग्रन्थ बहुत उदार वृत्ति रखते हुए बताते हैं कि वह अत्यन्त शक्तिशाली था और उसकी सेना सर्वथा सशस्त्र सीमाओ पर तैयार रहती थी। कथासरित्सागर तथा प्रियदर्शिका से उदयन की दिग्विजयो का बोध होता है। इनके अनुसार उदयन ने कलिंग को हराया था। कोशल मे भी उसकी शत्रुता थी। उदयन के पुत्र का नाम बोधि था जो सुमुमारगिरि के भग्ग नगर पर युवराज के रूप मे शासन करता था। पर इसके आगे यह नहीं ज्ञात होता कि उदयन के पश्चात् उसके पुत्र ने वत्स पर राज्य किया अथवा नहीं।

उदयन बौद्ध भिक्षु पिण्डोल भरद्वाज द्वारा बौद्धधर्म का समर्थक एव उसका रक्षक बनाया गया था।

अवन्ति—अवन्ति राज्य के अन्तर्गत आधुनिक मध्य मालवा, निमार, मध्य प्रदेश तथा बरार के पडोसी देश सम्मिलित थे। बुद्ध काल म यहाँ का शासक प्रज्योत या प्रद्योत था। प्रद्योत को बौद्ध ग्रन्थो मे क्रूर, महत्वाकाक्षी एव युद्धप्रिय के रूप मे चित्रित किया गया है। उदयन को किसी प्रकार पराजित करके उसके राज्य का अात्मसात करने की ही कामना निरन्तर प्रद्योत के हृदय मे जोर मारती रही। प्रद्योत अपनी राजधानी उज्जैन से निरन्तर इस प्रकार का प्रयास करता रहा। वासवदत्ता जिसका हरण उदयन ने कर लिया था इसकी रानी अगारवती से उत्पन्न हुई थी। प्रद्योत ने धोखे से उदयन को बन्दी बना लिया था। उदयन ने भी इस छल का प्रत्युत्तर भली भाँति दिया और उसकी पुत्री वासवदत्ता को ही राज्य महल से चुपके से निकाल ले गया।

प्रद्योत के दो पुत्र गोपाल तथा पालक थे। गोपाल ने अपने छोटे भाई पालक के लिए गद्दी छोड़ दी थी। सम्भवत कालान्तर मे प्रद्योत महाकाच्यायन के प्रभाव से बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। तत्पश्चात् अवन्ति बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण केन्द्र हो गया।

मगध—इन चार प्राचीन नृपतत्रो (वत्स, अवन्ति, मगध तथा कोशल) मे मगध ही अत्यधिक शक्तिशाली प्रतीत होता है। मगध के दो प्रसिद्ध राजाओ—बिम्बिसार तथा अजातशत्रु का इतिहास ही प्राचीन मगध का इतिहास है। अत हम इन पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डालेगे। पुराणो के अनुसार मगध का सर्वप्रथम बार्हद्रथ वश का शासन रहा। तत्पश्चात् वज्जिवश वालो ने इसे बलपूर्वक अपने अधीन कर लिया और बिम्बिसार ने इन्हे गगा नदी की ओर भगा कर मगध पर अपना अधिकार स्थापित करके राजगृह को अपनी राजधानी बना लिया।

बिम्बिसार का शासन तथा उनकी विजऐं—बिम्बिसार की राजधानी गिरिव्रज थी पर बाद मे उसने इसे बदल दिया और राजगृह मे नवीन राजधानी की स्थापना की। महाभारत के अनुसार गिरिव्रज जरासन्ध की राजधानी थी। बुद्धघोष ने राजगृह को 'बिम्बिसारपुरी' बताया है।

बिम्बिसार ने कौशाम्बी का राज्य, स्तानीक द्वारा विजित अग राज्य को अपने अधीन बनाकर अपने राज्य की सीमा काफी विस्तृत कर दी थी। उसने अग को एक पृथक् प्रान्त बनाकर कुणिक को उसका गवर्नर बना दिया। कुणिक चम्पा में रहकर अग

का शासन-भार सँभालता था। अंग के अन्तर्गत अनेक बड़े-बड़े नगर थे, अतः अब वे सभी बिम्बिसार की राज्य-सीमा के अन्तर्गत हो गये। इसके राज्य में ८०,००० गाँव सम्मिलित थे। इसका क्षेत्रफल लगभग ६०० मील से भी अधिक था और जिसे अजात-शत्रु ने अपनी अन्य विजयों द्वारा १५,००० मील कर दिया। बिम्बिसार के राज्य में कुछ गण-राज्य भी थे जिनके शासन 'राजकुमारों' के हाथ में थे।

बिम्बिसार का शासन बहुत ही कठोर था। दण्ड-विधान में किसी प्रकार की दया का स्थान न था। 'महामात्र', 'सब्बात्थक', 'वोहारिक', 'सेनापति' आदि राजकर्मचारियों का उल्लेख मिलता है।

बिम्बिसार का धर्म—जैन मतावलम्बियों का यह कहना है कि वह जैन था और महावीर स्वामी का अनन्य भक्त था। बिम्बिसार बहुत ही श्रद्धा एवं आदर के साथ महावीर स्वामी के पास गया था और पत्नियों, नौकरों तथा सम्बन्धियों के साथ जैनमतावलम्बी हो गया। उसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि बिम्बिसार गौतम से गिरिव्रज में मिल चुका था और यद्यपि वे अभी बुद्ध नहीं हो पाये थे तथापि वह उनसे बहुत प्रभावित हुआ। महात्मा बुद्ध से भी वह अपनी नई राजधानी राजगृह में मिल चुका था और उसने बुद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

मृत्यु—अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार का अन्त बुद्ध भगवान के निर्वाण के आठ वर्ष पूर्व अर्थात् ५५१ ई०पू० में कर दिया। सम्भवतः इसके पूर्व ही बिम्बिसार ने हत्या पर तुले अजात शत्रु को सिंहासन दे दिया था।

अजातशत्रु—बौद्ध ग्रन्थ विनय से हमें अजातशत्रु के काले कारनामे का बोध होता है। उक्त ग्रन्थ में यह बताया गया है कि महात्मा बुद्ध के विरोधी देवदत्त ने अजात-शत्रु को भड़काकर बिम्बिसार के विरुद्ध कर दिया और उसने इस राजकुमार को इतना बरगलाया की एक दिन वह छूरा लेकर पिता की हत्या के लिए उसके अन्तःपुर में पहुँच गया, पर प्रहरियों ने उसे पकड़ लिया। जब बिम्बिसार को पुत्र का यह दुष्कृत्य तथा उसका मन्तव्य ज्ञात हुआ तो उसने उसे न केवल क्षमा कर दिया वरन् अपना राज्य भी उसे दे दिया। पर अजातशत्रु को इस पर भी सन्तोष नहीं हुआ और उसने पिता का वध अपने हाथों ही कर दिया। देवदत्त ने उससे कहा था कि जीवन थोड़े दिनों का होता है और शासन-सूत्र उसके हाथों में काफी दिनों में आ सकता है। अतः राजकुमार! अपने पिता का वध करो और राजा बनो। अजातशत्रु ने स्वयं ही महात्मा गौतम बुद्ध के सम्मुख यह स्वीकार किया कि उसने अपने पिता का वध राज्य के लिए किया था।

अजातशत्रु की विजय—लगभग ५५१ ई० पू० में अजातशत्रु सिंहासना-रूढ़ हुआ। उधर पति की अकस्मात् मृत्यु से शोकपीड़िता कोशल देवी भी अधिक दिन तक वैधव्य न स्वीकार कर सकी और उसका भी देहावसान हो गया। प्रसेनजित के पिता महाकोशल ने अपनी पुत्री कोशला देवी का ब्याह अजातशत्रु के पिता बिम्बिसार के करने के पश्चात् ही काशी नगरी को दहेज रूप में दे दिया था। अब जो विकट परि-स्थिति अजातशत्रु के सम्मुख उपस्थित होती है उसके मूल में यही दहेज में प्राप्त काशी नगरी है। अजातशत्रु निज के राज्याधीन अन्य नगरों की भाँति काशी को भी अपने अधीन समझता था और इस प्रकार बहुत दिनों तक काशी नगरी के हेतु झगड़ा चलता रहा।

पर कोशला देवी की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई प्रसेनजित यह कदापि स्वीकार नहीं कर सकता था कि पितृ-हन्ता अजातशत्रु का अधिकार काशी पर अब भी पूर्ववत् बना रहे। अतः उसने इसका विरोध किया और फलस्वरूप कोशल-मगध में संघर्ष छिड़ गया। प्रारम्भ में प्रसेनजित को पराजित होकर श्रावस्ती भाग जाना पड़ा पर बाद में वह अजातशत्रु की सम्पूर्ण सेना को उसके साथ बन्दी बनाने में सफल हो गया।

अन्त में दोनों में सन्धि हो गई है और प्रसेनजित ने अजातशत्रु की सेना, उसका राज्य आदि लौटा दिया, साथ ही अपनी पुत्री वजिरा का ब्याह भी उससे कर दिया।

अजातशत्रु का दूसरा संघर्ष वैशाली के लिच्छिवियों से हुआ। हम जानते हैं कि अजातशत्रु वैदेही पुत्र था। अर्थात् उसकी माता वैदेही अर्थात् लिच्छिवि राजकुमारी थी। अब इन्हीं लिच्छिवियों (वज्जियों) से अजात शत्रु ने संघर्ष छेड़ दिया।

अजातशत्रु को इस द्वितीय संग्राम में बहुत बड़ी शक्ति का सामना करना पड़ा था जिसमें अनेक सम्मिलित शक्तियाँ थीं। केवल लिच्छिवी ही काफी शक्तिशाली हो चुके थे। उनकी सामरिक शक्ति, सच्चरित्रता, नियमितता तथा कष्ट सहिष्णुता की चर्चा स्वयं भगवान् बुद्ध ने की है और कहा है कि वे अजेय और अभेद्य हैं क्योंकि वे गण-राज्य को शक्तिशाली बनाने के लिए सभी आवश्यक तत्वों का पालन करते हैं, स्वतंत्र एवं परिपूर्ण सभाएँ करते हैं मत एवं नीति में एकता रखते हैं, प्राचीन प्रथाओं, रीति-रिवाजों एवं विश्वासों का पालन करते हैं, बड़ों का आदर करते हैं, नारियों तथा सन्यासियों का सम्मान करते हैं आदि आदि। निश्चय ही अजातशत्रु लिच्छिवियों को पराजित करने में काफी परेशान हो जाता और सम्भवतः अन्त में भी उसे विजय न मिलती पर उसे यह मूलमंत्र ज्ञात हुआ कि लिच्छिवियों के संघ में फूट उत्पन्न करके उनका नाश किया जा सकता है और अन्त में उसने किया भी यही। उसने अपने राज्य की सीमा पर स्थित पाटलिग्राम को, जो आगे चलकर पाटलिपुत्र हुआ, युद्ध केन्द्र बनाने का निश्चय किया और वहाँ पर अत्यन्त सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण तेजी से किया जाने लगा। इस दुर्ग का निर्माण अजातशत्रु के दो योग्य एवं कुशल मंत्री सुनीध तथा वस्सकार के निरीक्षण में हुआ। वहाँ उक्त मंत्रियों ने गौतम बुद्ध को आमंत्रित भी किया और तभी महात्मा बुद्ध ने यह भविष्यवाणी की थी कि पाटलिपुत्र आर्यावर्त की एक प्रमुख नगरी होगी। दुर्ग बन जाने के बाद अजातशत्रु ने रण-भेरी बजा दी। उसकी कूटनीति वास्तव में पूर्णरूप से सफल हुई। लिच्छिवियों में परस्पर वाद-विवाद होने लगा कि कौन पहले आगे बढ़े। अन्ततोगत्वा अजातशत्रु की विजय हुई पर उसे इस युद्ध में जैनग्रन्थों के कथनानुसार १६ वर्ष लगे।

अजातशत्रु की बढ़ती हुई ताकत का प्रतिस्पर्धी अवन्ति का चण्डप्रद्योत था। चण्डप्रद्योत तथा अजातशत्रु के पिता बिम्बिसार में सुन्दर पारस्परिक व्यवहार था—क्योंकि बौद्ध ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि जिस समय चण्डप्रद्योत पाण्डु रोग से प्रपीड़ित था उस समय उसकी चिकित्सा के लिए बिम्बिसार ने अपने राजवैद्य जीवक को भेजा था। किन्तु अजातशत्रु से इसके सम्बन्ध अच्छे नहीं जान पड़ते क्योंकि प्रद्योत के आक्रमण के भय से ही उसने राजगृह की किलेबन्दी करवाई थी।

अजातशत्रु का धर्म—ज्ञात होता है कुणिक (अजातशत्रु) अपनी पत्नी तथा अपने सहचरों के साथ महावीर स्वामी के पास आया करता था। जब वह वैशाली में था तब भी उसने महावीर स्वामी से भेंट की थी। यहाँ उसने जैन भिक्षुओं के प्रति अपने शुभ हार्दिक उद्गार प्रकट किये थे। उसने महावीर द्वारा प्रशस्त मार्ग की प्रशंसा मुक्त कण्ठ से की। तत्पश्चात् वह कब बौद्ध हो गया, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता, केवल यही अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवत. महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् ही वह बौद्ध हुआ।

कोशल—कोशल का इतिहास कस से आरम्भ होता है। कस के सम्बन्ध मे केवल इतना ज्ञात है कि इसने काशी राज्य को कोशल में मिला लिया था। पर इसका भी कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं प्राप्त है। कोशल का सर्वश्रेष्ठ बुद्धकालीन राजा पसेनिद या प्रसेनजित कस के ही वश का था। वास्तव में प्रसनेजित के शासनकाल मे ही कोशल का विकास हो सका।

प्रसेनजित ने तक्षशिला मे शिक्षा प्राप्त की थी। प्रसेनजित के पिता महाकोशल ने अपनी पुत्री का ब्याह मगध-नरेश बिम्बिसार से कर दिया था। इस वैवाहिक सम्बन्ध से प्रसेनजित और बिम्बिसार में पारस्परिक मेल था पर कालान्तर मे बिम्बिसार की मृत्यु के पश्चात् यही सम्बन्ध अजातशत्रु तथा प्रसेनजित के सघर्ष का कारण बना जिस पर प्रकाश डाला जा चुका है।

कोशल के तीन प्रसिद्ध नगर अयोध्या, साकेत तथा श्रावस्ती थे। जैसा कि प्रारम्भ मे ही बताया गया है प्रसनेजित अत्यन्त उदार और दानी था। महात्मा बुद्ध और उसके सम्बन्ध का उल्लेख हमें बौद्ध ग्रन्थों में मिलते हैं।

प्रसेनजित के पश्चात् उसका पुत्र विडुडभ कोशल के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। विडुडभ ने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया था। ज्ञात होता है प्रसेनजित ने बुद्ध भगवान के प्रति असीम श्रद्धा भाव से प्रेरित होकर उनके ही कुल शाक्य कुल से एक शाक्य कुमारी विवाह मे माँगी। शाक्यों ने आत्माभिमान मे चूर होकर शाक्य कुमारी न देकर एक दासी कन्या भेज दी। इसी दासी कन्या वासभ-खत्तिया से विडुडभ उत्पन्न हुआ था और जिस समय प्रसेनजित को इस रहस्य का बोध हुआ तो उसने इन दोनो को राज्यच्युत कर दिया। किन्तु महात्मा बुद्ध के समझाने-बुझाने पर प्रसनेजित ने उन्हें पुनः सम्मानित किया। इन सारे कार्यों ने विडुडभ को विद्रोही बनाने मे योग दिया। किन्तु अपने अपमान का प्रतिकार केवल पिता से लेकर ही वह मौन रहने वाला न था। इस अपमान के मूल कारण शाक्यों को भी वह भली-भाति ध्वस्त कर देना चाहता था। अतः उसने इन पर आक्रमण कर दिया। अचिरवती नदी पर विडुडभ तथा शाक्यों की मुठभेड़ हुई। कहा जाता है कि उसने शाक्यों को पूर्णतया ध्वस्त कर दिया पर अचिरवती नदी में ऐसी बाढ़ आ गई कि उसमें विडुडभ समस्त सेना सहित बह गया।

अन्त में मगध कोशल की बढ़ती हुई ताकत मे विलीन होकर उसका एक विजित प्रदेश हो गया।

बुद्धकालीन भारत की इस राजनीतिक व्यवस्था के अवलोकन के पश्चात्

ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण उत्तरी भारत में अनेक छोटे छोटे गणराज्य विद्यमान थे जिनमें आधुनिक प्रजातन्त्र के अधिकांश तत्व विद्यमान थे। यद्यपि इन गण-राज्यों में कुछ चुने हुए व्यक्तियों द्वारा ही शासन होता था तथापि बहुमत माना जाता था। गण-राज्यों के साथ-साथ स्वतन्त्र राज्य भी उन्नत अवस्था में थे। मगध राज्य उन्नति के प्रथम सोपान पर पदार्पण कर रहा था। गण-राज्यों को अपने में विलीन करके तथा कुछ दूसरे राज्यों को भी पराजित करके वह शक्तिशाली राज्य बनता जा रहा था।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. उत्तर भारत की छठी शताब्दी ई० पू० की राजनीतिक अवस्था का संक्षिप्त परिचय दीजिये।

२. मगध के उत्कर्ष का इतिहास लिखिए।

३. अजातशत्रु के विषय में आप क्या जानते हैं?

४. छठी शताब्दी ई० पू० के गणतन्त्रीय शासन का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

अध्याय ९

जैन धर्म

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार जैन धर्म काफी पुराना है और महावीर के पूर्व भी २३ तीर्थंकर हो चुके थे। २४ तीर्थंकरों के नाम इस प्रकार हैं :—

(१) ऋषभदेव, (२) अजितनाथ, (३) सम्भवनाथ, (४) अभिनन्दन नाथ, (५) सुमतिनाथ, (६) सुपद्मनाथ, (७) सुपार्श्व नाथ, (८) चन्द्रप्रभु, (९) पुष्पदन्त, (१०) शीतल नाथ, (११) श्रीयांस नाथ, (१२) वसुपद्म, (१३) विमल नाथ, (१४) अनन्त नाथ, (१५) धर्मनाथ (१६) सन्त नाथ, (१७) कुम्भनाथ, (१८) अरनाथ, (१९) मल्लिनाथ, (२०) मुनिसव्रत नाथ, (२०) नमिनाथ, (२२) नेमिनाथ, (२३) पार्श्वनाथ तथा (२४) वर्धमान महावीर।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के सम्बन्ध में इनका कहना है कि ये एक राजा थे और अपने पुत्र भारत के लिए सिंहासन रिक्त करके ये सन्यासी हो गये। तेइसवें तीर्थंकर ही वास्तव में ऐतिहासिक व्यक्ति ज्ञात होते हैं। इनकी तिथि अनुमानत. ई० पू० आठवीं सदी है।

पार्श्वनाथ—जैसा कि ऊपर बताया गया है पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति ज्ञात होते हैं। कल्पसूत्र के अनुसार ये इक्ष्वाकु वंशीय क्षत्रिय राजा अश्वसेन के पुत्र थे। इनकी माता का नाम वामा तथा पत्नी का नाम प्रभावती था। इनके पिता बनारस के राजा थे। पार्श्वनाथ ने वहीं, आश्रमपद नामक उपवन में ३½ दिन तक उपवास करने के पश्चात् सन्यास ग्रहण कर लिया। ८३ दिनों तक गहन चिन्ता के उपरान्त उन्हें ज्ञान (केवल्य, कैवल्य) प्राप्त हुआ। पार्श्वनाथ के साथ आठ 'गण' तथा आठ 'गणधार' थे। इनके नाम इस प्रकार थे—(१) शुभ, (२) आर्यघोष, (३) वशिष्ठ (४) ब्रह्मचारिन, (५) सौम्य, (६) श्रीधर, (७) वीरभद्र तथा (८) यशस।

इनके साथ अनेक श्रमन तथा सन्यासियों का भी उल्लेख मिलता है। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार पार्श्वनाथ ने १०० वर्षों की आयु में सम्मेत पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया। पार्श्वनाथ के प्रमुख चार सिद्धान्त थे :—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय तथा (४) अपरिग्रह।

महावीर

महावीर का जन्म काश्यप गोत्रीय क्षत्रिय सिद्धार्थ के घर में हुआ। सिद्धार्थ कुण्डग्राम (वैशाली) के एक सम्भ्रान्त व्यक्ति थे। ये किसी अपने नाम के एक छोटे से कुल के प्रधान थे जिसका नाम ज्ञातिक कुल था। सिद्धार्थ की प्रतिष्ठा एवं उनका स्थान अपने वंश के कुल प्रधानों में इसलिए ऊँचा हो गया था कि उन्होंने प्रसिद्ध लिच्छवि राजा चेतक की बहन से अपना ब्याह किया था।

महावीर का ब्याह यशोदा से हुआ था जिससे अनुज्जा या प्रियदर्शना नामक पुत्री भी उत्पन्न हुई।

तीस वर्ष गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के पश्चात् माता-पिता के स्वर्गवास के उपरान्त अपने बड़े भ्राता नन्दिवर्धन से आज्ञा लेकर वर्धमान ने गृहत्याग किया। घर छोड़ते समय उनके साथ असंख्य लोग चले जिन्हें वर्धमान ने शान्दवन में आकर लौटा दिया। बारह वर्षों तक की कठिन तपश्चर्या, शारीरिक यन्त्रणा के पश्चात् उन्हें जृम्भिका ग्राम के निकट रिजुपालिका नामक नदी के तट पर शाल के वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त हुआ और वे 'जिन' या 'अरहत' हुए।



चित्र ७—महावीर स्वामी

महावीर-धर्म प्रचारक के रूप में— महावीर के जीवन की कठिनाइयों को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि उनमें जो कष्ट सहिष्णुता थी वह सचमुच अनुपमेय थी। महावीर ने अपने ज्ञान का प्रचार हर प्रकार की यातनायें सहकर भी करने का निश्चय किया। प्रारम्भ में तो वे अकेले ही घूमा करते थे पर कुछ काल पश्चात् उन्हें घोषाल नाम का एक सहयोगी भी मिल गया।

महावीर को धर्म-प्रचार करने में साधारण कठिनाइयों का ही सामना नहीं करना पड़ा। उस समय भारत में प्राचीन वैदिक धर्म के अनेक सम्प्रदाय तथा कुछ नवीन धार्मिक दल विद्यमान थे। इनमें बुद्ध, वार्हस्पत्य, नास्तिक या चार्वाक, वेदान्तीय, सांख्य, अपृष्ठवादीय, आजीविक, त्रैराशिक तथा शैव्य मत प्रधान हैं। इन समस्त वादों की प्रतिस्पर्धा में महावीर को अपना मत स्थापित करना था। महावीर के कुछ अनुयायियों का बुद्ध से मिल जाने का भी उल्लेख मिलता है।

जैन तथा बौद्ध धर्म के उत्थान में योग देने वाला जो सबसे बड़ा कारण है वह राजाओं का सहयोग है। महावीर को धर्मप्रचार करने में उनके कुछ प्रमुख शिष्यों ने काफी योग दिया। इनमें (१) आनन्द, (२) कामदेव, (३) चुलानिपिया, (४) सुरदेव, (५) चुल्लसयग, (६) कुण्डकोलिय, (७) सद्दालपुत्त, (८) महासयग (९) नन्दिनीपिया, (१०) साल्हीपिया आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

अपने अथक परिश्रम से असंख्य अनुयायी बनाकर तथा कुछ ऐसे शिष्य तैयार करके जो जैन-धर्म को स्थायी बना सकें, महावीर ने ५४६ ई० पू० में निर्वाण प्राप्त

किया। इस तिथि को उनकी निधन तिथि मानकर तथा ७२ वर्ष उनका जीवन-काल मानकर महावीर की जन्मतिथि ६१८ ई० पू० मानी गई है।

सिद्धान्त

आत्मा—आत्मा के सम्बन्ध में मत-निर्धारण ईश्वर में विश्वास या अविश्वास पर निर्भर है। जैन सिद्धान्त में सृष्टि का कर्त्ता-धर्त्ता किसी अलौकिक व्यक्ति की कल्पना नहीं की गई। ईश्वर में उनका कोई विश्वास नहीं है। जब संसार अनादि और अनन्त है तो जीव भी अनादि और अनन्त है। सम्यक्-दर्शन, सम्यक ज्ञान तथा सम्यक चरित्र आत्मा या जीव के तीन स्वाभाविक गुण हैं। पर समस्त आत्माओं में ये तीनों गुण अपने स्वाभाविक रूप मे इसलिए नहीं मिलते हैं कि कर्मों का गहन आवरण उन्हे ढके रहता है। इस प्रकार जो जीव समस्त स्वाभाविक गुणों से युक्त रहते हैं वे शुद्ध जीव हैं और उन्हे मोक्ष प्राप्त हो चुका है, जो जीव कुछ शुद्ध हैं और कुछ विकृत हैं वे मिश्र जीव हैं पर जिनमें स्वाभाविक गुण बिल्कुल ही विकृत हो चुके हैं वे अशुद्ध जीव हैं। इससे यह परिलक्षित होता है कि जैन सिद्धान्त आत्मा को विकृत तो मानता है पर विकार दूर भी किया जा सकता है। सम्यक दर्शन से सम्यक ज्ञान और सम्यक ज्ञान से सम्यक् चरित्र प्राप्त होना बताया गया है। सम्यक् चरित्र ही मोक्ष-द्वार है। अत. सम्यक्-चरित्र पर जैनियों ने अधिक जोर दिया है।

तत्व—जैनियों ने सात प्रकार के तत्व बतलाये हैं :—

(१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बन्ध, (५) संवर (६) निर्जरा तथा (७) मोक्ष।

ऊपर जैन धर्म के दार्शनिक पहलू पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया था। अब उनके व्यावहारिक नियमों (आचार) पर प्रकाश डाला जायगा। महावीर स्वामी ने अपने आँखों देखा था कि हिन्दू दर्शन के सिद्धान्त साधारण जनता के लिए उसी प्रकार ग्राह्य नहीं जिस प्रकार कुछ चुने हुये धर्माधिष्ठाताओं या धर्मरत व्यक्तियों को हैं। जितने नियम हिन्दू विचारकों ने प्रस्तुत किये हैं वे सम्पूर्ण मनुष्यों द्वारा प्रयोग में नहीं लाये जा सकते। सभी तप नहीं कर सकते, सब लोग योग नहीं कर सकते और न सभी यज्ञ कर सकते हैं। अत. उन्होंने दो प्रकार का उपदेश देना आवश्यक समझा :—(१) सन्यासियों के लिए, (२) गृहस्थ या श्रावकों के लिए। महावीर ने सर्वसाधारण के लिए निम्नलिखित पाँच (अणुव्रत) नियम बताये :—

अणुव्रत—(१) हिंसा-छेदना, बाँधना, पीड़ा पहुँचाना, काफी अधिक बोझा लादना, भोजन-पानी रोकना हिंसा है।

(२) सत्य—झूठ नहीं बोलना चाहिये। अप्रिय, निन्द्य, कठोर एवं पापमयी बात का त्याग करना चाहिये।

(३) अचौर्य या अस्तेय—चोरी करना, चोरी का माल लेना, माल में मिलावट करना, कम तौलना, राजा की आज्ञा का उल्लंघन चोरी में सम्मिलित है। चोरी स्वयं एक प्रकार की हिंसा है क्योंकि इससे भी किसी के हृदय पर आघात पहुँचता है।

(४) ब्रह्मचर्य—काम-वासना को मारना ही ब्रह्मचर्य है।

(५) अपरिग्रह—माया के बन्धन से मुक्ति पाने को अपरिग्रह कहते हैं। [illegible]-

सम्पदा से मनुष्य को दूर रहना चाहिए। दूसरो के धन मे तनिक ममता नही रखनी चाहिये। जीवन के लिए आवश्यक धन तक ही मनुष्य को सीमित रहना चाहिये।

गुणव्रत—उपरोक्त पाँच अणु-व्रतो के अतिरिक्त तीन गुण-व्रत भी बताये गये हैं :—

(१) दिग्व्रत—दिशाओ मे भ्रमण की मर्यादा बाँधना, (२) अनर्थ दण्डवत्—प्रयोजन हीन पाप-उत्पादक वस्तुओ का परित्याग तथा (३) भोगोपभोग परिमाण—भोग्य पदार्थों का परिमाण-निर्धारण।

शिक्षाव्रत—शिक्षाव्रत चार है .—

(१) देशावकाशिक—दिशाओ में भ्रमण की मर्यादा मे कमी लाना, (२) सामयिक—पाप रहित होकर धर्म चिन्तन करना (३) प्रोषोधोपवास—विशेष समय पर उपवास करना तथा (४) वैयावृत्य—दान-पूजा आदि करना।

महावीर की मृत्यु के पश्चात् जैन धर्म की अवस्था

महावीर स्वामी के ग्यारह शिष्यो में से उनकी मृत्यु के पश्चात् केवल एक आर्य सुधर्मन बच गया था जो महावीर के पश्चात् जैन सघ का आचार्य हुआ। सम्भवत. महावीर के जीवन-काल मे उनके जामाता जमालि तथा एक सन्यासी तीसमुत्त ने जैन सघ में कुछ उपद्रव मचाया था। इसका प्रामाणिक कारण नही ज्ञात होता है। यह सघ मे प्रधानता प्राप्त करने के लिए तो नहीं रहा ? जैन अनुश्रुतियां से यह ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी की मृत्यु के पश्चात् भी इनके धर्म को राजकीय सहयोग मिलता रहा। अजातशत्रु के उत्तराधिकारी उदायिन को इन अनुश्रुतियों मे जैन मतावलम्बी माना गया है। इस प्रकार शक्तिशाली मगध राज्य मे प्रारम्भ से ही जैन धर्म की पहुँच होकर उदायिन तक चलती रही और तत्पश्चात् जब नन्दो का उदय हुआ तो उन्होने इसे भी प्रश्रय दिया, जैसा कि हाथीगुम्फा के अभिलेख मे इसका सकेत मिलता है। उक्त अभिलेख में "प्रथम जिनकी मूर्त्ति" को "नन्द राजा" के अधिकार में होना बताया गया है। मगध में जैन धर्म ने निश्चय ही अपनी जड जमा ली थी (यदि जैन अनुश्रुतियो पर विश्वास किया जाय) और मौर्य साम्राज्य का सस्थापक, रणक्षेत्र विजयों का विजेता चन्द्रगुप्त ने भी अन्त मे जैन धर्म स्वीकार कर लिया जैसा कि आगे बताया जायेगा।

पाटलिपुत्र की सगीति—कल्पसूत्र के रचयिता भद्रबाहु तथा सम्भूतिविजय इन दोनो भेदा (स्थविरा) के निरीक्षण मे बहुत दिनो तक जैन सघ चलता रहा। सम्भूतिविजय की मृत्यु चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल मे हुई थी। इधर भद्रबाहु मगध के १२ वर्षीय भीषण अकाल से सघ मे उत्पन्न होने वाले अनैतिक आचरणो के भय से दक्षिण की ओर श्रवण बेलगोला को चल दिये। इनके साथ इनके सघ के अनेक सन्यासी गये थे। अकाल समाप्त हो जाने के पश्चात् इनके समस्त अनुयायी तो लौट आये पर केवल सम्राट चन्द्रगुप्त ने वहीं एक सच्चे भिक्षु की भाँति उपवास द्वारा शरीर त्याग दिया था। ६वीं शताब्दी ईस्वी के एक अभिलेख से मैसूर में चन्द्रगिरि की चोटी पर भद्रबाहु तथा चन्द्रगुप्त के पद-चिह्नों के पाये जाने का उल्लेख किया गया

है। भद्रबाहु भी मगध लौटकर नहीं आये वरन् वे नेपाल चले गये जहाँ तप द्वारा उन्होंने शरीर त्याग दिया। अपनी मृत्यु के पूर्व ही इन्होंने स्थूलभद्र को सघ का नेतृत्व प्रदान कर दिया था। इसी बीच में जैन सघ में अनेकानेक परिवर्तन उपस्थित हो हो चुके थे। भद्रबाहु के साथ गये हुए जैन सन्यासी जब लौट कर मगध आये तो उनकी यहीं रुके हुए जैन सन्यासियों ने कटु आलोचना की क्योंकि उन्होंने धवल वस्त्र धारण करना आरम्भ कर दिया था। नियमों एव सिद्धान्तों में मतैक्य न होने का कारण प्राचीन ग्रन्थों के ज्ञान की अल्पता ही थी। इस प्रकार के वाद-विवाद का अन्त करके धर्म के सिद्धान्तों को एक निश्चित रूप देने के अभिप्राय से ही मगध के सन्यासियों ने पाटलिपुत्र में एक बैठक की आयोजना की। यह प्रथम सङ्घ-भेद जैन-धर्म के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है। उक्त बैठक में लौटे हुए सन्यासियों ने भाग नहीं लिया। यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में (जिनमें ११ अग तथा १४ पूर्व सम्मिलित हैं) केवल भद्रबाहु की ही योग्यता प्राप्त थी। अन्य किसी व्यक्ति को इनका ज्ञान नहीं था। स्थूल-भद्र को भी भद्रबाहु ने केवल प्रथम १० पर्वों की शिक्षा का प्रचार लोगों में करने को कहा था, जब वे दोनों नेपाल में मिले थे। इस प्रकार पाटलिपुत्र में जो सङ्गीति हुई और उसमें जिस सिद्धान्त का निरूपण हुआ वह काफी विशृङ्खल था। अब वस्त्रधारी जैनियों को श्वेताम्बर तथा प्राचीन सन्यासियों को जो अब भी नग्न रहते थे दिगम्बर कहा जाने लगा।

वल्लभी की सङ्गीति—पाटलिपुत्र के पश्चात् जैन धर्मानुयायियों की दूसरी बैठक गुजरात में वल्लभी नामक स्थान में हुई। यह काफी दिनों पश्चात लगभग छठीं शती ई० पू० के आरम्भ में देवर्धिगणि या क्षमा-श्रमण के नेतृत्व में हुई थी। इस सगति का उद्देश्य बिखरे हुए तथा अन्य नियमों को प्रामाणिक ढग से लिपिबद्ध करना था। श्वेताम्बरों की पहली बैठक में सकलित सिद्धान्तों की ही यह पुनरावृत्ति (लिपिरूप में) रही। अत इसमें भी प्राचीनतम जैन साहित्य नहीं आ सका।

जैन धर्म का क्षेत्र—यह बताया जा चुका है कि अपने समय में महावीर ने अंग, अवन्ति, मगध आदि राज्यों पर अपना प्रभाव छोड़ा था, गणराज्यों में मल्ल, लिच्छिवी आदि उनसे बहुत प्रभावित थे। उनकी मृत्यु के पश्चात भी मगध के मौर्य-सम्राट चन्द्रगुप्त के अन्त में, जैन होने का बोध होता है। पर जैन-धर्म का प्रचार-क्षेत्र केवल यहीं तक सीमित न था। उज्जैन तथा मथुरा इन दिनों में जैन धर्म का केन्द्र हो गया था। मथुरा में इतने धार्मिक अभिलेख प्राप्त हुए हैं कि उनसे उपरोक्त मत का समर्थन स्पष्टतया हो जाता है। उज्जैन और जैन सन्त कालकाचार्य का सम्बन्ध तो एक बहुत ही रोचक कथा जोड़कर जैन अनुश्रुतियों ने दर्शाया गया है। जैन धर्म का प्रचार भारत में काफी हुआ और वास्तव में यह अपने प्रतिस्पर्धी बौद्ध धर्म की अपेक्षा भारत में अधिक सफल हो सका। आज भी भारत में इस धर्म के अनुयायी काफी संख्या में पाये जाते हैं। जैनधर्म की इस सफलता के मूल में हिन्दू धर्म से इसका साम्य ही है। इसमें कठिन तप, व्रत, मोक्ष आदि भी जो बातें अपनाई गई हैं वे हिन्दुओं को नवीन या विचित्र नहीं लगीं और वे अपनी रुचि-

वादिता को न त्यागते हुए भी इस नवीन धर्म को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हो सके। आज इसीलिए भारत के बड़े-बड़े नगरो मे जैन मन्दिर, धर्मशालाएँ, पाठ-शालाएँ आदि काफी हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ जैन धर्म के उदय पर सक्षेप मे प्रकाश लिए।

२. जैन धर्म के सस्थापक के विषय मे आप क्या जानते हैं ?

३. जैन धर्म के सिद्धातो के बारे मे आप जो कुछ जानते हो लिखिए ?

४ महावीर स्वामी के पश्चात् जैन धर्म की क्या प्रगति हुई ?

अध्याय १०

बौद्ध धर्म

गौतम बुद्ध का संक्षिप्त जीवन चरित्र—गण-राज्यों का उल्लेख करते हुए बताया गया था कि गौतम बुद्ध के पिता शुद्धोदन कपिलवस्तु के शाक्यों के गण-राज्य के 'राजन' थे। इनकी माता का नाम मायादेवी था, जो कोलिय गण-राज्य की राजकुमारी थीं।

गौतम की जन्म-तिथि का निश्चय उनकी मृत्यु-तिथि के आधार पर इस प्रकार किया गया है —

सिंहली अनुश्रुतियों के अनुसार गौतम की निधन-तिथि ५४३ ई० पू० है वे ८० वर्ष तक जीवित रहे। अतः जन्म-तिथि ६२३ ई० पू० हुई। पर इस सम्बन्ध में विद्वानों का मतैक्य नहीं है और कुछ यह तिथि ५६६ ई० पू० बताते हैं। परिनिर्वाण की तिथि ४८३ ई० पू० भी मानी गई है।



चित्र ८—गौतम बुद्ध

जिस समय महामाया अपने मायके देवदह जा रहीं थीं उसी समय रास्ते में लुम्बिनी में गौतम का जन्म हुआ। दुर्भाग्यवश जन्म के सात दिन बाद ही माता का देहान्त हो गया। बालक का पालन-पोषण उसकी विमाता महाप्रजापती गौतमी द्वारा होने लगा।

गौतम बुद्ध का बाल्य-जीवन विलासिता की गोद में बीता। हर प्रकार के सुन्दर वस्त्रों का वे उपभोग करते थे और नृत्य संगीत का भी आनन्द लेते थे। उनकी पत्नी के कई नाम बताये गये हैं। मज्झिम निकाय की कथा काफी प्रचलित है जिसमें यह बताया गया है कि किस प्रकार जरा, रोग तथा मृत्यु आदि के दारुण दृश्य का नग्न रूप देखकर गौतम जीवन के प्रति उदासीन हो गये थे।

जिस समय गौतम घर छोड़ने का निश्चय कर चुके थे उसी समय उन्हें पुत्रोत्पत्ति की सूचना मिली और गौतम के मुँह से निकला 'राहुल' (बन्धन) जो बालक का

नाम पड गया। पर ये सारे बन्धन गौतम को न बॉध सके और उन्होंने २६ वर्ष की अवस्था में घर छोड दिया।

ज्ञान की खोज मे—शाक्य, कोलिय, मल्लों आदि के राज्यो को पार करते हुये वे अनुवेमेय नामक स्थान पर पहुँचे। यहाँ अपना समस्त आवरण उतार कर इन्होंने छन्दक को दे दिया और स्वय पीत वस्त्र धारण कर लिया।

सर्व प्रथम गौतम आलार कालाम नामक सन्यासी के पास आये। इनके ३०० शिष्य थे। इन्हीं शिष्यो के साथ आलार कालाम से गौतम भी शिक्षा लेने लगे पर जिस प्रकाश की खोज में गौतम निकले थे वह यहाँ नही मिला। अत वे और आगे बढे। इन्हें एक दूसरा धर्म-शिक्षक मिला। इस धर्माचार्य का नाग उद्रक रामपुत्र था जिसके ७०० शिष्य थे। यहाँ भी गौतम को निराश होना पड़ा। तत्पश्चात् गौतम मगध राज्याधीन उर्वेला नामक स्थान पर आये। यहाँ उन्होने कठिन तपस्या आरम्भ कर दी। अन्न का बिल्कुल ही त्याग कर दिया और केवल रस से प्राण-रक्षा करने लगे। कुछ ही दिनों में उनका शरीर सूखकर काँटा हो गया। यहाँ इनके साथ इनके पाँच ब्राह्मण साथी भी थे। पर गौतम ने देखा कि इस कठिन तपस्या से भी कोई लाभ नहीं होने को, अतः उन्होने तपस्या भग करके आहार ग्रहण किया जिस पर उनके ब्राह्मण साधुओ ने उन्हें पेटू कहकर उनका साथ छोड़ दिया। बुद्ध का छ वर्ष इसी प्रकार बीत गया। ३५ वें वर्ष मे एक दिन जब वे एक पीपल के पेड के नीचे (जो आगे चल कर बोधिवृक्ष कहलाया) बैठे थे तो उन्हे 'बुद्धत्व' प्राप्त हुआ। गौतम को जिस प्रकाश की खोज थी वह मिल गया। इस ज्ञान-प्राप्ति के पूर्व अनेक कथाएँ महावस्तु था जातक आदि में मिलती हैं।

धर्म-प्रचार—ससार के दु ख से क्षुब्ध होकर ही महात्मा बुद्ध ने भोग-विलास को ठुकराया था और अब वे उस प्रकाश का जिससे उन्होने जीवन के सत्य का स्वय ज्ञान प्राप्त किया था, ससार के प्राणी-प्राणी को बताना चाहते थे जिससे विश्व का कल्याण हो सके। महात्मा गौतम बुद्ध को वे पुराने साथी स्मरण रहे। अत सर्वप्रथम उन्होंने उनको ही अपने ज्ञान की शिक्षा देने का विचार किया। वे पाँचो ब्राह्मण बनारस के निकट सारनाथ के ऋषिपत्तन मृगदाव मे मिले जहाँ बुद्ध भगवान ने उन्हे अपना प्रथम उपदेश दिया। यह धर्म चक्रप्रवर्त्तन के नाम से विख्यात हे।

तत्पश्चात् महात्मा गौतम बुद्ध के अनेक अनुयायी बनारस मे मिले जिनमे यस का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बुद्ध जी के अनुयायियों की सख्या अब लगभग ६० तक पहुँच गई। इनको प्रथम बौद्ध-सघ का भिक्षु कहा जा सकता है। बुद्ध बनारस से पुन उर्वेला लौटे। मार्ग मे इनको ३० अनुयायी मिले जिनमे भद्र प्रधान था। उर्वेला मे तो गौतम बुद्ध के पहुँचते ही एक धार्मिक-क्रान्ति सी आ गई और जटिल कस्सब के ५०० शिष्य, नदी के ३०० शिष्य, गया के २०० शिष्य अर्थात् कुल १००० जटिल सम्प्रदाय वाले अपने गुरुओ के साथ बौद्ध धर्मानुयायी हो गये। इनके साथ गौतम बुद्ध राजगृह को चल पड़े जहाँ उनकी बिम्बिसार से भेट हुई। यहीं सारिपुत्र तथा मोग्गलायन नामक दो व्यक्ति मिले जिन्होंने महात्मा बुद्ध को धर्म-प्रचार मे बड़ा योग दिया जिसके फलस्वरूप सजय तथा उनके २०० अनुयायी बौद्ध हो गये। विभिन्न गण-राज्यो का भ्रमण

करते हुए बुद्ध भगवान् अपनी जन्म-भूमि कपिलवस्तु आये। अब तक लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत में उनका प्रचार हो चुका था। कपिलवस्तु में उन्होंने धर्मोपदेश दिया। इनके उपदेश से इनका सौतेला भाई नन्द तथा पुत्र राहुल भिक्षु हो गये। नन्द उसी माता का पुत्र था जिसने गौतम बुद्ध का पालन-पोषण किया था। जिस समय नन्द भिक्षु हुआ उसी दिन उसका राज्याभिषेक तथा एक अत्यन्त रूपवती लड़की से ब्याह होना निश्चित था। तत्पश्चात् जब भगवान् बुद्ध, कपिलवस्तु से राजगृह लौट रहे थे तो मार्ग में अनुपिय नामक स्थान पर उन्होंने शाक्य 'राजा' भद्रिक को उसके सहचरों अनुरुद्ध, आनन्द, उपालि तथा देवदत्त के साथ बौद्धधर्म में दीक्षित किया और वे बौद्ध-धर्म के इतिहास में अपना प्रमुख हाथ रखते हैं। धर्म प्रचार के इतिहास में एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण घटना राजगृह में हुई। बुद्ध भगवान् सीतावन (राजगृह) में रुके थे। यहीं उनसे प्रभावित होकर सुदत्त नामक एक व्यापारी ने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया। हमें सुदत्त के दान की महती कथा का बोध होता है। फिर इससे ज्ञात होता है कि सुदत्त ने बौद्ध भिक्षुओं के लिए जेत-राजकुमार के उपवन को लेने की इच्छा प्रकट की पर जेत ने उस उपवन का मूल्य बताया उसको पूर्णतया ढक लेने भर सोना। सुदत्त तैयार हो गया।

अब राजगृह कपिलवस्तु तथा श्रावस्ती तीनों स्थानों पर बौद्ध-संघ स्थापित हो चुके थे। यह महात्मा बुद्ध के केवल दो वर्ष के प्रयास का प्रतिफल था।

अब तक भगवान् बुद्ध ने केवल पुरुषों को ही भिक्षु बनाने की आज्ञा दी थी। पर धर्म प्रचार के पंचम वर्ष में एक ऐसी घटना घटी जिससे द्रवित होकर महात्मा बुद्ध ने नारियों को भी बौद्ध संघ में सम्मिलित होने की आज्ञा दे दी। भगवान् बुद्ध का भ्रमण चलता रहा और वे उत्तरी भारत के अनेक राज्यों में अपने उपदेश देते रहे। बौद्ध-ग्रन्थों में इन यात्राओं का बहुत ही रोचक वर्णन मिलता है। अन्त में महात्मा गौतम बुद्ध श्रावस्ती में स्थायी रूप से रहने लगे। अब तक आनन्द बुद्ध का वैयक्तिक सहायक के रूप में निर्वाचन हो चुका था। देवदत्त जो कभी बौद्ध था, बुद्ध भगवान् का विरोधी हो गया।

अजातशत्रु पाटलि ग्राम में लिच्छिवियों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए किले-बन्दी करवा रहा था। वहाँ महात्मा गौतम बुद्ध भी आये थे और उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि यह बहुत ही उन्नतिशील जगह होगी। वहाँ से वे वैशाली गये जहाँ वेलुवा नामक गाँव में वे बीमार पड़े। यहाँ उन्होंने भी भविष्यवाणी की कि अब से तीसरे महीने के अन्त में उनका परिनिर्वाण होगा। वहाँ से बुद्ध अनेक ग्रामों से होते हुए पावा आये जहाँ चण्ड लुहार का दिया हुआ अन्तिम भोजन किया। भोजन करने के बाद ही उन्हें उदर-रोग हो गया। यह पेचिश बड़ी भयानक सिद्ध हुई। पर महात्मा बुद्ध ने वहाँ रुकना उचित नहीं समझा और उन्होंने कुशीनारा को प्रस्थान कर दिया। कुशीनारा पहुँच कर बुद्ध को अपने अन्तिम समय का आभास हुआ और उन्होंने भिक्षुओं से कुछ प्रश्न करने को कहा, पर सब मौन रहे। अन्त में उन्होंने आनन्द को बुलाकर कहा कि अब मेरा अन्तिम समय है, तुम कुशीनारा के मल्लों को सूचित कर दो। यहाँ ८० वर्ष की अवस्था में महात्मा बुद्ध को परिनिर्वाण प्राप्त हुआ।

बुद्ध के मूल सिद्धान्त

गौतम बुद्ध के सिद्धान्तो को समझने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि गौतम बुद्ध (१) ईश्वर में विश्वास नहीं रखते थे, (२) आत्मा को नित्य नहीं मानते थे, (३) किसी ग्रन्थ को स्वत. प्रमाण नही मानते थे तथा (४) जीवन-प्रवाह को इसी शरीर तक परिमित नहीं मानते थे।

चत्वारि आर्य सत्यानि—गौतम बुद्ध ने चार आर्य सत्यो का निरूपण इस प्रकार किया—(१) दु ख, (२) दुःख समुदय, (३) दु.खनिरोध तथा (४) दुःखनिरोध-गामी मार्ग।

नीचे इन पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डाला जायगा।

(१) दुःख—बुद्ध ने कहा—"जन्म भी दुःख है, बुढ़ापा भी दु ख है, मरण शोक—रुदन—मन की खिन्नता—हैरानी दु ख है। अप्रिय से सयोग, प्रिय से वियोग भी दु.ख है, इच्छा करके जिसे नही पाता वह भी दु ख है। सक्षेप मे पाँचों उपादान स्कन्ध दु.ख है। पाँच उपादान स्कन्ध रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार तथा विज्ञान हैं।

(२) दु ख-समुदय—दु ख का कारण तृष्णा है। काम की तृष्णा, भव (उत्पन्न होने) की तृष्णा, विभव की तृष्णा आदि ही दु ख के कारण हैं। काम की तृष्णा से दु.ख किस प्रकार उत्पन्न होता है इसकी व्याख्या भगवान् बुद्ध ने इस प्रकार की है—"काम (प्रिय भोग) के लिये ही राजाओं से लड़ते है क्षत्रिय क्षत्रियो से, ब्राह्मण ब्राह्मणों से गृहपति गृहपतियो से, माता पुत्र से, पुत्र माता से, पिता पुत्र से, पुत्र पिता से, भाई भाई से, बहिन भाई से, भाई बहिन से, मित्र मित्र से लड़ते है। वे परस्पर कलह-विग्रह—विवाद करते हैं, एक दूसरे पर हाथ से, दण्ड से, शस्त्र से भी आक्रमण करते है। वे मर भी जाते है और मरण समान दु ख को भी प्राप्त होते है।

(३) दुःख-निरोध—दुख के मूल तृष्णा के अन्त करने को दुख—निरोध कहते हैं। तृष्णा के अन्त हो जाने से उपादान का निरोध होता है। उपादान निरोध से भव (लोक) का निरोध होता है और भव निरोध से जन्म का निरोध हो जाता है। जन्म के निरोध से दुख के उपकरणों—बुढ़ापा, मरण, शोक आदि का अन्त हो जाता है।

(४) दुख निरोधगामी-मार्ग—दुख निरोधगामी मार्ग का प्रथम उपदेश भगवान् बुद्ध ने अपने पॉच साथियों को दिया था जो धर्म चक्रप्रवर्त्तन के नाम से विख्यात है। भगवान् बुद्ध ने कहा, "भिक्षुओ! इन दो अतियो को नहीं सेवन करना चाहिए

(१) काम—सुख में लीन हो जाना (२) शरीर यातना मे लग जाना। इन दोनो अतियो को त्याग (मैने) मध्यम मार्ग खोज निकाला है—(जो) आँख देने वाला, ज्ञान कराने वाला शान्ति देने वाला है। वह (मध्यम मार्ग) यही आर्य अष्टागिक मार्ग है सम्यक दृष्टि (दर्शन), सम्यक सकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक स्मृत्ति तथा सम्यक् समाधि।"

उपरोक्त आर्य अष्टागिक मार्ग मे प्रथम दो ज्ञान, अन्य तीन शील तथा अन्तिम तीन समाधि के अन्तर्गत आते है।

कायिक, वाचिक, मानसिक, भले बुरे कर्मों के ठीक ठीक ज्ञान को ही सम्यक

दृष्टि कहा गया है। कायिक बुरे कर्मों में हिंसा, चोरी, यौन (व्यभिचार) आदि हैं और इनके विलोम भले कर्म हैं। इसी प्रकार वाचिक बुरे कर्मों में मिथ्या, भाषण चुगुली, कटु भाषण, बकवास हैं तथा उनके विलोभ भले कर्म हैं—मानसिक बुरे कर्मों में लोभ, प्रतिहिंसा तथा झूठी धारणा है और इनके विलोम भले मानसिक कर्म। चत्वारि आर्यसत्यानि का ठीक-ठीक बोध करना ही सम्यक् दृष्टि कहलाता है। बुद्ध ने बताया कि सम्यक संकल्प का अर्थ है राग—प्रतिहिंसा—रहित संकल्प। ये दोनों ज्ञान के अन्तर्गत हैं।

शील के अन्तर्गत सम्यक वचन, सम्यक कर्म तथा सम्यक जीविका है। सम्यक वचन तथा सम्यक कर्मों के अन्तर्गत ऊपर बताये गये कायिक तथा वाचिक कर्म आते हैं। सम्यक जीविका से बुद्ध का अभिप्राय बुरे कर्मों से रहित जीविका से है। प्राणि-हिंसा सम्बन्धी जीविका ही बुरी जीविका है। अंगुत्तर निकाय पाँचवें के अनुसार हथियार का व्यापार, प्राण का व्यापार, मांस का व्यापार मद्य का व्यापार, विष का व्यापार आदि ही झूठी जीविका है।

सम्यक समाधि के अन्तर्गत सम्यक प्रयत्न, सम्यक स्मृति तथा समाधि है। सम्यक प्रयत्न का अर्थ है, इन्द्रियों पर संयम करने का प्रयत्न, बुरी भावनाओं के दमन तथा सुन्दर भावनाओं के उत्पादन का प्रयत्न उत्पादित उत्तम भावनाओं को स्थायित्व देने का प्रयत्न करना। 'काय, चित्तवेदना और मन के धर्मों की ठीक स्थितियां—उनके मलिन, क्षण विध्वंसी आदि होने का सदा स्मरण रखना' सम्यक स्मृति है। "चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं।"

अब तक जिन सिद्धान्तों पर कुछ प्रकाश डाला गया है वे महात्मा गौतम बुद्ध के साधारण विचार थे, अब हम उनके दार्शनिक विचारों पर विचार करेंगे।

क्षणिकवाद—"अनित्य, दुःख, अनात्म" बुद्ध भगवान के सम्पूर्ण दर्शन का प्रतीक है। इसमें ही उनका सारा दर्शन आ जाता है। अनित्य उनके क्षणिकवाद का द्योतक है।

प्रतीत्य समुत्पाद—एक वस्तु के विनाश के पश्चात् दूसरे की उत्पत्ति होती है इसी नियम को भगवान् बुद्ध ने प्रतीत्य समुत्पाद कहा है।

अनात्मवाद—गौतम बुद्ध अनात्मवादी थे। शरीर के नष्ट हो जाने के पश्चात् आत्मा नाम की किसी स्थायी वस्तु में उनका विश्वास न था। उपनिषदों में आत्मवाद की जो कल्पना की गई है, भगवान बुद्ध के मतानुसार वह असत्य है।

अभौतिकवाद—अनात्मवादी होते हुए भी भगवान् बुद्ध भौतिकवादी (जड़वादी) कदापि न थे। गौतम बुद्ध के विचार में भौतिकवाद उनके ब्रह्मचर्य और समाधि का उसी प्रकार विरोधी है जैसे आत्मवाद का विरोधी है, अतः उन्होंने कहा—

वही जीव है, वही शरीर है, (दोनों एक हैं) ऐसा मत होने पर ब्रह्मचर्य वास नहीं हो सकता। 'जीव दूसरा है, शरीर दूसरा है,' ऐसा मत (दृष्टि) होने पर भी ब्रह्मचर्य-वास नहीं हो सकता।

अनीश्वरवाद—जब-जब भी भगवान् बुद्ध से ईश्वर के सम्बन्ध में पूछा जाता था तो वे या तो निरुत्तर मौन हो जाते थे पर कुछ परिस्थितिजन्य सन्दर्भों में इसके विद्यमान होने में सन्देह प्रकट करते थे। उन्होंने एक स्थान पर कह डाला है कि आदि मानव को ही परवर्ती मानवों ने भ्रमवश ईश्वर मान लिया।

(६) प्रचार-शैली की रोचकता—लोकभाषा के साथ ही साथ बुद्ध ने जिस प्रचार शैली को अपनाया वह नितान्त सरल, सुबोध और लोकरुचि के अनुकूल थी। उन्होंने लोक-कथाओं, लोकोक्तियों और मुहाविरों का अपनी शिक्षाओं में प्रचुरता से प्रयोग किया। अपने सिद्धान्तों को समझाने के लिए वे जिन उदाहरणों और उपमाओं का प्रयोग करते थे, उनका सीधा सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक जीवन से होता था। वे अपने उपदेशों में हास्य और व्यंग्य का भी उचित मात्रा में पुट दिया करते थे जिससे उनमें रोचकता आ जाती थी। बुद्ध ससार के उन थोड़े से व्यक्तियों में से थे जो गूढ़ तत्वज्ञानी होने के साथ व्यवहारिक जीवन में भी निपुण थे। एक बार एक ब्राह्मण ने क्रोध में आकर बुद्ध भगवान् को सैकड़ों गालियाँ सुनाईं। बुद्ध चुपचाप गालियाँ सुनते रहे। ब्राह्मण अन्त में निराश होकर चुप हो गया। जब उसका क्रोध शान्त हो गया तो बुद्ध जी ने उसे अपने निकट बुलाया और कहा, "ब्राह्मण तुम्हारे घर कभी कोई अतिथि आया होगा। ब्राह्मण ने सकारात्मक उत्तर दिया। फिर बुद्ध ने पूछा कि तुमने उसका सत्कार भी किया होगा? इस पर उत्तर हाँ में ही था। अब की बुद्ध भगवान् ने पूछा कि यदि तुमने अतिथि के स्वागतार्थ जो भोजन बनाये, उसको वह ग्रहण न करे तो भोजन किसका समझा जाता। ब्राह्मण ने उत्तर दिया वह भोजन मेरा समझा जायगा और उसे मैं ग्रहण करूँगा। बुद्ध ने कहा कि मैंने तुम्हारे द्वारा दी हुई गालियाँ अस्वीकार की 'अब उन्हें तुम अपने साथ वापस ले जाओ।" इस पर वह ब्राह्मण बड़ा लज्जित हुआ उसने तथागत से क्षमा माँगी।

(७) मठों की स्थापना—महात्मा बुद्ध केवल एक महान् दार्शनिक और धर्म प्रचारक ही न थे वरन् उनमें सगठन की भी पूर्ण क्षमता की। उन्होंने यह भली भाँति समझ लिया था कि सुव्यवस्थित सगठन के अभाव में कोई भी धर्म अधिक दिनों तक टिक नहीं सकता। अतएव उन्होंने अपने अनुयायियों को एक सुदृढ़ सगठन में बँध जाने की सलाह दी। उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं के लिए सघ-पद्धति की व्यवस्था की।

(८) राज प्रश्रय—यह पहले ही कहा जा चुका है कि बुद्ध का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था और उनका प्रभाव सभी वर्ग के लोगों पर था। उनके समकालीन नरेश उनको बड़े आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। बिम्बिसार (मगध का राजा) तथा प्रसेनजित बुद्ध के अनुयायी थे। कुछ दिनों बाद उदयन भी बौद्ध-धर्म की शिक्षाओं से कुछ प्रभावित हो गया था। इसके अतिरिक्त वैशाली, शाक्य, मोरिय तथा बुद्ध के समय के गणतन्त्रों के शासकों पर भी उनका काफी प्रभाव था। अशोक महान् के प्रयत्नों ने गगा की घाटी के एक सम्प्रदाय विश्वव्यापी धर्म में परिणत कर दिया। कनिष्क और हर्ष जैसे राजाओं का भी इस धर्म को प्रश्रय प्राप्त था। समाज के धनी-मानी लोग भी बौद्ध धर्म के प्रति आकृष्ट हुए थे। उनके दान से मठों का खर्च चलता था जिसमें रहने वाले भिक्षु उत्साह से अपने धर्म का प्रचार करते थे।

(६) प्रचारकों का उत्साह—महात्मा बुद्ध ने अपने अनुयायियों में अक्षय उत्साह का सचार किया था। स्वय उन्हीं के त्यागपूर्ण व्यक्तित्व से शिक्षा लेकर अनुयायी भी धर्म के प्रचारार्थ सर्व सुखों का त्याग करने को तैयार हो जाते थे। सब प्रकार की कठिनाइयों की अवहेलना करते हुए वे अपने गुरु और उपदेशक दिव्योपदेशों का प्रचार

करने के लिए सुदूर प्रान्तों की यात्रा करते थे और देश के बाहर भी जाते थे। बौद्ध भिक्षुओं के अदम्य उत्साह के फलस्वरूप ही इसका प्रचार न केवल देश में प्रत्येक भू-भाग में ही अपितु संसार के अन्य कई देशों में भी हो गया।

बौद्ध धर्म की देन

बौद्ध धर्म का उदय हमारी संस्कृति के लिए कई विषयों में बड़ा ही हितकर प्रमाणित हुआ। भारतीय संस्कृति की श्रीसम्पन्नता में इस धर्म के कारण काफी अभिवृद्धि हुई और इस देश के लोगों को जीवन के प्रति अपने एक विशिष्ट दृष्टिकोण का विकास करने में काफी सहायता प्राप्त हुई। बौद्ध धर्म की देनों का विवेचन हम अध्ययन की सुविधा के लिए कतिपय शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे।

(१) कला की उन्नति—बौद्ध धर्म की सबसे प्रमुख देन कला के क्षेत्र में है यद्यपि भारतीय कला की परम्परा काफी प्राचीन है तथापि हमें सिन्धु घाटी की कला को छोड़ कर भारत में कला के जो नमूने प्राप्त होते हैं उनमें से अधिकांश बौद्ध कला के ही नमूने हैं। भूमि कला और शिल्पकलाओं का तो उद्भव ही सम्भवतः बौद्ध धर्म के द्वारा हुआ। एक बात यह भी महत्वपूर्ण है कि बौद्ध कलाकारों ने जिन कलाकृतियों का निर्माण किया उनका सौन्दर्य और सौष्ठव साधारण नहीं है। ईसा की छठी शताब्दी तक भारत की सबसे उत्तम कला बौद्ध कला है और जब से चीन तथा जापान में बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ तब से लेकर इस देश के किसी भी युग की सर्वश्रेष्ठ कला बौद्ध है, और लंका, बर्मा तथा स्याम की समस्त महती कला बौद्ध है, बोरोबोदूर का स्तूप भी बौद्ध है और तिब्बत तथा नेपाल की धार्मिक कला भी उसी प्रकार बौद्ध कला है।

(२) साहित्य-सृजन में बौद्ध धर्म की देन—केवल कला ही नहीं वरन् साहित्य-सृजन के क्षेत्र में भी बौद्ध धर्म की महत्वपूर्ण देन है। बौद्ध भिक्षुओं ने साहित्य ग्रन्थों के प्रणयन पर भी ध्यान दिया 'बुद्ध चरित' नामक नामक महाकाव्य तथा 'सारिपुत्रप्रकरण' नामक नाटक बौद्धों की ही देन है। संस्कृत के 'मंजु श्री मूलकल्प' तथा 'दिव्यावदान' नामक ग्रन्थ जिनसे भारत के प्राचीन इतिहास के विषय में काफी महत्व-पूर्ण सामग्री प्राप्त होती है, बौद्ध ग्रन्थ है। यह एक उल्लेखनीय बात है कि बौद्ध साहित्य-कारों ने संस्कृत भाषा में भी ग्रन्थों का प्रणयन किया यद्यपि उनके आदि ग्रन्थ पाली में ही हैं। पाली के विस्तृत धार्मिक साहित्य का संक्षिप्त विवेचन यहाँ पर सम्भव नहीं लेकिन इतना कहने में कोई हिचक नहीं कि बौद्धों के धार्मिक ग्रन्थों की उपयोगिता केवल इसीलिये नहीं है कि उनके द्वारा हमें इस धर्म के सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त होता है वरन् उन्होंने प्राचीन भारत के इतिहास के पुनर्निर्माण जैसे दुरूह कार्य में विद्वानों की काफी सहायता की है। जातक कथाओं का महत्व इस दृष्टि से काफी है। इन कथाओं का प्रभाव विद्वानों ने अरेबियन नाइट्स की कथाओं पर खोजा है। 'थेरगाथा' और 'थेरीगाथा' के गीत बड़े मार्मिक और प्रभावोत्पादक हैं। 'ललितविस्तर' और 'सद्धर्मपुण्डरीक' जैसे संस्कृत ग्रन्थ विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से भी काफी महत्वपूर्ण हैं यद्यपि मूलतः उनकी रचना धार्मिक उद्देश्यों की ही पूर्ति के लिए की गई थी। 'मिलिन्द पन्हो' तथा 'महा-वस्तु' नामक ग्रन्थों से भी ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई है। बौद्धों के सम्पूर्ण साहित्य को देखकर यह सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि वह प्रचुर और विशाल है।

दर्शन की उन्नति—बौद्ध धर्म के उदय के फलस्वरूप भारत में एक नवीन दार्शनिक साहित्य का सृजन हुआ। शून्यवाद तथा माध्यमिक दर्शन के प्रतिपादक नागार्जुन का भारत के ही नहीं निखिल विश्व के दार्शनिकों में महत्वपूर्ण स्थान है। बौद्ध धर्म के अन्तर्गत ही अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। प्रतीत्य-समुत्पाद, शून्यवाद, योगाचार, सर्वास्तिवाद, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और अनित्यवाद आदि कितनी ही दार्शनिक विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हो गया। असङ्ग, वसुमित्र, और दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिकों की कृतियों का अध्ययन बिना किये हुये कोई भी व्यक्ति भारतीय दर्शन का आचार्य नहीं कहा जा सकता। बौद्धों के दार्शनिक विचारों का खण्डन करने के लिए अन्य अनेक दार्शनिक उत्पन्न हुए जिनमें भगवान् शंकराचार्य का नाम अग्रगण्य है।

(३) भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार—बौद्धों की भारतीय संस्कृति को यह एक बहुत बड़ी देन है कि उन्होंने भारतीय सीमाओं के बाहर सुदूर देशों में इसको प्रसारित किया। सम्राट अशोक के समय में बौद्ध भिक्षुओं के जत्थे पड़ोस के देशों में तथागत की शिक्षाओं का प्रचार करने गये थे। फिर उसके बाद कनिष्क के समय में महायान बौद्ध धर्म का प्रचार दक्षिणी-पूर्वी एशिया तथा सुदूर एशिया में हुआ। इन देशों में बौद्ध धर्म ने अपनी जड़ें बहुत गहरी जमा लीं। यहाँ के निवासियों के लिए भारत एक पवित्र देश हो गया—उन्होंने तथागत की शिक्षाओं के साथ भारतीय संस्कृति के अनेक तत्वों का भी ग्रहण किया। भारत का सुदूर पूर्वी एसिया के साथ घनिष्ठता का जो सम्बन्ध स्थापित हुआ बौद्ध धर्म और उसके उत्साह-सम्पन्न प्रचारकों को ही दिया जा सकता है।

(४) ब्राह्मण धर्म पर बौद्ध धर्म का प्रभाव—यह कहा जा चुका है कि बौद्ध धर्म का उदय उन धार्मिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ था, जो वैदिक धर्म अथवा ब्राह्मण धर्म के कर्मकाण्ड प्रधान पक्ष के विरुद्ध की गई थी। जब ब्राह्मणों ने अपने धर्म का प्रचार कम होते और बौद्ध धर्म का प्रचलन होते हुए देखा तो उन्होंने अपने धर्म में सुधार करने की ओर ध्यान दिया। ब्राह्मण धर्म में अहिंसा का महत्व बहुत अधिक समझा जाने लगा। यह ठीक है कि अहिंसा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन छान्दोग्य उपनिषद में किया गया है तथापि उनका व्यापक प्रचार बौद्ध धर्म के द्वारा ही हुआ। ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्म की बहुत-सी श्रेष्ठ बातों का ग्रहण कर लिया और अपने धर्म का परिष्कार किया।

(५) बौद्ध संघों की स्थापना—इसमें कोई सन्देह नहीं की बौद्ध-संघों की स्थापना भगवान् बुद्ध के मस्तिष्क की मौलिक उपज थी और बौद्ध धर्म की यह एक प्रमुख देन थी। सन्यास का आदर्श बुद्ध ने उस समय की प्रचलित ब्राह्मण विचार-धारा से ग्रहण किया था परन्तु उन्होंने इसके फलस्वरूप में कुछ परिवर्तन किया। यह बात ठीक है कि बौद्ध धर्म के पूर्व भी ब्राह्मण सन्यासी लोक-कल्याण का जीवन बिताते थे, समाज को उनसे बहुत से लाभ होते थे। वे समाज की नैतिक और आचार सम्बन्धी मान्यताओं के नियामक तथा आवश्यकता उपस्थित होने पर उनके व्याख्याता भी होते थे, तथापि उनकी साधना बहुत कुछ उनके एकाकी ही होती थी। बुद्ध अपने भिक्षु

सन्यासियों को सामूहिक जीवन बिताने की शिक्षा दी और अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने संघों को जन्म दिया। बुद्ध के पूर्व भारत में गणतन्त्र थे परन्तु धार्मिक संघ नहीं थे। धार्मिक संघ बौद्धों की अपनी विशिष्ट देन थी।

बौद्ध और जैन मतों की तुलना

बौद्ध धर्म और जैन धर्म दोनों ही उस सामान्य धार्मिक तथा आध्यात्मिक चेतना के प्रतिफल थे जिसका उद्भव भारत में सातवीं अथवा छठवीं शताब्दी ईसा पूर्व के लगभग हुआ था। अतएव इनमें कुछ पारस्परिक समानताओं का होना स्वभाविक है। दोनों धर्मों ने समान रूप से वैदिक-कर्मकाण्ड, जाति-भेद तथा ब्राह्मणों की सामाजिक श्रेष्ठता का विरोध किया। वेदों को अपौरुषेय न तो जैनियों ने ही माना और न बौद्धों ने ही। अहिंसा पर दोनों ही धर्मों ने जोर दिया। ईश्वर के प्रति दोनों ही उदासीन रहे। सन्यास धर्म की प्रधानता दोनों सम्प्रदायों में बतलाई गई है। दोनों धर्म, पुनर्जन्म तथा मोक्ष (कैवल्य तथा निर्वाण) आदि विचार-धारा को स्वीकार करते हैं। यदि यह कहा जाय कि यह विचारधारा समस्त भारतीय धर्मों की सामान्य सम्पत्ति है तो कोई त्रुटि नहीं। संस्कृत भाषा के प्रयोग का दोनों ही सम्प्रदायों ने प्रारम्भ में बहिष्कार किया। बौद्धों ने अपने ग्रन्थ पाली भाषा में लिखे और जैनियों ने प्राकृत में। परन्तु कालान्तर में दोनों ने ही संस्कृत भाषा को अपना लिया। बौद्ध और जैन धर्मों में से किसी ने भी हिन्दू देवी-देवताओं का विरोध नहीं किया। ब्राह्मणों की भाँति जैनियों और बौद्धों ने भी पौराणिक कथाओं की सृष्टि की। जैनियों और बौद्धों की पौराणिक कथाओं में कुछ सामान्य तत्व थे। यद्यपि सन्यास-जीवन की दोनों ही सम्प्रदायों में प्रधानता बतलाई गई है तथापि गृहस्थ धर्म की आवश्यकता को दोनों ने ही स्वीकार किया है। गृहस्थों तथा सन्यासियों के लिए कतिपय विभिन्न आचार-नियमों का विधान दोनों ने ही किया है। विद्वानों की धारणा है कि जैन और बौद्ध धर्मों पर अनार्य-विचारधारा का प्रभाव है। डा० आर० सी० मजूमदार का विचार है कि प्रतिमाओं का महत्व वैदिक आर्यों के धर्म में नहीं था। यह अनार्यों की हिन्दू धर्म की देन है। जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में मूर्ति के प्रभाव को स्वीकार कर लेना इसी तथ्य का द्योतन करता है कि ये दोनों सम्प्रदाय अनार्य विचारधारा से प्रभावित थे। यह स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक आर्यों की आशावादिता का दोनों ही सम्प्रदायों में अभाव है और दोनों ही जीवन को आवश्यक रूप से दुःखपूर्ण समझते हैं।

इन उपर्युक्त समताओं के साथ ही साथ बौद्ध और जैन धर्मों में परस्पर विभिन्नताएँ भी हैं। यद्यपि दोनों ही जीवन को दुःखपूर्ण मानते हैं और इनसे मुक्ति पाने का एक मात्र साधन कैवल्य या निर्वाण ही समझते हैं तथापि लक्ष्य-प्राप्ति के माध्यम या साधन के विषय में दोनों धर्मों की विचारधारा में महान् अन्तर है। हम देख चुके हैं कि बौद्ध धर्म निर्वाण-प्राप्ति के लिए 'मज्झिमा पतिपदा' अथवा मध्यम पथ की आवश्यकता बतलाता है किन्तु जैन धर्म में उपवास, उग्र तपस्या तथा प्राण-त्याग आदि कठिन कर्मों को कैवल्य-प्राप्ति का साधन बतलाया गया है। बौद्धों की निर्वाण सम्बन्धी धारणा जैनों की कैवल्य सम्बन्धी धारणा से कहीं भिन्न है। बौद्धों के निर्वाण से अभिप्राय उस स्थिति से है जब मनुष्य के हृदय में कोई वासना नहीं रह जाती और

वह अपने व्यक्तित्व को पूर्णरूप से समाप्त कर लेता है। बौद्ध लोग यह विश्वास करते है कि निर्वाण के लिए मृत्यु आवश्यक नहीं है। इस जीवन मे भी इसकी प्राप्ति सम्भव है। जैन विचारधारा के अनुसार दु:खो से मुक्त हो जाने वाली स्थिति का नाम मोक्ष है अथवा कैवल्य है जिसकी प्राप्ति मृत्यु के बिना सम्भव नही है। यद्यपि दोनो सम्प्रदायो में अहिसा पर बडा जोर दिया गया है तथापि बौद्ध धर्म मे अहिसा का महत्व उतना अधिक नहीं है जितना की जैन धर्म मे। जैनियों के लिए हत्या आदि का विचार करना भी पातक है परन्तु भारत के बाहर बौद्ध लोग सदा से मासाहार करते आये हैं। जैनियो की अहिंसावादिता पराकाष्ठा तक पहुँचा दी गई है और कुछ लोगो की दृष्टि मे तो यह उपहासास्पद प्रतीत होती है। बौद्ध लोग अनात्मवादी है, किन्तु जैन विचारधारा के अनुसार प्रत्येक जीव में आत्मा का निवास है। डा० स्मिथ का कथन है कि बौद्ध धर्म मे भिक्षुओ को जितना अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है उतना उपासको (गृहस्थो) को नहीं। किन्तु इसके विपरीत जैन धर्म मे सन्यासियो की अपेक्षा गृहस्थो को ही अधिक महत्व दिया गया है। जैन धर्म ने हिन्दू धर्म से कभी भी स्पष्ट पृथकता का सम्बन्ध नही स्थापित किया जब कि बौद्ध धर्म ने पृथकता की नीति का ही अवलम्बन किया। बात यह थी कि बौद्धों का दृष्टिकोण आरम्भ से ही क्रान्तिकारी था जिससे वे प्रचलित धार्मिक विश्वासो के साथ सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर सके, परन्तु जैन धर्म का दृष्टिकोण सहिष्णुतापूर्ण था। यद्यपि जैन मत की शिक्षाओ मे भी जाति भेद का विरोध किया गया पर यह विरोध बौद्ध मत की तुलना मे कहीं अधिक नर्म और हल्का है। स्वय भगवान् बुद्ध ने कई स्थानो पर जाति भेद की तीव्र शब्दो मे निन्दा की और यज्ञ-योगादि का खण्डन भी किया, परन्तु जैनियो ने तत्कालीन जीवन की प्रचलित व्यवस्थाओं पर कोई प्रबल कुठाराघात नहीं किया। कालान्तर मे जैनियो और वैष्णवो मे आचरण की इतनी अधिक समानता हो गई कि उनमे भेद करना कठिन हो गया। आज भी जैनियो और वैष्णवो का आचरण प्राय बिल्कुल एक सा है। दोनो सम्प्रदायो मे 'त्रिरत्नो' का विधान है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ बौद्ध धर्म के संस्थापक कौन थे? उनके जीवन चरित्र पर संक्षेप मे प्रकाश डालिए।

२ बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के विषय मे आप क्या जानते है?

३ बौद्ध धर्म की उन्नति के कारणों पर प्रकाश डालिए?

४ क्या कारण है कि बौद्ध धर्म और जैन धर्म साथ आरम्भ होकर भी बौद्ध धर्म की उन्नति अधिक हुई जब कि जैन धर्म कम उन्नति कर सका?

५ जैन और बौद्ध धर्म की तुलना कीजिए।

६ बौद्ध धर्म की देनो पर प्रकाश डालिए।

अध्याय ११

बुद्धकालीन सभ्यता एवं संस्कृति

सामाजिक अवस्था

पिछले परिच्छेद में हमने बुद्ध कालीन भारत की राजनीतिक अवस्था का अध्ययन किया था, यहाँ हम तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था का विवेचन करेंगे। पहले सामाजिक अवस्था पर ही विचार किया जायगा।

सामाजिक वर्गीकरण—रूढ़िवादी जाति-व्यवस्था के समर्थक एवं निर्माता ब्राह्मणों को चुनौती देते हुए महात्मा गौतम बुद्ध ने जाति-भेद एवं वर्ग-भेद का समूल विनाश करने के लिए सतत् प्रयास किया था जिसके प्रमाण में उनके अमर उपदेश आज भी विद्यमान हैं। किन्तु जड़ता के आगे चेतनता की यह चिनगारी उतनी प्रकाशयुक्त एवं प्रभावोत्पादक नहीं सिद्ध हो सकी जितनी जीवन के अन्य क्षेत्रों में इसने अपना जादू दिखलाया। समाज में अस्पृश्यता का रोग पूर्ववत् बना रहा जिसका उदाहरण श्वेतकेतु जातक में प्राप्त होता है। उक्त ग्रन्थ में यह दिखलाया गया है कि एक ब्राह्मण किसी चाण्डाल के पास स्पर्श-भय से अभिभूत होकर भाग रहा है। इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण मातंग जातक में प्राप्त होता है जिसमें यह दिखाया गया है कि किसी चाण्डाल का घर नदी की बहाव की ओर (नीचे की ओर) केवल इसलिए करा दिया गया कि उसकी दातून स्नान करते समय किसी ब्राह्मण की शिखा में उलझ गई थी।

महात्मा गौतम बुद्ध के पूर्व लगभग सम्पूर्ण भारत में ब्राह्मणों का प्रभुत्व स्थापित था। उनका वर्गीकरण समस्त देश में मान्य था किन्तु बौद्ध धर्म के उत्थान के पश्चात् सामाजिक परिस्थिति में परिवर्तन आ गया। उसी काल में राजनीतिक सत्ता [illegible] में भी परिवर्तन आया, पश्चिमी भारत में तो अब भी ब्राह्मणों का वही दबदबा था और सम्पूर्ण जनता ब्राह्मणों, कर्मकाण्ड एवं ब्राह्मण-व्यवस्था को मानती थी। ब्राह्मणों के विरुद्ध चलने का साहस उनमें न था। इस प्रकार समाज में ब्राह्मणों का सर्वोच्च स्थान था। उनके नीचे क्षत्रिय तथा अन्य लोग थे। किन्तु पूर्वी भारत में अवस्था कुछ भिन्न थी। वहाँ क्षत्रियों का प्राधान्य था। ये अपने को ब्राह्मणों से किसी प्रकार नीचा समझने को प्रस्तुत न थे। वे स्वयं को ब्राह्मणों के समकक्ष मानते थे और ब्राह्मणों के समान ही धर्मनिष्ठ तथा धर्म-रक्षक समझते थे। यह [illegible] स्थिति। [illegible] भी समाज की जाति-भेद सम्बन्धी कुरूपता का अन्त नहीं कर सका [illegible] न तो इन दोनों में [illegible] कहा कि समाज में जाति-भेद का प्रश्न ही समाप्त हो जाता।

नारी का स्थान—नारियों की [illegible] पर भी [illegible] में चलना पड़ता था। [illegible] तथा [illegible] उनके [illegible] नहीं जाते थे। [illegible] का विवाह

बहुधा माता-पिता या अभिभावक ही निश्चित करते थे किन्तु किसी विशेष अवस्था में उन्हें अपना वर स्वयं चुनने का अधिकार था।

ग्राम तथा नगर सङ्गठन

ग्राम संगठन—"इन ग्रामों की आर्थिक अवस्था सरल थी। कोई भी घर आधुनिक शब्दों में धनी नहीं बन सकता था पर साथ ही यहां साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन थे, सुरक्षा और स्वतन्त्रता थी। न तो वहाँ जमींदार थे और न भिखारी।"

ग्रामों में अपराध बहुत कम होते थे। बहुधा सरकार इन पर पूर्ण नियन्त्रण रखती थी। डकैती जैसे बड़े-बड़े अपराधों को रोकने के लिए सरकार सदैव तत्पर रहती थी जिससे ग्रामीणों का जीवन शान्तिमय था।

नगर—बौद्ध ग्रन्थों में बहुत कम नगरों (निगमों) का उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित कुछ प्रमुख नगर ये हैं —

मगध की राजधानी राजगह (राजगृह), वत्स की कौशाम्बी, कोशल की राजधानी सावत्थी (श्रावस्ती), वज्जियों की वेसाली (वैसाली) अंग की चम्पा, शाक्यों की कपिलवस्तु, अवन्ती की उजेनी (उज्जयिनी), वाराणसी, अज्जोझा (अयोध्या), मथुरा, पोतन, तक्षशिला आदि। मगध की दूसरी राजधानी पाटलिपुत्र अभी केवल एक ग्राम पाटलि ग्राम के नाम से विख्यात थी। उपरोक्त नगर भारी-भारी नदियों के तटों पर ही बसे थे, अत. ये अन्तर्देशीय व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे, दीघनिकाय के अनुसार उस काल के छः प्रमुख नगर ये थे—

(१) चम्पा, (२) राजगृह, (३) सावत्थी, (४) साकेत, (५) कौशाम्बी तथा (६) वाराणसी।

इन नगरों के अतिरिक्त जातकों में कुछ अन्य नगरों का भी उल्लेख किया गया है जिनमें तक्षशिला प्रमुख है। तक्षशिला प्राचीन भारत का सर्वोन्नत नगर था। इसका महत्व शिक्षा की दृष्टि से ही बहुत बड़ा था। तक्षशिला विश्वविद्यालय से ही पाणिनि, जीवक, कौटिल्य जैसे विद्वान स्नातक निकले थे जिन्होंने भारतीय दर्शन एवं साहित्य की अभिवृद्धि में अद्वितीय योग दिया।

नगरों में बाजारों की पंक्तियाँ थीं जहाँ दूकानें साधारण रूप में सजी रहती थीं। बाजारों का पृथक-पृथक क्षेत्र रहा होगा, यह भी सम्भव है।

नगरों में बरसाती पानी निकालने के लिए छोटी-छोटी नालियाँ थीं और बड़े-बड़े दुर्गों में बड़ी प्रणालिकायें रहीं जिनसे पानी बाहर जाता था। नगर में सफाई रखने के लिए साधारण व्यवस्था थी।

आर्थिक अवस्था

कृषि-सम्बन्धी उद्योग-धन्धे तथा अन्य सहायक उद्योग-धन्धे—कुल जनसंख्या का अधिकांश भाग ग्रामों में बसता था, जिसका प्रमुख पेशा कृषि था, किन्तु कृषि के अतिरिक्त लोग तत्सम्बन्धी उद्योग तथा सहायक उद्योग-धन्धे भी किया करते थे।

जातक में कुल १८ प्रकार के उद्योग-धन्धों का उल्लेख किया गया है पर दुर्भाग्य से उनकी सूची प्राप्त नहीं है, केवल चार प्रकार के उद्योगों का ही नामांकन किया गया है—जैसे वड्ढकी, लौहकार, चर्मकार तथा चित्रकार। डेविड्स महोदय ने इन अट्ठारह प्रकार के उद्योग-धन्धों की सूची (अनुमान से) इस प्रकार दी है:—

(१) बढ़ई, (२) लुहार, (३) प्रस्तरकार, (४) बुनकर (५) चर्मकार, (६) कुम्भकार (७) हाथी दाँत के कारीगर, (८) रंगरेज, (९) जौहरी, (१०) मछुये, (११) कसाई, (१२) बहेलिया, (१३) बावर्ची, (१४) नाई, (१५) माली, (१६) नाविक, (१७) टोकरी बनाने वाले, आधुनिक 'धरिकार' जो ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी टोकरी बनाने का काम करते हैं तथा (१८) चित्रकार।

उपरोक्त शिल्पियों में से कुछ ने अपनी श्रेणियाँ स्थापित कर ली थीं और कुछ असंगठित रूप से ही कार्य करते थे। इनमें अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते थे और कृषक उनकी आय के प्रमुख साधन थे। उच्चकोटि के कलाकार नगरों में रहते थे।

निगम या श्रेणी—शिल्पियों के संगठन का निर्देशन ऊपर किया गया है। इन संगठनों को निगम अथवा श्रेणी कहा जाता था। लगभग सभी प्रमुख उद्योगों के कारीगरों ने अपनी श्रेणियाँ बना ली थीं। इन श्रेणियों में प्रशिक्षा प्राप्त करने वालों को 'अन्तेवासिक' कहते थे। अन्तेवासिक का शाब्दिक अर्थ 'वहाँ के रहने वाले' हैं। निगम का प्रधान 'जेट्ठक' (ज्येष्ठक) कहलाता था।

सेट्ठि—कुछ ग्रन्थों में 'सेट्ठि' शब्द प्रयुक्त हुआ है जो सम्भवतः प्रमुख अथवा प्रधान व्यापारी थे। श्रेष्ठ के अर्थ में ही सेट्ठि का प्रयोग होता रहा होगा। जातकों में 'महासेट्ठि' तथा 'अनुसेट्ठि' शब्द आये हैं जिनसे यह ध्वनि निकलती है कि 'सेट्ठियों' में भी उनकी स्थिति के अनुसार छोटे-बड़े पद थे।

वाणिज्य और व्यापार—अन्तर्देशीय तथा विदेशी दोनों व्यापार उन्नत अवस्था में थे। रेशम, मलमल, मूल्यवान वस्त्र, अस्त्र-शस्त्र, पिन, जरी के काम या नक्काशी, कालीन, औषधि, हाथी-दाँत की वस्तुएँ, आभूषण आदि निर्यात की प्रमुख वस्तुएँ थीं। व्यापार के सम्बन्ध में डेविड्स महोदय ने विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है जिससे ज्ञात होता कि काफिला बनाकर अथवा नाव द्वारा व्यापारी दूर-दूर तक यात्रा करते थे और हर देश में प्रवेश करते समय उन्हें चुंगी देनी पड़ती थी।

'सर जातक' में एक ब्राह्मण व्यापारी का उल्लेख मिलता है जिसने एक नौका को "सुवर्णभूमि" की यात्रा को विभिन्न व्यापारिक वस्तुओं से भरा।

इन विवरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यद्यपि अन्तर्देशीय व्यापार के लिए यातायात की पूर्ण सुविधा न थी, काफिलों द्वारा होने वाले व्यापार को डाकुओं से लुटे पिटने की आशंका बनी रहती थी तथापि ये दोनों व्यापार हुआ करते थे। मांग की प्रबल शक्ति का ही इनमें प्रमुख हाथ रहा होगा।

भाषा और साहित्य

बुद्धकालीन भारत में सामाजिक एवं आर्थिक दशाओं पर विचार कर लेने के

पश्चात् हम तत्कालीन भाषा और साहित्य [illegible] पर एक [illegible] डालेंगे।

लेखन-कला का उदय और विकास [illegible] ई जो लगभग एक हजार [illegible] [illegible] था, [illegible] का निर्माण

चित्र ९

हो चुका था और उनकी धाक अनेक धार्मिक ग्रंथों पर जम चुकी थी। यह वह काल

है जहाँ तक पहुँच कर भारत ने अनेक बौद्धिक विकास के अनेक अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किये थे। पिछले परिच्छेदों में हमने ब्राह्मण ग्रन्थों के सम्बन्ध में पढ़ा था, ये सारे ग्रन्थ अपनी विशालता तथा साहित्यिकता के लिए आज भी विख्यात हैं। किन्तु आश्चर्य यह है कि भारतीयों ने अब तक लिखना-पढ़ना नहीं सीखा था। ये सारे ग्रन्थ बिना लिखे-पढ़े ही रचे गये थे। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य प्रारम्भ में लेखनी से अछूते रहे और वे केवल ब्राह्मणों के मस्तिष्क पर उनकी जिह्वा के बार-बार पिष्टपेषण से लिखे गये थे। अनुमानतः सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० पू० से पहले भारत में लेखन-कला का विकास नहीं हो सका था।

भाषा—संस्कृत भाषा के नाटकों के अध्ययन से हम इस सम्बन्ध में यह अनुमान लगा सकते हैं कि संस्कृत तो किसी प्रकार भी जनभाषा नहीं थी। संस्कृत नाटकों के उच्च कुलीन पात्र तो शुद्ध संस्कृत में सम्भाषण करते हैं किन्तु साधारण पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि प्राकृत ही जनसाधारण की भाषा थी। वास्तव में साहित्यकारों की 'जनभाषा' में भी बनावट, कलात्मकता और साहित्यिकता का पुट होता है। संस्कृत भाषा उच्चकुलीन ब्राह्मणों तथा विद्वानमंडली में, प्राकृत साहित्यकारों की रचनाओं में तथा इसका विकृत रूप कुछ क्षेत्र के लोगों में और पाली उत्तर प्रदेश के अधिकांश भाग में प्रचलित रही होगी।

साहित्य—पाली ग्रन्थ—हिन्दू ग्रन्थों के सम्बन्ध में पहले ही विचार किया जा चुका है। जैन ग्रन्थों की रचना सम्भवतः इस काल में नहीं हो सकी थी, यद्यपि जैनी अपने धार्मिक ग्रन्थों की प्राचीनता घोषित करते हैं। प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थ पाली में हैं और इनकी रचना-तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। अनुमानतः इनकी रचना पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से ले कर प्रथम शताब्दी ई० पू० के अंतिम चरण के बीच में हुई। कुछ पुरातात्विक प्रमाणों (भरहुत-साँची आदि के अभिलेख) के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मौर्य तथा शुंगवंश के उत्थान के पूर्व धर्म और विनय की रचना हो रही थी। साहित्यिक साक्ष्य मिलिन्द पन्हो से भी यह ज्ञात होता है कि तीनों पिटक तथा पाँचों निकाय उसके पूर्व विद्यमान थे। महावग्ग तथा चुल्लवग्ग की रचना अशोक के पूर्व हो चुकी होगी क्योंकि तृतीय बौद्ध संगीति के सम्बन्ध में ये मौन हैं। चुल्लवग्ग में सुत्तविभंग तथा पाँचों निकाय का उल्लेख किया गया है। अतः ये ग्रन्थ और भी प्राचीन सिद्ध होते हैं। त्रिपिटक में से अंतिम अभिधम्मपिटक का उल्लेख नहीं है। अ. छठी शताब्दी ई० पू० के मध्य पश्चात् से लेकर २५० ई० पू० के बीच में विनयपिटक के पर्याप्त भाग तथा सुत्तपिटक के प्रथम चार निकायों की रचना हो चुकी थी।

छठी शताब्दी ई० पू० के कुछ प्रमुख धार्मिक सम्प्रदाय

पिछले पृष्ठों में हमने महावीर तथा गौतम बुद्ध के विषय में प्रकाश डाला है। भारत में बौद्धिक क्रान्ति का श्रीगणेश न तो इन दो धार्मिक नेताओं तक ही सीमित और न इनसे ही इसकी इति होती है। महावीर तथा गौतम के पूर्व तथा उन्हीं

से भी भारत में अनेक विचारकों के सम्प्रदाय विद्यमान थे। इन सम्प्रदायों की संख्या अतिरंजित रूप में बताई जाती है। पाली ग्रन्थ 'निद्देस' में बताया गया है कि जिस समय भगवान् बुद्ध ने अपने मत का प्रचार आरम्भ किया उस समय ६२ विभिन्न सम्प्रदाय थे। जैन ग्रन्थ 'सूत्रकृतांग' में तो इनकी संख्या ३६३ बताई गई है। 'अंगुत्तर निकाय' की तालिका जिसमें दस सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है काफी प्रामाणिक है। तालिका इस प्रकार है—

(१) आजीविक, (२) निगन्थ (निर्ग्रन्थ), (३) मुण्डसावक, (४) जटिलक, (५) परिव्राजक, (६) मागन्डिक, (७) तेदण्डिक, (८) अविरुद्धक, (९) गोतमक तथा (१०) देवधम्मिक।

बौद्ध ग्रन्थों में अबौद्ध सम्प्रदायों के छः प्रमुख नेताओं के नाम दिये गये हैं और वे तित्थकर (सम्प्रदायों के जन्मदाता) कहे गये हैं। बौद्ध ग्रन्थों में इन धार्मिक नेताओं का विवरण अपमानोत्पादक रूप में दिया गया है।

ये नेता भगवान् बुद्ध के पहले थे क्योंकि स्वयं बौद्ध ग्रन्थों ने यह स्वीकार किया है कि उनकी तुलना में बुद्ध कम आयु के थे और धार्मिक जीवन में अभी बिलकुल नये थे। नीचे इन धार्मिक नेताओं पर संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा।

(१) **पुराण-कस्सप**—पुराण कस्सप किसी प्रकार के शुभ अशुभ कार्य की आवश्यकता में विश्वास नहीं करते थे, अतः कार्य की नैतिकता अथवा अनैतिकता उनके लिए कोई महत्व नहीं रखती थी। ये ब्राह्मण थे और कहा जाता है कि अपने ज्ञान की पूर्णता के कारण ही इनका 'पुराण' नाम पड़ा था।

(२) **मक्खलि गोसाल**—इन्होंने कर्म और उसके प्रभाव दोनों का खण्डन किया है। उनके मतानुसार चौरासी लाख योनियों में निरन्तर जन्म तथा मृत्यु के चक्र में पड़े रहने से मूर्ख तथा विद्वान् सभी अपने दुखों से छुटकारा पा लेंगे।

(३) **अजित केसकम्बलिन**—इनका मत था कि मृत्यु के पश्चात् सब कुछ नष्ट हो जाता है और कर्म द्वारा किसी प्रकार के लाभ की आशा नहीं है।

(४) **पकुध कच्चायन**—इनका सिद्धान्त था 'सतानच्छि विनासी असतोनच्छि सम्भावो' अर्थात् जो कुछ है उसका विनाश नहीं किया जा सकता और जो नहीं है उसके (होने की) सम्भावना नहीं।

(५) **निगन्थनातपुत्त**—समस्त बन्धनों से मुक्त होने के कारण ही इन्हें निगन्थ (निर्ग्रन्थ) कहा जाता था। ये जैन धर्म के संस्थापक थे।

(६) **सजयवेलट्ठपुत्त**—इन्होंने अनेक जटिल प्रश्नों का विचित्र उत्तर ढूँढ़ निकाला जो मगध के प्राचीन निवासियों के लिए तर्क और चिन्तन का विषय बने हुए थे, जैसे 'क्या अच्छे और बुरे कर्मों का परिणाम होता है' के उत्तर में वे कहते हैं—

(१) परिणाम होता है, (२) परिणाम् नहीं होता है, (३) परिणाम होता भी है और नहीं भी होता है, (४) न तो परिणाम् होता ही है और न यही है कि परिणाम न हो। सजय के उक्त उत्तरों में बचाव की कितनी सम्भावना है यह स्पष्ट है। सम्भवतः वे कुछ भी निश्चयात्मक रूप से नहीं कहना चाहते थे।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. बुद्ध कालीन समाज के विषय में आप क्या जानते हैं ?

२. बुद्ध कालीन भारत की आर्थिक व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।

३. छठीं शताब्दी ई० पू० में भारत की साहित्यिक प्रगति पर प्रकाश डालिए।

४. छठीं शताब्दी ई० पू० के कुछ प्रमुख धार्मिक सम्प्रदायों का उल्लेख कीजिए।

अध्याय १२

मगध साम्राज्य का उदय

पिछले [illegible] का वर्णन करते हुए मगध पर कुछ प्रकाश डाला था। [illegible] साम्राज्य [illegible] मगध [illegible] पर प्रकाश डाला जायगा।

अजातशत्रु के उत्तराधिकारी [illegible] भिन्न-भिन्न अनुश्रुतियाँ [illegible] ग्रन्थों में प्राप्त होती हैं। [illegible] आधार पर अजातशत्रु के उत्तराधिकारियों [illegible] किया जायगा।

उदयभद्र या उदयिन—पुराणों के अनुसार अजातशत्रु के पश्चात् उसका पुत्र दर्शक सिंहासनारूढ़ हुआ। पुराणों ने दर्शक का [illegible] बताया है।

महावंश के आधार पर अजातशत्रु का उत्तराधिकारी उदयभद्र था। जैन ग्रन्थों ने इसे अजातशत्रु का पुत्र स्वीकार किया है। [illegible] उदयभद्र ने पराजित किया था। अवन्ती तथा मगध की परम्परागत [illegible] होता है और अब उत्तर में मगध राज्य के समान दूसरा कोई [illegible] था। [illegible] अनुश्रुति के अनुसार उदयभद्र एक षड्यन्त्र द्वारा मार डाला गया था।

उदयभद्र के उत्तराधिकारी—इन्होंने ८ वर्ष तक राज्य किया था, अर्थात् ४६५ ई० पू० तक राज्य किया था। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार मुण्ड के पश्चात् नागदाशक राजा हुआ। इसने २४ वर्षों तक, [illegible] ई० पू० तक राज्य किया।

पुराणों में उदयिन के उत्तराधिकारी नन्दिवर्धन तथा महानन्दिन थे। जैन साक्ष्यों के अनुसार उसका कोई उत्तराधिकारी ही नहीं था।

उदयभद्र, अनुरुद्ध, मुण्ड, नागदाशक आदि का उल्लेख पुराण कहीं नहीं करते हैं। पुराणों का दर्शक ही सम्भवतः नागदर्शक है। नागदर्शक के पश्चात् शैशुनाग सिंहासनारूढ़ हुआ उसने १८ वर्षों तक (५२३ ई० पू० तक) राज्य किया। शैशुनाग के सम्बन्ध में बताते हुए कि वह एक मन्त्री था और प्रजा द्वारा राजा बनाया गया। सिंहली अनुश्रुतियाँ यह भी सूचित करती हैं कि अजातशत्रु से लेकर नागदाशक तक सभी राजे पितृहन्ता थे और इसीलिए जनता ने विद्रोह करके मन्त्री शैशुनाग को राजा बनाया। पुराणों में शिशुनाग राजा का उल्लेख है जिसने अवन्ति राज्य के प्रद्योत को पराजित करके मगध में मिला लिया। इसने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र से हटाकर पुनः गृहव्रज में कर ली और अपने पुत्र को बनारस का प्रान्तीय शासक बना दिया।

शैशुनाग के पश्चात् उसका पुत्र कालाशोक सिंहासनारूढ़ हुआ। कालाशोक का दूसरा नाम काकवर्ण तथा काकवर्णन् भी मिलता है।

कालाशोक के पश्चात् उसके दस पुत्रों ने २२ वर्षों तक ४०३ ई० पू० तक सम्मिलित राज्य किया।

नन्द वंश का उदय

कर्टियस ने लिखा है कि 'अग्रमीज' का पिता नाई था जिसने किसी प्रकार रानी का प्यार पा लिया, अन्त में उसने राजा का वध कर दिया। राजा कालाशोक के वध के पश्चात् वह उसके १० पुत्रों का अभिभावक बना और अन्त में उनका भी वध करके राजा बन बैठा। किन्तु 'अग्रमीज का पिता' से कर्टिस का क्या अभिप्राय है? महाबोधि वंश में नन्दवंश के संस्थापक का नाम उग्रसेन बताया गया है। उग्रसेन का पुत्र 'औग्रसैन्य' सम्भवतः यूनानी भाषा का 'अग्रमीज' है। यूनानी लेखक नन्दवंश के संस्थापक को नाई बताते हैं।

कालाशोक के १० पुत्रों में से एक का नाम नन्दिवर्धन भी था जिसे पुराणों ने नन्द का पूर्वज माना है पर इसका खण्डन उपरोक्त घटना कर देती है।

श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने महाबोधिवंश द्वारा प्रस्तुत ६ नन्द शासकों के नाम इस प्रकार गिनाये हैं—उग्रसेन, पण्डुक, पण्डुगति, भूतपाल, राष्ट्रपाल, गोविशाक, दाससिद्धक, कैवर्त तथा धन।

पुराणों के अनुसार प्रथम नन्द-शासक का नाम महापद्म या महापद्मपति तथा महाबोधिवंश के अनुसार उग्रसेन था। पुराण इसे 'शूद्रगर्भोद्भव' बताते हैं।

महापद्म—पुराणों ने नन्दवंश के संस्थापक महापद्म को 'सर्वक्षत्रान्तक' (समस्त क्षत्रियों का विनाशक) कहा है। उसे 'एकराट' की भी उपाधि प्रदान की है। इससे यह परिलक्षित होता है कि उसने शैशुनाग राजाओं के समकालीन इक्ष्वाकु, पांचाल, काशी, हैहय, कलिंग, अश्मक, मैथिल, शूरसेन, वीतिहोत्र आदि राजाओं को पराजित कर दिया था। "नवनन्द देहरा" नामक नगर (गोदावरी तट पर नान्देर) से यह बोध होता है कि दक्षिण में नन्दों की सत्ता स्थापित थी।

महापद्म उग्रसेन के पश्चात् उनके आठ पुत्रों ने बारह वर्षों तक (पुराणों के अनुसार) राज्य किया। महाबोधिवंश द्वारा दी गई ६ नन्दों की तालिका पिछले पृष्ठ में प्रस्तुत की गई है। इसमें अन्तिम धन ही सम्भवतः यूनानियों का अग्रमीज है।

नन्दों के सम्बन्ध में कुछ और अधिक प्रकाश जैन ग्रन्थ "आवश्यक सूत्र" से पड़ता है। प्रथमनन्द का मन्त्री कल्पक था। इसी ने प्रथम नन्द को क्षत्रिय राजवंशों के विनाश के लिए प्रोत्साहित किया था। नन्दों के शासन-काल में मन्त्री का पद वंशानुगत होता था। नवें नन्द के मन्त्री का नाम शकटाल (Sakatal) था जिनके दो पुत्र स्थूलभद्र तथा श्रीयक थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् स्थूलभद्र को पद दिया गया पर उसने इसका त्यागकर दिया और जैन भिक्षु बन गया। तब श्रीयक पदासीन हुआ।

नन्दवंश का अन्तिम शासक धननन्द सिकन्दर के आक्रमण के समय मगध पर राज्य करता था और तत्पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा उसका अन्त कर दिया गया जिससे मगध में दूसरा राजवंश प्रतिष्ठित हुआ।

नन्दों का महत्व राजनीतिक दृष्टिकोण से अधिक है। इन्होंने ही सर्वप्रथम छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त भारत की राजनीतिक एकता के पथ पर अग्रसर किया जिससे

समुद्र में पश्चिम की ओर चलकर तीस महीनों में [illegible] कि सम्राट ने फूर्नीशियन को लीबिया की जलयात्रा को रवाना किया था। [illegible] पूरी कर आने, डेरियस ने भारतीयों को पराजित कर [illegible] का [illegible] किया"।

जरक्सीज—(क्षयार्ष) डेरियस की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र जरक्सीज (Xerxes ४८६-४६५ ई० पू०) सिंहासनारूढ़ हुआ। [illegible] भारतीय राज्य को इसने अपने अधीन बनाए रक्खा।

पारसीक भारतीय सम्पर्क का प्रतिफल

इन दोनों जातियों का सम्पर्क बहुत पहले से चला आ रहा था जिसके सम्बन्ध में बताया जा चुका है। कुछ विद्वानों ने तो इन दोनों जातियों को एक ही माना है। और वे पारसीक ग्रन्थ अवेस्ता तथा हिन्दू ग्रन्थ वेद दोनों [illegible] को ही इसके प्रमाण में प्रस्तुत करते हैं।

यह तो प्रागैतिहासिक काल की बात रही। ऐतिहासिक काल में भी इनके पारस्परिक सम्पर्क का प्रमाण प्राप्त होता है जिसके विषय में [illegible] के प्रारम्भ में भी बताया जा चुका है। पारसी लेखकों ने भारत में 'अरमइक' (Aramaic) [illegible] की लेखन-प्रणाली का प्रचलन किया जिसका विकास अशोक काल [illegible] उसके पश्चात् 'खरोष्ठी' लिपि के नाम से हुआ। यह अरबी लिपि की भाँति दाहिने से बाएँ ओर को लिखी जाती थी। भवन निर्माण कला के क्षेत्र में भी कुछ विद्वान पारसीक प्रभाव का अनुभव करते हैं और उनका ऐसा विचार है कि अशोक का पाटलिपुत्र का खम्भों वाला विशाल भवन, उसके स्तम्भ एवं शिलाओं पर उत्कीर्ण अभिलेख तथा खम्भों की घण्टा शीर्ष आदि ये सारी शैलियाँ पारसीक देन हैं। इस मत में काफी सत्यता भी प्रकट होती है। अशोककालीन तक्षण कला का नमूना इसके पूर्व भारत में नहीं प्राप्त होता है और सम्भवतः अशोक के पूर्व तो स्तम्भ खड़ा करने की परिपाटी ही न थी।

कुछ विद्वान भारतीय राजाओं के दरबारी जीवन पर भी इस सम्पर्क का प्रभाव दिखाते हैं और उनका अनुभव है कि चन्द्रगुप्त का राज दरबार में केश सिंचन (फारस) के सम्राट की इसी प्रथा के आधार पर प्रचलित हुआ था। पारसीक आक्रमण और पारसीक सम्पर्क की स्मृति लगभग आगामी दो तीन शताब्दी तक बनी रही इसका मान्य प्रमाण स्वयं अशोक के अभिलेख हैं जिसमें राजा पारसीक सम्राटों की ओर संकेत करता है—

"देवानां पियो पियदसि राजा एवं आह यातीय [illegible] ।"

उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पारसीक आक्रमण का प्रत्यक्ष प्रभाव भारतवर्ष पर पड़ा। यह प्रभाव अपना तात्कालिक परिणाम भी दिखा सका और यदि हम यह निश्चयपूर्वक स्वीकार कर लेते हैं, जैसा कि अधिकांश विद्वानों ने स्वीकार किया है कि अभिलेख उत्कीर्ण कराना पारसीक देन है, तो हम अपने को पारसीक प्रभाव का वास्तव में ऋणी समझना चाहिये, क्योंकि अभिलेखों के अभाव में हमारे इतिहास के अनेक क्षेत्र तिमिराच्छादित ही रह गये होते और कुछ इतिहासकारों को इतिहास लिखने के स्थान पर 'इतिहास गढ़ना' पड़ता।

यूनानी आक्रमण

सिकन्दर का आक्रमण

आर्य-भूमि पर यह पहला आक्रमण था जिससे विदेशियों को कालान्तर में भारत पर धावा करने का रास्ता खुल गया। यद्यपि उसके आक्रमण का कोई विशेष प्रभाव

३२७ ई० पूर्व में भारत

चित्र २१

हमारे देश पर न पड़ा तथापि देश की राजनैतिक व्यवस्था परिवर्तित हो गई। छोटे छोटे राज्यों का अन्त हो गया और एक बड़े साम्राज्य मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई। इसकी

एक ओर देन हम भुला नहीं सकते, वह है कि हमारे देश का इतिहास यहीं से तिथि-क्रम के अनुसार लिखा जाने लगा। ऐसा महत्त्वपूर्ण था सिकन्दर का यह आक्रमण भारत के लिए।

आक्रमण के समय भारत की अवस्था— सिकन्दर के आक्रमण के समय उत्तरी भारत अनेक राजतन्त्रों एवं गणतन्त्रों में विभक्त था जो आपस में लड़ाई किया करते थे। मेगस्थनीज के अनुसार उत्तरी भारत में ११८ राज्य थे, जिनमें क्षुद्रक, मालव, मूषिक, कठ, शिवि, सौभूति, शूद्रक तथा गन्धार थे। तीन विशेष उल्लेखनीय हैं— (१) आम्भी राज्य, (२) अभिसार राज्य, (३) पुरु राज्य। उत्तर भारत का अधिक भाग मगध राज्य में सम्मिलित था। नन्द भारत का शक्तिशाली राजा था। पश्चिमोत्तर प्रदेश के राज्यों में संगठन नहीं था। वे एक दूसरे को नीचा दिखाने की चेष्टा करते थे। इन्हीं राजनीतिक परिस्थितियों ने सिकन्दर के आक्रमण को सुगम बना दिया। कुछ राजाओं तथा प्रजा ने अपनी मातृ-भूमि की रक्षा के लिए सिकन्दर का दिल खोल कर सामना किया पर कुछ विश्वासघातियों ने सिकन्दर का ही साथ देकर देश बर्बादी में हाथ बटाया।

भारत की ओर—लगभग ३३० ई० पू० में सिकन्दर भारत के लिए रवाना हुआ। हिंदूकुश पर्वत को अप्रैल ३२९ ई० पू० में पार कर वह गजनी तथा काबुल होता में तक्षशिला के राजा की ओर चला। अफगानिस्तान ने इसका लोहा मान लिया। ई० पू० ३२७ में आम्भी ने पुरु राज्य पोरस को नीचा दिखाने के लिए सिकन्दर को भारत आने का निमन्त्रण दिया। सिकन्दर कब सुअवसर को जाने देता। वह उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्तों के छोटे-छोटे राज्यों को जीतता हुआ निकासिया (जलालाबाद) पहुँचा। यहाँ उसने अपनी सेना के दो भाग करके दो मार्गों से चलने का आदेश दिया। एक भाग दो सेनापतियों की अध्यक्षता में भारत की ओर चला। दूसरे भाग का संचालक वह स्वयं था। इस सेना को लेकर उसने अनेक पर्वतीय जातियों का दमन किया। अस्पसी, नीसा तथा अस्सकनोइयों को पराजित करता हुआ उसने ई०पू० ३२६ में सिन्धु नदी को पार किया।

तक्षशिला—तक्षशिला के राजा आम्भी ने सिकन्दर का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। इसकी देखा-देखी अन्य छोटे राजाओं ने भी आत्म-समर्पण कर दिया।

पुरु का राजा पोरस—इन राजाओं के आत्म-समर्पण कर देने से सिकन्दर का उत्साह बढ़ गया। वह तक्षशिला से पुरु की ओर बढ़ा। उसने पुरु के राजा पोरस को कहला भेजा कि वह भी आत्म-समर्पण कर दे। किन्तु पोरस एक निर्भीक एवं स्वतन्त्रता प्रेमी शासक था। उसने उत्तर दिया कि वह सिकन्दर से रणक्षेत्र में मिलेगा। पोरस ने किया भी वही। सिकन्दर जब अपनी सेना सहित झेलम के किनारे पहुँचा तो पोरस को प्रतीक्षा करते पाया। जुलाई का महीना था। नदी में बाढ़ आई थी। कई दिनों तक यूनानी वहीं किनारे पर कैम्प डाले पड़े रहे। पर एक दिन अँधेरी रात में सिकन्दर ने नदी पार कर पोरस की सेना पर चढ़ाई कर दी। दिन भर युद्ध होता रहा। भारतीयों ने यूनानियों के दाँत खट्टे कर दिये। पर अचानक पोरस के हाथी के बिगड़ जाने से उसकी सेना में खलबली मच गई। फलतः सिकन्दर की विजय हुई। पोरस पकड़ कर सिकन्दर के सामने लाया गया। कहा जाता है कि सिकन्दर ने पोरस से पूछा कि उसके

साथ कैसा व्यवहार किया जाय । उसने कहा—जैसा राजा राजा के साथ करता है । इस बात पर सिकन्दर बहुत मुग्ध हुआ और उसने उसका राज्य कुछ और नगरी मिला कर लौटा दिया, पर वास्तव में सिकन्दर ने पोरस को मिलाने ही के लिए ऐसा किया था ।

ग्लाउसाई तथा कनिष्ट पोरस—पुरु को जीत कर सिकन्दर आगे बढ़ा और उसने ग्लाउसाई तथा ग्लाउगनिक जाति के ३७ नगर जीत लिये । चिनाव पार कर उसने पोरस के भतीजे कनिष्ट पोरस को हरा कर उसका राज्य अपने राज्य मे मिला लिया ।

विप्रमा तथा संगल—रावी नदी पार कर सिकन्दर ने अप्रस्ते के दुर्ग विप्रमा पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया । आगे बढ़ने पर कठों के नगर संगल पर उसका आक्रमण हुआ । कठों की वीरता देख सिन्कदर को जीत की कोई आशा न रही पर पोरस की सहायता ने उसे विजयी बनाया । पोरस को मिलाने का लाभ सिकन्दर को तुरन्त मिल गया ।

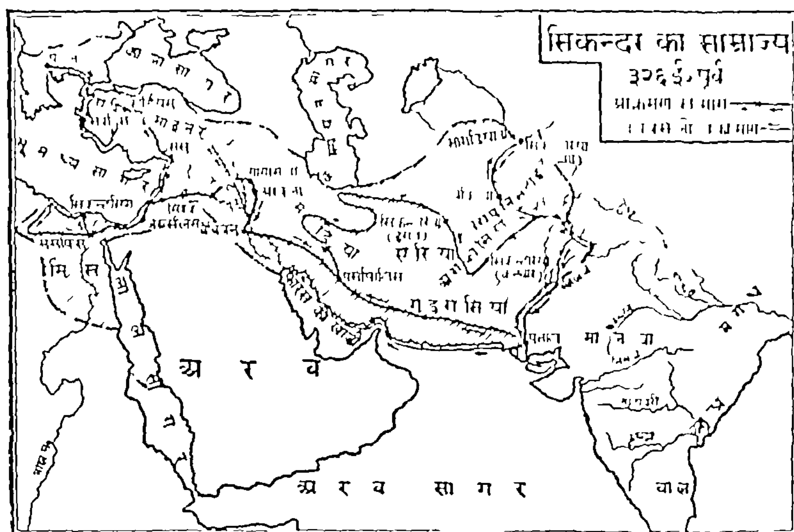
ग्रीक सेना का विद्रोह

व्यास के तट पर पहुँच जाने के पश्चात् यूनानी सेना ने सहसा आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया । महान् संगटनकर्ता, कुशल सेनानायक एवं वीर सिकन्दर की सुव्यवस्थित सेना का यह विद्रोह आश्चर्यजनक ही रहा । सिकन्दर के जोशीले भाषणों के सम्मुख भी सेना केवल आँसू बहाकर रह गई । सेना ने आगे बढ़ने से क्यों इन्कार कर दिया, इस सम्बन्ध मे इतिहासकारों ने दो प्रकार के कारण बताये हैं । पहला आन्तरिक तथा दूसरा बाह्य । आन्तरिक कारणों में सैनिकों की शिथिलता, व्याधिमग्नता, वस्त्राभाव तथा उनका गृहोन्मुख होना सम्मिलित है, तथा बाह्य कारणों में भारतीय सैनिकों की रणकुशलता एवं भावी खतरे की आशंका है ।

सिकन्दर अपनी सेना को आगे बढ़ने के लिए जितना ललकारता था, सैनिकों का विद्रोह उतना ही भयंकर रूप धारण करता जा रहा था । उन्होंने सुन रक्खा था कि आगे भयानक नदियाँ, कष्टकर मरुभूमि तथा विशाल सेनायुक्त लड़ाकू जातियाँ हैं ।

कर्टियस के कथनानुसार यह ज्ञात होता है कि सिकन्दर ने सेना से अपील की—"सैनिकों ! मुझे ज्ञात है कि इस देश के निवासियों ने पिछले दिनों में अनेक प्रकार की किंवदन्तियाँ प्रचारित कर रक्खी हैं जिनका अभिप्राय तुम्हारे अन्दर केवल भय का संचार करना है । किन्तु तुम्हारे अनुभव में इस प्रकार के मिथ्या प्रवाद नये नहीं हैं ।" सेना पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और कोइनस ने कहा, "यद्यपि यह सत्य है कि दुर्गों की संख्या सम्बन्धी अफवाहों में अधिक अत्युक्ति है तथापि उन मिथ्या अफवाहों से भी हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि भारतीयों की संख्या काफी अधिक होगी ।" "बात दो मुझे भयंकर नदियों के बारे में, छोड़ दो मुझे युद्ध गजों की दशा पर और इन लड़ाकू जातियों के शारीरिक सौंदर्य पर जिनके बारे तुम्हें आतंक से भर रहे हो, मैं ढूँढ लूँगा ऐसे साथी जो मेरा अनुसरण करेंगे ।" पर सिकन्दर के इन वाक्यों का उत्तर गोल-मोल आवाज़ ही सुनने मिली और तब उसने निराश होकर कहा, "निष्क्रिय कायरों के शब्द मेरे कानों में टकरा रहे हैं, मैं ऐसे लोगों को उत्साहित करना चाहता हूँ जिनके हृदय त्रास से भर गये हैं ।" अन्त में सिकन्दर को स्वदेश की ओर सेना का मुँह मोड़ देना पड़ा ।

सिकन्दर की वापसी—सिकन्दर ने पोरस को व्यास और झेलम के बीच के भाग का राजसराय बनाया। लौटते समय सिकन्दर ने शिवि तथा अग्रिश्रेणी आदि को हराया और आग्लोसोई, मल्ल तथा क्षुद्रकों पर विजय प्राप्त की। सिंध के शासक के उपहार न देने के कारण सिकन्दर ने सिंध पर आक्रमण कर दिया और ब्राह्मण राजा का हनन कर अपनी घोर क्रूरता का परिचय दिया। पत्तन पहुँच कर सिकन्दर ने सेना के



चित्र न० ११

तीन भाग कर दिये। एक भाग सक्कर, क्वेटा, कान्धार और सीस्तान होता हुआ पर्सिया की ओर चल दिया। दूसरा भाग जल-मार्ग से चला और तीसरा भाग सिकन्दर के साथ बिलोचिस्तान के दक्षिणी भाग से होता हुआ आगे बढ़ा। मई ३२४ ई० पू० में वह फारस पहुँचा। मार्ग में ही ३३ वर्ष की आयु में ३२३ ई० पू० में बेबीलोन पहुँच कर सिकन्दर स्वर्गगामी हो गया।

सिकन्दर के आक्रमण का प्रभाव

सिकन्दर एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। उसने विश्व-विजय का स्वप्न देखा था। इसी प्रेरणा से उसने भारत की ओर भी पैर बढ़ाया पर सेना के विद्रोह के कारण विवश हो लौट गया।

राजनीतिक प्रभाव—उसके इस आक्रमण का कुछ प्रभाव भारत पर अवश्य पड़ा जो इस प्रकार है—

(१) सिकन्दर ने बहुत से स्कन्धवार और नगरों की स्थापना की जिनका अस्तित्व उसकी मृत्यु के पश्चात् भी बना रहा। इस प्रकार आदान-प्रदान का अवसर मिला और गान्धार-कला का जन्म हुआ।

(२) इस आक्रमण ने भारतीयों को यह पढ़ाया कि उनका सैन्य-संगठन तथा युद्ध-विधि विदेशियों के मुकाबले में दोषपूर्ण है। (३) सीमान्त प्रदेशों में तथा पश्चिमी

पंजाब और सिन्धु में यूनानी राज्य बन गया पर सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् ही उनकी सत्ता समाप्त हो गई। (४) इस आक्रमण ने पश्चिमी भारत की राजनीतिक दुर्बलता को स्पष्ट कर दिया। (५) आक्रमण द्वारा पददलित राज्यों की क्षीण दशा से चन्द्रगुप्त को अवसर मिला जिससे वह मौर्य-साम्राज्य की स्थापना कर सका। (६) आक्रमण के पश्चात् ही यूनानियों ने पश्चिमोत्तर प्रदेश में एक सुसंगठित राज्य का निर्माण कर लिया जिससे भारतीयों को राजनीतिक एकता की शिक्षा मिली। (७) सिकन्दर की आक्रमण तिथि ने भारत में भी तिथि का सूत्रपात कर दिया और तब से तिथि क्रमानुसार इतिहास चलने लगा। (८) अनेक विद्वान यूनानी लेखकों ने भी भारत में पदार्पण किया था जिन्होंने तत्कालीन भारत का इतिहास लिखा। इनके द्वारा हमें उस काल की घटनाओं का ज्ञान होता है।

सांस्कृतिक प्रभाव—सिकन्दर के आक्रमण का हल्का प्रभाव भारतीय संस्कृति पर भी पड़ा—

(१) मुद्रा-निर्माण का कलात्मक ढंग यूनानियों ने भारत को दिया। (२) भवन-निर्माण की नवीन विधि का प्रभाव भी भारतीयों पर कुछ काल तक रहा। (३) कला की गान्धार शैली का अभ्युदय हुआ। (४) इसी प्रकार ज्योतिष पर यूनानी प्रभाव ज्ञात होता है। (५) भारतीय दर्शन पर यूनानी दार्शनिक पैथागोरस का प्रभाव पड़ा। (६) सिकन्दर द्वारा खोजे गये मार्ग ने योरप और भारत में जो सम्बन्ध स्थापित किया उससे योरप वासियों को भी अनेक लाभ हुए। कुछ विद्वानों का मत है कि ईसाई धर्म के परवर्ती रूप (Gnostic Form) पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा साथ ही योरोपीय दर्शन को भी भारतीय दर्शन ने प्रभावित किया।

आर्थिक प्रभाव—यातायात के साधनों को सिकन्दर के आक्रमण ने अधिक प्रोत्साहन दिया जिससे व्यापारिक उन्नति हुई।

(१) यूनान भारत के चार पथ—एक जल से तथा तीन थल से खोज निकाले गये। इससे भारत और यूनान का व्यापार सुगम हो गया, (२) यूनानी सिक्कों का प्रचलन भारत में अधिक हो चला था। इससे व्यापारिक सम्बन्ध और भी गहरा हो गया और (३) भारत का व्यापार पश्चिमी देशों से भी होने लगा।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. प्रारम्भिक पारसीक आक्रमणों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

२. सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक अवस्था का उल्लेख कीजिए।

३. सिकन्दर के भारतीय अभियान का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

४. सिकन्दर के आक्रमण का भारत पर क्या प्रभाव पड़ा ?

अध्याय १४

मौर्य-काल

चन्द्रगुप्त मौर्य

यूनानी आक्रमणकारी सिकन्दर जिस समय भारत के सीमान्त प्रदेशों पर अपना तूफानी आक्रमण कर रहा था और दुर्बल एवं विभाजित रहने वाले भारतीय राजाओं की शक्ति का अपहरण करने में लगा था उसी समय मगध के विशाल साम्राज्य में एक भारतीय नवयुवक अपनी राजनीतिक शक्ति संचय कर रहा था। यह युग राजनीतिक अनेकता का युग था। सम्पूर्ण भारतवर्ष में (कम से कम उत्तरी भारत में) मगध ही एक शक्तिशाली एवं सुसंगठित राज्य था। सिकन्दर के आक्रमण का उल्लेख करते हुए पिछले परिच्छेद में हमने यह बताया था कि विश्वविजेता सिकन्दर की अजेय सेना ने किस प्रकार नन्द-सेना की विशालता की कल्पना मात्र से ही भयातुर होकर आगे बढ़ने में असमर्थता प्रकट की थी। दूसरी ओर एक अकेला व्यक्ति उस विशाल साम्राज्य को पराजित करने की सोच रहा था। उसकी महत्वाकांक्षाएं कल्पित कल्पना मात्र न थीं वरन् उसने नन्दों को समूल नष्ट करके सचमुच भारतीय इतिहास में एक नये युग का निर्माण किया। इस उत्साही वीर पुरुष का नाम चन्द्रगुप्त मौर्य था तथा उसके साम्राज्य का नाम मौर्य साम्राज्य था।

चन्द्रगुप्त का प्रारम्भिक जीवन—इस अज्ञात पिता के विख्यात पुत्र चन्द्रगुप्त का जन्म लगभग ३४५ ई० पू० में हुआ था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि मगध साम्राज्य के उत्कर्ष के समय मौर्यों की महत्ता का अन्त हो चुका था। इन्हीं मौर्यों के प्रधान का पुत्र चन्द्रगुप्त अपनी विधवा माता द्वारा किसी प्रकार पाला जा रहा था। इतिहासकारों तथा अनुश्रुतियों एवं लोककथाओं में चन्द्रगुप्त की जाति पर मतभेद है। कुछ इसे क्षत्रिय मानते हैं तथा कुछ शूद्र घोषित करते हैं। यूनानी लेखक जस्टिन के कथनानुसार चन्द्रगुप्त का जन्म एक ऐसे गाँव के प्रधान के घर में हुआ था जिसमें 'मयूर-पोषक' (मोर पालने वाले) रहा करते थे। 'मयूर-पोषक' कुल में उत्पन्न होने के नाते चन्द्रगुप्त को मौर्य की उपाधि प्राप्त हुई। चन्द्रगुप्त मौर्य को निम्न कुल का बताने वाला दूसरा साधन विष्णु पुराण है। मौर्य शब्द के आधार पर ही विष्णु पुराण में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि चन्द्रगुप्त का जन्म नन्द राजा की मूरा नामक स्त्री से हुआ था। किन्तु संस्कृत-व्याकरण के अनुसार मूरा से 'मौरेय' शब्द बनेगा न कि मौर्य। टीकाकार वास्तव में चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध राजपूत से जोड़ना चाहता है, किन्तु दंतकथाओं एवं अनुश्रुतियों की छाप उसके मस्तिष्क पर रही जिसके फलस्वरूप उसने चन्द्रगुप्त की माता का नाम शूद्रा स्त्री-सा रख दिया। बृहत्कथा में भी चन्द्रगुप्त को तुच्छ कुल का बतलाया गया है। विशाखदत्त द्वारा रचित मुद्राराक्षस नाटक में चन्द्रगुप्त मौर्य को 'वृषल' शब्द से सम्बोधित किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जस्टिन साहब, विष्णु पुराण की टीका, बृहत्कथा तथा मुद्राराक्षस चन्द्रगुप्त मौर्य को तुच्छ कुल का बताते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं उपलब्ध है जो चन्द्रगुप्त को शूद्र घोषित करते हों।

अब हम उन साधनों पर प्रकाश डालेंगे जो चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय मानते हैं। बौद्ध अनुश्रुतियों का इस क्षेत्र में विशेष स्थान है। दिव्यावदान चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार को मूर्धाभिषिक्त मानता है। इसी प्रकार एक अन्य बौद्ध ग्रंथ महावंश चन्द्रगुप्त को मोरीय क्षत्रिय कुल का मानता है। मोरीय क्षत्रियों की उपस्थिति का प्रमाण हमें एक अन्य प्रामाणिक बौद्ध ग्रन्थ महापरिनिब्बान सुत्त से प्राप्त होता है। इस ग्रंथ में मोरियों को पिप्पलिवन का शासक बतलाया गया है। इस ग्रन्थ में यह लिखा हुआ है कि पिप्पलिवन के मोरियों ने मल्लों के पास महात्मा गौतम बुद्ध के पावनावशेष का कुछ अंश माँगने के लिए एक दूत यह कहला कर भेजा "कि महात्मा बुद्ध क्षत्रिय वंश के थे और हम लोग भी क्षत्रिय हैं।" इस विवरण से मोरीय क्षत्रियों की उपस्थिति का प्रमाण प्राप्त हो जाता है और साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य निश्चय ही इन्हीं मौरियों से सम्बन्धित क्षत्रिय कुल का रहा होगा। दिव्यावदान, महावंश, महापरिनिब्बान सुत्त आदि बौद्ध ग्रन्थों तथा अन्य बौद्ध अनुश्रुतियों से चन्द्रगुप्त का क्षत्रिय होना प्रमाणित होता है। इनके अतिरिक्त जैन ग्रन्थों से भी चन्द्रगुप्त का क्षत्रिय होना सिद्ध हो जाता है। इन जैन ग्रन्थों में परिशिष्ट पर्वण तथा कल्पसूत्र विशेष उल्लेखनीय हैं।

एलिसन, सर जान मार्शल तथा डा० हेमचन्द्र राय चौधरी भी चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय स्वीकार करते हैं।

मगध पर पहला आक्रमण—इधर चन्द्रगुप्त नन्दों से चिढ़ा था उधर एक भयंकर ब्राह्मण भी नन्दों का सर्वनाश करने के लिए अपनी शिखा खोल चुका था। उस ब्राह्मण का नाम था चाणक्य या कौटिल्य। चाणक्य जैसा कूटनीतिज्ञ ब्राह्मण का नन्द वंश से असन्तुष्ट हो जाना बहुत बड़ी बात थी। नन्दों को यह नहीं मालूम था कि चाणक्य में कौन सा गुण छिपा हुआ था नहीं तो वे उससे झगड़ा मोल न लेते। संयोगवश चाणक्य और चन्द्रगुप्त की भेंट हो गई। फिर क्या पूछना था, दोनों ने एक बहुत बड़ी सेना एकत्रित की और नन्दों पर आक्रमण कर दिया। किन्तु उनका मगध पर आक्रमण करना ठीक न था, क्योंकि केन्द्र में नन्दों की शक्ति काफी बढ़ी थी। नन्दों ने चन्द्रगुप्त को हरा दिया। चाणक्य और चन्द्रगुप्त को मगध से हटना पड़ा। चाणक्य बड़ा कूटनीतिज्ञ था। उसने दूसरी तरकीब सोची।

सिकन्दर से भेंट—इस बार सिकन्दर का आक्रमण हो गया था और [illegible] किया था। वह एक करके छोटे छोटे राज्यों को जीतता चला जा रहा था। सिकन्दर से मिलकर सब इस तरह बना रहा था कि सिकन्दर नन्दों का नाश करके [illegible] और तब चन्द्रगुप्त मौर्य मगध पर अपना अधिकार जमा लेगा। इसी हेतु से चन्द्रगुप्त सिकन्दर से मिला पर चन्द्रगुप्त [illegible] नहीं था। उसने सिकन्दर के सामने भी [illegible] जिससे सिकन्दर चिढ़ गया और उसने चन्द्रगुप्त [illegible] था। सिकन्दर के सिपाही चन्द्रगुप्त को पकड़ने के लिए [illegible]

शक्ति थी जो चन्द्रगुप्त को पा सकता। चन्द्रगुप्त सिकन्दर के खेमे से बाहर चला आया।

मगध पर दूसरा आक्रमण—ज्योंही सिकन्दर भारत छोड़ गया त्योंही उत्तरापथ की जनता में विद्रोह की आग भभक उठी क्योंकि यूनानियों ने उन्हें बहुत शारीरिक कष्ट दिये थे। छोटी-छोटी स्वतन्त्र जातियाँ भी जिन्हें सिकन्दर ने पराजित कर दिया था, अब फिर स्वतन्त्र होने की चिन्ता करने लगीं। चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया। उन्होंने उत्तरापथ का दौरा किया। शीघ्र ही सारे उत्तरापथ में चन्द्रगुप्त की धाक जम गई। तब चन्द्रगुप्त ने मगध पर आक्रमण किया। चाणक्य ने काश्मीर की पहाड़ियों के राजा पर्वतेश्वर से सन्धि की। जिससे नन्दों के विनाश में सहायता मिले। तत्पश्चात् पूरी तैयारी के साथ नन्द सम्राट धनानन्द पर आक्रमण किया गया। धनानन्द परिवार सहित मारा गया और मगध पर चन्द्रगुप्त का अधिकार हो गया। ३२१ ई० पू० में चन्द्रगुप्त मगध की गद्दी पर बैठा।

सेल्यूकस की पराजय—सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य उसके सेनापतियों में बँट गया। सेल्यूकस इन सेनापतियों में प्रमुख था और भारत की पश्चिमोत्तर सीमा का भू-भाग उसके अधीन ही रहा। सेल्यूकस बहुत महत्वाकांक्षी था। वह सिकन्दर की भाँति विश्व विजेता बनना चाहता था। इसलिए उसने पश्चिमोत्तर भारत के उन राज्यों को अपने अधीन करने की इच्छा की जो सिकन्दर द्वारा अधीनस्थ बनाये जा चुके थे। ज्योंही चन्द्रगुप्त को यह सूचना मिली त्योंही वह तैयार हो गया और उसकी सेना ने यूनानी सेना को सिन्धु नदी के पास रोका। सेल्यूकस को चन्द्रगुप्त के सामने घुटने टेक देने पड़े। यों तो यूनानी इतिहासकार युद्ध के परिणाम के बारे में कुछ नहीं बताते पर जो शर्तें चन्द्रगुप्त और सेल्यूकस के बीच हुईं उनसे ज्ञात होता है कि युद्ध में निश्चय ही सेल्यूकस की हार हुई थी। चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस को ५०० हाथी दिए। सेल्यूकस ने हिरात से बलूचिस्तान तक का भू-भाग चन्द्रगुप्त को दे दिया और अपनी पुत्री का ब्याह भी चन्द्रगुप्त से कर दिया। उसने मेगस्थनीज नामक एक राजदूत भी चन्द्रगुप्त के दरबार में रख दिया।

चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का विस्तार—नन्दों को पराजित करके चन्द्रगुप्त ने उस तमाम भू-भाग पर अधिकार प्राप्त कर लिया जिस पर नन्दों का अधिकार था। इसके अतिरिक्त सेल्यूकस द्वारा प्राप्त भूमि काबुल, कन्धार, हेरात और बलूचिस्तान पर भी उसका अधिकार हो गया था। पंजाब से यूनानियों को निकालकर उसने बहुत पहले अधिकार कर लिया था। इस प्रकार उत्तर में उसका साम्राज्य अफगानिस्तान और पंजाब से लेकर बंगाल की सीमा तक फैला था। पश्चिम में उसकी राज्य-सीमा सौराष्ट्र या काठियावाड़ तक थी। दक्षिण में तिनेवली जिले तक उसका राज्य फैला हुआ था।

अन्तिम दिन—इसके पश्चात् चन्द्रगुप्त के शेष जीवन का इतिहास नहीं मिलता है। उसके साम्राज्य-विस्तार को देखते हुये ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त का शेष जीवन भी साम्राज्य-विस्तार के लिए युद्धों में व्यतीत हुआ होगा। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त जैन मतावलम्बी होकर अपने शासन-काल के अन्तिम दिनों में मगध में भयंकर अकाल पड़ने के कारण राज्य का परित्याग करके जना-

चार्य भद्र बाहु के साथ दक्षिण में मैसूर की ओर चला गया था। मैसूर में अब भी कुछ अभिलेख भद्रबाहु तथा चन्द्रगुप्त का जैन साधुओं की भाँति निवास करने का संकेत करते हैं। वहाँ जिस पहाड़ी पर भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त निवास करता था वह अब भी चन्द्रगिरि के नाम से प्रसिद्ध है और वहाँ चन्द्रगुप्त द्वारा निर्मित चन्द्रगुप्त बस्ती नामक मन्दिर भी पाया जाता है। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त ने एक सच्चे जैन भिक्षु की भाँति उपवास करके अपना प्राणान्त कर दिया। इसकी मृत्यु-तिथि २९८ अथवा ३०० ई० पू० बतलाई जाती है। यूनानी लेखकों के विवरण से उक्त जैन अनुश्रुति का खण्डन हो जाता है। इन लेखकों के मतानुसार चन्द्रगुप्त ने हिंसा को कभी नहीं छोड़ा था। ऐसी दशा में चन्द्रगुप्त का जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ मैसूर आना तथा अनशन करके प्राण त्यागना सम्भव नहीं है। किन्तु जब तक कोई तर्कसंगत प्रमाण नहीं प्राप्त हो जाता तब तक इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है।

चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन-प्रबन्ध

चन्द्रगुप्त के शासन-प्रबन्ध के अध्ययन के पूर्व तत्कालीन असुविधाओं का निर्देशन कर देना आवश्यक होगा। चौथी शताब्दी ई० पूर्व में यातायात तथा संदेश-वाहन के साधनों की हीनावस्था की कल्पना सरलतापूर्वक की जा सकती है। तब तक कोई भी विशाल साम्राज्य नहीं हो सका था और इसके अभाव में लम्बी-लम्बी सड़कों, सरायों आदि का होना असम्भव था। चन्द्रगुप्त मौर्य के सामने सबसे बड़ी असुविधा शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में यातायात, संदेश-वाहनों तथा साम्राज्य की विशालता की थी। [illegible] से लेकर दक्षिण भारत तक विस्तृत इस साम्राज्य का समुचित शासन-प्रबन्ध करना निश्चय ही एक कठिन कार्य था। मौर्य साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र से साम्राज्य के कोने-कोने में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित रखना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव था। किन्तु चन्द्रगुप्त स्वयं एक कुशल शासक तो था ही सौभाग्यवश उसे चाणक्य जैसा राजनीतिज्ञ का सहयोग प्राप्त था। चन्द्रगुप्त ने अपने विस्तृत साम्राज्य का शासन केन्द्रीकरण की पद्धति पर न रखके प्रान्तीय शासन-व्यवस्था की नींव डालकर किया जिसके विभिन्न स्वरूपों पर आगे प्रकाश डाला जायगा।

चन्द्रगुप्त के शासन-प्रबन्ध का ज्ञान हमें मेगस्थनीज की 'इंडिका' तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्राप्त होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तो चन्द्रगुप्त के शासन की सूक्ष्म प्रवृत्तियों का स्पष्ट रूप हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। कुछ विद्वान अर्थशास्त्र के रचयिता को तथा इस ग्रन्थ को चन्द्रगुप्त कालीन नहीं स्वीकार करते हैं। किन्तु उनका यह सन्देह प्रामाणिक नहीं है और अर्थशास्त्र को चन्द्रगुप्त कालीन या उसके निकट का मानना ही युक्तिसंगत है।

सम्राट् राजा

चन्द्रगुप्त [illegible] अधिकारी था। वह शासन-व्यवस्था पूर्णतया अपने हाथ में रखना चाहता था। [illegible] इस शासन में [illegible] और अपार सत्ता [illegible] था। उसके हाथ में सेना, न्याय, राजस्व आदि सभी कार्य थे। मेगस्थनीज [illegible]

नुसार राजा शासन मे बहुत बड़ा हाथ बटाता था। उसके वर्णन से यह ज्ञात होता है कि राजा दिन-रात राज्य के कार्यों मे लगा रहता था और अपनी प्रजा की प्रार्थना सुनने के लिए वह हर समय तैयार रहता था। युद्ध काल मे राजा को सेना का नेतृत्व करना पड़ता था और युद्ध सम्बन्धी नीतियो पर वह सेनापति से विचार विमर्श भी करता था। राजा का दूसरा महत्वपूर्ण काम यह था कि वह साम्राज्य के उच्चपदाधिकारियो की नियुक्ति स्वय करता था। आय-व्यय का निरीक्षण भी राजा के हाथ मे था। परराष्ट्र-नीति शासन का महत्वपूर्ण अग है, अत राजा इस विषय पर राजदूतो से स्वय परामर्श करता था। गुप्तचरो से देश की आन्तरिक अवस्था तथा भेदो के विषय मे ज्ञान प्राप्त करना भी राजा का कर्त्तव्य था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार राजा को यह अधिकार था कि वह नये कानून का निर्माण कर सके। वह प्रजा के आचरण के लिए शासन की घोषणा भी करता था।

मन्त्रि-परिषद्—राज-कार्य को सुचारु रूप से सञ्चालित करने के लिए एक 'मत्रि परिषद्' भी थी। राजा योग्य व्यक्तियो का निर्वाचन इस 'परिषद्' मे करता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से हमे १८ पदाधिकारियो का बोध होता है। ये पदाधिकारी अपने-अपने विभाग के अध्यक्ष होते थे। ये निम्नलिखित थे —

(१) मत्री	(२) पुरोहित
(३) सेनापति	(४) युवराज
(५) दौवारिक 'द्वारो का रक्षक'	(६) अन्तरवशिक 'अन्त पुर का अध्यक्ष'
(७) प्रशास्त्रीय 'कारागाराध्यक्ष'	(८) समाहर्ता 'अर्थसग्रहकर्त्ता'
(९) सन्निधाता 'कोषाध्यक्ष'	(१०) प्रदेष्टा 'कमिश्नर'
(११) नायक 'नगर रक्षक'	(१२) पौर 'कोतवाल'
(१३) व्यावहारिक 'प्रधान न्यायाधीश'	(१४) कर्मान्तिक 'आकर तथा कारखानों का अध्यक्ष'
(१५) मन्त्रिपरिषदाध्यक्ष	(१६) दण्डपाल 'पुलिस का प्रधान'
(१७) दुर्गपाल	(१८) अन्तपाल 'सीमाओ का रक्षक'

अधिकारियो की उपर्युक्त तालिका से यह ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने तत्कालीन राज्य के लिए जिन आवश्यक विभागो का होना आवश्यक समझा उनकी स्थापना करके उन विभागो की देख-रेख के लिए योग्य पदाधिकारियो की नियुक्ति की थी। उपर्युक्त पदाधिकारी अपने विभाग के उपप्रधान थे। इनके अतिरिक्त कुछ विभागो के स्वामी भी थे जिन्हें 'अध्यक्ष' कहा जाता था।

प्रान्तीय शासन

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है शासन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण साम्राज्य प्रान्तो में विभाजित कर दिया गया था। प्रान्तीय शासन भी अत्यन्त सुव्यवस्थित एव सुसगठित था। राजधानी के निकटवर्ती प्रान्तो का शासन तो स्वय सम्राट की देख-रेख मे होता था किन्तु दूरस्थ प्रान्तो का शासन 'राजकुमार' अथवा राजकुलीन व्यक्तियो द्वारा होता था।

चन्द्रगुप्त के समय मे प्रान्तो की सख्या का स्पष्ट ज्ञान नहीं प्राप्त है, किन्तु

उसके प्रपौत्र के शासन-काल में सम्पूर्ण साम्राज्य निम्नलिखित पाँच प्रान्तों में विभक्त था—

१	उत्तरापथ	राजधानी	तक्षशिला
२	अवन्तिरथ	"	उज्जयिनी
३.	दक्षिणापथ	"	सुवर्णगिरि
४	प्राच्य	"	पाटलिपुत्र
५	कलिंग	"	तोसलि

प्रान्तीय शासकों की वार्षिक आय १२००० पण थी।

पूर्व तथा मध्य देश के प्रान्तों का शासन महामात्रों की सहायता से सम्राट स्वयं करता था। चन्द्रगुप्त का मंत्री चाणक्य कूटनीति के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है। अतः इसकी मंत्रणा से चन्द्रगुप्त ने गुप्तचर विभाग की ओर विशेष ध्यान दिया था। प्रान्तीय शासकों तथा नौकरशाही के अधिकरणों की गति-विधियों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के अभिप्राय से चन्द्रगुप्त ने सम्पूर्ण साम्राज्य में गुप्तचरों का जाल-सा बिछा दिया था। ये गुप्तचर प्रान्तीय शासकों के कार्यों की सूचना सम्राट् को बराबर दिया करते थे। इन गुप्तचरों का राजनीति में इसलिए विशेष महत्व था कि ये प्रान्तीय शासकों तथा अन्य अधिकारियों की मनमानी से प्रजा की रक्षा करते थे। निश्चय ही इनके अभाव में प्रान्तीय शासक प्रजा पर अनाचार कर सकते थे और इस प्रकार प्रजा से धन सम्पत्ति ग्रहण करके वे अपनी आर्थिक स्थिति को भी अच्छी बना सकते थे। यद्यपि प्रान्तीय शासक राजकुमार अथवा राजकुलीन व्यक्ति ही थे तथापि चन्द्रगुप्त यह कदापि नहीं चाहता रहा होगा कि वे इतने सबल हो जायँ कि मलयकेतु की भाँति विद्रोह या षड्यन्त्र कर सकें। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस विभाग का विशद वर्णन किया गया है।

नगर-शासन

यों तो चन्द्रगुप्त का केन्द्रीय तथा प्रान्तीय दोनों शासन उच्चकोटि का था किन्तु इसका नगर-शासन अपनी मौलिकता तथा विशिष्टता के लिए भारतीय इतिहास में अपना ऊँचा स्थान रखता है। नगर-शासन (म्युनिसपल शासन) का पूर्ण विवरण हमें मेगस्थनीज के उल्लेख से प्राप्त होता है। ध्यान रहे कि राजदूत मेगस्थनीज ने साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में ही निवास किया था। अतः उसका विवरण पाटलिपुत्र की नगरपालिका का ही वर्णन समझना चाहिये। सम्भव है पाटलिपुत्र के अतिरिक्त अन्य नगरों में भी नगर-शासन रहा हो पर उनका शासन इससे कुछ भिन्न अवश्य रहा होगा। पाटलिपुत्र बहुत बड़ा नगर था, अतः इसके लिए विशेष प्रकार के प्रबन्ध की आवश्यकता थी। इस बड़े नगर में ही शिल्पी, कलाकारों, विदेशियों, व्यापारियों आदि की भीड़ लगी रहती होगी। इसी बड़े नगर में उद्योग-धन्धे भी थे जहाँ अधिक मात्रा में उत्पादन भी होता था। यहाँ की जनसंख्या भी अन्य नगरों की अपेक्षा अधिक थी। उपर्युक्त दशाओं में यह आवश्यक था कि नगर में एक सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित शासन-व्यवस्था की जाय।

नीचे मेगस्थनीज के विवरण के आधार पर नगर-शासन का वर्णन किया जा रहा है।

मेगस्थनीज ने लिखा है कि नगर के प्रबन्ध के लिए पाँच पाँच सदस्यों की ६ समितियाँ होती थीं। इन समितियों के अधिकार तथा कार्य निम्नलिखित थे—

(१) **शिल्प कला समिति**—जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है पाटलिपुत्र में कलाकारों की भीड़ थी। औद्योगिक कला तो काफी उन्नति कर चुकी थी। अतः औद्योगिक कलाओं के निरीक्षण के लिए शिल्पकला समिति का निर्माण किया गया था। यह समिति कलाकारों, मिस्त्रियों और अन्य श्रमिकों का पारिश्रमिक भी निर्धारित करती थी। औद्योगिक कलाकारों की सुरक्षा के लिए भी यह समिति उत्तरदायित्व लिये थी। पर साथ ही साथ वह उनके उत्पादन की शुद्धता पर भी कठोर दृष्टि रखती थी।

(२) **वैदेशिक समिति**—यह समिति राज्य में निवास करने वाले विदेशियों की देख रेख के लिए बनी थी। उसका कर्त्तव्य था कि विदेशियों के आवागमन, उनके निवास-स्थान, आवश्यकता पड़ने पर औषधि आदि का प्रबन्ध करे, साथ ही इस समिति के ऊपर उनकी सुरक्षा का भी भार था। विदेशियों की मृत्यु के पश्चात् उनकी अन्तिम क्रिया भी यही समिति करती थी तथा उनकी धन सम्पत्ति उचित उत्तराधिकारियों को दे देती थी।

मेगस्थनीज के इस विवरण से यह परिलक्षित होता है कि भारत सामान्य में विशेषकर पाटलिपुत्र में विदेशियों की संख्या इतनी अधिक थी कि उनके लिए एक पृथक विभाग की स्थापना करनी पड़ी थी। विदेशियों की उपस्थिति तत्कालीन भारत के सामाजिक जीवन पर निश्चय ही प्रभाव डालती रही होगी और इस प्रकार इसका विशेष सांस्कृतिक महत्व है क्योंकि चौथी शताब्दी ई० पू० के विश्व इतिहास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय लगभग सभी देशों में छठी शताब्दी ई० पू० में उदित धार्मिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप जन-साधारण में नई चेतना एवं जागरण का प्रस्फुटन हो रहा था।

(३) **जनसंख्या समिति**—यह समिति जन्म मरण का लेखाजोखा रखती थी। इसका अभिप्राय केवल जनसंख्या की गणना करना ही न था या इसके आधार पर केवल राज-कर ही नहीं लगाना था अपितु जन्म मरण की रजिस्ट्री के आधार पर सरकार को नागरिकों के जन्म-मृत्यु, चाहे वह उच्च कुल की हो अथवा निम्न कुल की, का पूर्ण ज्ञान कराना भी था। जनसंख्या की वृद्धि अथवा कमी का ज्ञान प्राप्त कराने का उद्देश्य स्पष्ट है और इसका केवल राजकीय कर से सम्बन्ध नहीं है। निश्चय ही इस जनगणना की रजिस्ट्री का राजनीतिक महत्व की अपेक्षा आर्थिक महत्व अधिक रहा होगा, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है। मौर्य कालीन औद्योगिक विकास का ध्यान रखते हुए यदि हम इस विषय को समझने का प्रयास करें तो हमें जनगणना का महत्व स्पष्ट हो जायगा।

(४) **वाणिज्य व्यवसाय समिति**—इस चौथी समिति का महत्व विशेष उल्लेखनीय है। यह समिति व्यापारियों एवं वणिकों के कार्यों की देख-रेख के लिए निर्मित की गई थी। एक ओर तो यह उनकी वस्तुओं को जनता की सूचना द्वारा उचित समय पर बिकवा देने का प्रबन्ध करती थी तथा दूसरी ओर जनता के हित के लिए इस बात का ध्यान रखती थी कि व्यापारी तथा बनियों के झूठे तौल या माप से जनता ठगी न

जाय। कोई भी व्यक्ति जो बिना आज्ञा के एक वस्तु से अधिक का व्यवसाय करता था उसे अनुपात में अधिक कर भी देना पड़ता था।

(५) वस्तु-निरीक्षक समिति—पाटलिपुत्र मौर्य साम्राज्य के औद्योगिक स्थानों में से प्रमुख था। अतः वस्तुओं के उत्पादन की देख-रेख के लिए एक पृथक समिति की आवश्यकता थी। इसी अभिप्राय से उद्योगपतियों के उत्पादन पर निरीक्षण करना इस पाँचवीं समिति का मुख्य कर्त्तव्य निश्चित किया गया था। यह समिति इस बात की देख-रेख करती थी कि औद्योगिक उत्पादन में किसी प्रकार की मिलावट करके उद्योगपति अनुचित लाभ न उठावें। नई वस्तु पुरानी में किसी प्रकार भी नहीं मिलाई जा सकती थी और उक्त समिति इस बात का ध्यान रखती थी कि ये पृथक-पृथक बेची जायँ। नियम भंग करने वाले व्यवसायियों को जुर्माना देना पड़ता था।

(६) कर समिति—यह समिति बिक्री की वस्तुओं पर कर वसूल करती थी। यह भी काफ़ी महत्वपूर्ण समिति थी। जो व्यापारी कर से बचने का प्रयत्न करता था उसे प्राण-दंड दिया जाता था।

ऊपर नगर-शासन का जो विवरण दिया गया है वह यूनानी राजदूत के वर्णन पर आधारित है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नगर शासन अथवा उसके इस प्रकार के विवरण का उल्लेख नहीं मिलता है। किसी-किसी स्थल पर इसका निर्देशन मात्र है। इस विषय में अर्थशास्त्र का मौन रहना यात्री के विवरण अर्थात ६ समितियों तथा उनके कर्तव्यों-अधिकारों के विवरण की सत्यता में किसी प्रकार भी संदेह नहीं उत्पन्न कर सकता। अर्थशास्त्र भी सर्वथा मौन नहीं है उसमें 'नागरिक' अथवा 'नगराध्यक्ष' को नगर का शासक बतलाया गया है और उसके अधीन 'स्थानिक' तथा 'गोप' नामक पदाधिकारियों का उल्लेख किया गया है।

मेगस्थनीज ने नगर-शासन का विवरण समाप्त करते हुये यह लिखा है कि वैसे तो अपने-अपने पृथक विभाग का निरीक्षण ये समितियाँ करती ही थीं पर साथ ही सामूहिक रूप से नगर के सामान्य हित सम्बन्धी विषयों से भी उनका सम्बन्ध था। उदाहरणार्थ सार्वजनिक इमारतों की सुरक्षा तथा उनकी मरम्मत करना, मूल्य सम्बन्धी नियमों पर ध्यान देना, बाजार-नियन्त्रण, बन्दरगाहों तथा मंदिरों की देख-रेख करना सामूहिक उत्तरदायित्व का विषय था।

जिला-शासन

नगर-शासन के अतिरिक्त मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त के जिला-शासन पर भी प्रकाश डाला है। वह जिला शासन के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के अधिकारियों का उल्लेख करता है जिनके ऊपर नदियों की देख-रेख, भूमि की नापजोख तथा सिंचाई की नहरों की शाखा प्रशाखाओं के निरीक्षण का भार था। इन भूमि तथा सिंचाई के अधिकारियों के अतिरिक्त मेगस्थनीज ने [illegible] कृषि, वन, लकड़ी, खान आदि के अधिकारियों का भी उल्लेख किया है।

जनपद या देहात-शासन—ग्राम शासन की इकाई ग्राम था। इसका शासक 'ग्रामिक' कहलाता था। ग्राम या इन ग्रामों का अधिकारी 'गोप' कहलाता था। पाँच

के ऊपर 'स्थानिक' नामक अधिकारी होता था। यह जनपद के चतुर्थ भाग पर शासन करता था। पूर्व लिखित पदाधिकारी 'प्रदेष्टा' और 'समाहर्ता' की देख-रेख में काम करते थे।

सैन्य-सङ्गठन

नन्द वंश का अन्त कर देने के पश्चात् चन्द्रगुप्त को मगध की एक विशाल सेना प्राप्त हुई थी। इस सेना की विशालता के सम्बन्ध में किंवदन्तियाँ सुनकर ही यूनानी विजेता सिकन्दर की अजेय सेना का साहस छूट गया था और उसने आगे बढ़ने से साफ इंकार कर दिया था। मगध की इस पुरानी सेना के अतिरिक्त साम्राज्य-वृद्धि एवं देश की रक्षा के लिए चन्द्रगुप्त ने काफी संख्या में नये सैनिकों की भर्ती भी की थी।

राजदूत मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त के सैन्यसंगठन का भी पूर्ण विवरण देता है। उसके कथनानुसार इस सेना में ६००,००० से भी अधिक पैदल सिपाही थे। मौर्य सेना के अन्य आँकड़े इस प्रकार हैं —

३०,००० अश्व, ९००० गज तथा ८००० रथ।

इतनी विशाल सेना के प्रबन्ध एवं देख-रेख के लिए अलग सैनिक विभाग की आवश्यकता थी। इस सैनिक विभाग का संगठन ६ समितियों द्वारा हुआ था। प्रत्येक समिति के ५-५ सदस्य होते थे। इनका पूर्ण विवरण इस प्रकार है—

समिति	नं०	(१)	नौ सेना
,,	नं०	(२)	पदाति सेना
,,	नं०	(३)	अश्व-सेना
,,	नं०	(४)	रथ-सेना
,,	नं०	(५)	गज-सेना
,,	नं०	(६)	सेना-यातायात तथा युद्ध सामग्री वाहिनी

मेगस्थनीज ने छठी समिति का कार्य बतलाते हुये लिखा है कि यह समिति सेना सम्बन्धी सामग्रियों को ढोनेवाली बैलगाड़ियों के अधिकारियों को सहयोग देती थी।

न्याय-विधान

मौर्यकालीन न्याय प्राचीन भारतीय इतिहास में उच्चकोटि का है। राजा सर्वश्रेष्ठ न्यायाधीश होता था। मौर्यकालीन दंड की कठोरता का उल्लेख मेगस्थनीज तथा कौटिल्य दोनों ने किया है। जुर्माना से लेकर अंग-भंग तथा प्राणदंड तक का विवरण प्राप्त होता है। प्राणदंड बहुधा कलाकार को पंगु कर देने अथवा किसी की वस्तुओं पर कर न देने के अभियोग में दिया जाता था। व्यभिचारियों तथा चोरों को अंग-भंग का दंड दिया जाता था। अपराधी से अपराध स्वीकार कराने के लिए अनेक प्रकार के कष्टदायक साधनों का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त का दंड-विधान आवश्यकता से अधिक कठोर था जिसे यदि अमानुषिक कहा जाय तो अनुचित न होगा।

धर्मशास्त्र के अनुसार दो प्रकार के न्यायालय थे —

(१) धर्मस्थीय (दीवानी) तथा (२) कंटक शोधन (फौजदारी)। इन दो न्यायालयों

के अतिरिक्त ग्राम पंचायतें भी अपने प्रारम्भिक रूप में चल रही थीं जो छोटे-मोटे झगड़ों का अन्त बहुधा समझौता द्वारा करा दिया करती थीं।

आय-व्यय का साधन

भूमि-कर ही आय का साधन था। बहुधा उपज का ⅙ भाग कर-रूप में लिया जाता था किन्तु देश-काल के अनुसार यह कम-बेशी भी हुआ करता था। भूमि-कर के अतिरिक्त चुंगी, सीमाओं पर लगने वाले बिक्री कर, घाटों पर लगने वाले कर, जुर्माना, आकर (खानें) भी आय के साधन थे।

व्यय के साधन भी बहुत थे। सेना, नौकरशाही, प्रजाहितकारी आदि कार्यों में काफी आय खर्च हो जाती थी। राजा तथा राज-दर्बार के ऊपर भी आय का काफी भाग खर्च हो जाया करता था।

सम्राट का नगर, राजमहल तथा उसका व्यक्तिगत जीवन

पहले हम चन्द्रगुप्त के नगर पाटलिपुत्र का वर्णन करेंगे।

मेगस्थनीज ने लिखा है कि पाटलिपुत्र गंगा तथा सोन के संगम पर स्थित है। यह भारत का सबसे बड़ा नगर है। यात्री ने नगर की लम्बाई ८० स्टेडिया (९½ मील) तथा चौड़ाई १५ स्टेडिया (१मील १२७० गज) बतलाई है। नगर की सुरक्षा के लिए ६० फिट गहरी तथा २०५ गज चौड़ी खाई नगर के चारों ओर बनी हुई थी जो सदा सोन के पानी से भरी रहती थी। खाई के अतिरिक्त लकड़ी की एक दीवार भी बनी हुई थी। इस प्रकार नगर की सुरक्षा के लिए हर प्रयत्न किए गए थे। नगर की चहारदीवारी में ६४ फाटक तथा ५७० मीनारें था।

अब हम चन्द्रगुप्त के व्यक्तिगत जीवन तथा उसके राजमहल पर प्रकाश डालेंगे। पहले हम उसके राजमहल को ही लेंगे। चन्द्रगुप्त ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करना पसन्द करता था। अतः अपने निवास के लिए उसने एक बहुत विशाल एवं सुन्दर महल का निर्माण कराया था। राजमहल के चारों ओर सुन्दर उद्यान बना हुआ था उसके स्तम्भ सुनहले थे। तत्कालीन भवन निर्माण कला की प्रचलित प्रणालियों तथा कुछ मौलिक शैलियों के सम्मिश्रण से बना हुआ यह राजमहल पूर्णतः काठ का था। तत्कालीन भारतीय भवनों में इस राजमहल का स्थान बहुत ऊँचा था। इस राजमहल के सौन्दर्य के समक्ष सूसा तथा एकबताना के ईरानी राज-प्रासादों की सुन्दरता भी फीकी पड़ जाती थी।

चन्द्रगुप्त के चारों ओर अंगरक्षिकाओं की भीड़ लगी रहती थी। स्ट्रैबो के कथनानुसार ये नारियाँ एक प्रकार का तुषार होती थीं जिन्हें उनके माता पिता से खरीद लिया जाता था। चन्द्रगुप्त जब शिकार के लिए जाता था तब भी यह नारियाँ साथ रहा करती थीं। शिकार के समय भी उसके साथ दो या तीन सशस्त्र नारियाँ रहती थीं। राजा की रक्षा के लिए रक्षिकाओं की नियुक्ति की प्रथा भारत में मौर्यकाल के बहुत बाद तक चलती रही। इनके ही साथ सम्राट की सुरक्षा के लिए अन्य उपाय भी किए गए थे। जिस समय सम्राट शिकार के लिए राज-प्रासाद से बाहर निकलता था उस समय उसका मार्ग रस्सियों से घेर दिया जाता था। जो व्यक्ति इन रस्सियों के

का प्रयास करता था उसे प्राण-दंड दिया जाता था। राजा केवल चार अवसरों पर राज प्रासाद से बाहर निकलता था—

(१) युद्ध, (२) यज्ञानुष्ठान, (३) न्याय-विधान तथा (४) आखेट धार्मिक या अन्य सार्वजनिक उत्सव के अवसरों पर सम्राट सुनहलो पालकी पर निकलता था। धार्मिक उत्सव के अवसरों पर शाही जलूस की चमक-दमक अद्वितीय होती थी। अनेक सोने-चाँदी से सुसज्जित हाथी, रथ, चोबदार, वनपशु, पालतू सिंह एवं पक्षियों से यह जलूस भरा रहता था। चन्द्रगुप्त का अधिक समय राज काज में व्यतीत होता था पर उसे खेल-कूद आदि से काफी शौक था। भेड़ो, साँड़ो, हाथियों, गैंडों आदि की लड़ाई देखने में उसे विशेष आनन्द आता था। रथ दौड़ तथा घुड़दौड़ भी इसके मनोरंजन के साधन थे।

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि सम्राट जहाँ एक ओर कुशल शासक, कठोर सैनिक तथा योग्य दर्बारी का जीवन व्यतीत करता था वहीं दूसरी ओर विलासमय जीवन भी व्यतीत करता था।

चन्द्रगुप्त का भारतीय इतिहास में महत्व—इतिहास में चन्द्रगुप्त मौर्य का अपना अलग स्थान है और उसका अपना महत्व भी है। चन्द्रगुप्त की इस महानता के मूल में उसके कुछ विशेष उल्लेखनीय गुण हैं। वह एक महान विजेता, उच्चकोटि का शासनकर्त्ता, राजनीतिज्ञ, प्रतिभाशाली व्यक्ति के साथ साथ एक महान देशरक्षक था।

जो लोग नेपोलियन की तुलना समुद्रगुप्त से करते हैं वे यदि उसकी तुलना चन्द्रगुप्त मौर्य से करें तो अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि नेपोलियन की भाँति चन्द्रगुप्त मौर्य भी एक साधारण पद से अपनी भुजाओं के बल पर राज पद पर पहुँच सका था।

भारतीय इतिहास में यह प्रथम सम्राट् था जिसने समस्त उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण भारत के एक बहुत बड़े भाग पर सफलता-पूर्वक राज्य किया। चन्द्रगुप्त की महत्ता का सबसे बड़ा कारण तो यह है कि उसने देश को विदेशियों के चंगुल से छुड़ा कर उसे स्वतंत्र बनाया। यूनानियों को देश से निकाल कर छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर तथा राजनीतिक एकता स्थापित करके चन्द्रगुप्त ने देश को शक्तिशाली बना दिया था।

सुन्दर शासन प्रबन्ध की व्यवस्था करके चन्द्रगुप्त ने देश में शान्ति स्थापित कर दी जिससे आर्थिक, सामाजिक और साहित्यिक एवं कला के क्षेत्रों में आशातीत उन्नति हुई। इसके दंड-विधान की कठोरता की निन्दा कुछ इतिहासकारों ने अवश्य की है किन्तु इसकी कठोरता को ही प्रजा की शान्ति का कारण कहा जा सकता है। यह चन्द्रगुप्त के शासन-प्रबन्ध की ही सुन्दरता का फल था कि अशोक जैसे साधु प्रकृति का सम्राट भी उस घोर साम्राज्यवादी युग में शान्तिपूर्वक राज्य कर सका।

बिन्दुसार

चन्द्रगुप्त के पश्चात उसका पुत्र बिन्दुसार मौर्य साम्राज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इतिहासकार बिन्दुसार को अनेक नामों से पुकारते हैं। ये सभी नाम संस्कृत के 'अमित्रघात' (रिपुघातक) के रूपान्तर प्रतीत होते हैं। जैन ग्रंथ राजबलि कथा में बिन्दु-सार को सिंह सेन कहा गया है। सभी विदेशी लेखकों तथा भारतीय ग्रन्थों ने चन्द्रगुप्त

मौर्य के पुत्र का जो नामकरण किया है उनमें पुराणों द्वारा दिया गया नाम ही ग्रहण किया गया है और उसके आधार पर ही हम उसे बिंदुसार कहते हैं। बिन्दुसार के शासन का पूर्ण विवरण नहीं प्राप्त होता।

विद्रोह—चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल का वर्णन करते हुए यह बतलाया गया था कि मौर्य साम्राज्य में अभी विद्रोहियों की संख्या काफी थी। गुप्त रूप से षड्यन्त्र रचनेवालों की संख्या तो और भी अधिक थी। दिव्यावदान के कथनानुसार हमें बिन्दुसार के शासन-काल में होने वाले उपद्रवों का ज्ञान प्राप्त होता है। निश्चय ही चन्द्रगुप्त की अदम्य शक्ति के सम्मुख इन विद्रोहियों को झुक जाना पड़ा था और इन्होंने कभी सर उठाने का साहस नहीं किया, किन्तु नये राजा को दुर्बल समझ कर विद्रोहियों ने विद्रोह कर दिया। परन्तु हम इस साधारण साक्ष्य को अक्षरशः सत्य नहीं मान सकते क्योंकि दिव्यावदान तक्षशिला में होने वाले विद्रोह का वर्णन करता है। उसके दमनार्थ जिस समय बिंदुसार ने अपने पुत्र अशोक को भेजा तो वह तक्षशिला पहुंच कर मार्ग में ही जनता से मिला, जिसने निम्नलिखित बयान दिया—

'न तो हम लोग राजकुमार के विरुद्ध हैं और न सम्राट् के ही, अपितु उन निर्दयी मन्त्रियों के विरोधी हैं जो हमारा अपमान करते हैं।'

बाह्य नीति—बिन्दुसार का पालन-पोषण उस राजप्रासाद में हुआ था जिसमें न केवल एक यूनानी रानी थी अपितु यूनानी युवतियों की एक बहुत बड़ी संख्या थी। सम्भवतः उन विदेशियों के प्रति बिन्दुसार का कुछ आकर्षण रहा होगा। उसने अपने पिता चन्द्रगुप्त तथा यूनानियों के सम्बन्ध को भी देखा था। बिन्दुसार ने यह भी देखा था कि विदेशियों की देख रेख के लिए चन्द्रगुप्त ने एक पृथक् विभाग का निर्माण किया था। यह थी उसकी बाह्य नीति को प्रभावित करने वाली पृष्ठभूमि। दुर्भाग्यवश हमें बिन्दुसार के विभिन्न वैदेशिक सम्बन्धों का विवरण न प्राप्त होकर केवल यूनानियों से उसके सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त होता है। यूनानी इतिहासकारों ने अन्तिओकस प्रथम सोटर तथा बिन्दुसार के पत्रव्यवहार का एक नमूना सुरक्षित रखा है। उससे ज्ञात होता है कि मौर्य सम्राट् बिन्दुसार ने सीरिया के सम्राट् अन्तिओकस से मधुर मदिरा, अंजीर और एक दार्शनिक की मांग की थी। उसके यूनानी मित्र ने बिन्दुसार की प्रथम दो मांगों की पूर्ति करते हुए जो उत्तर दिया है वह इस प्रकार है—

"मुझे इन्हें भेजने में तो बड़ी प्रसन्नता होती है, परन्तु दुर्भाग्यवश आपकी तीसरी इच्छा पूरी न कर सकूंगा, क्योंकि देश का कानून दार्शनिक भेजने के विरुद्ध है।"

मेगस्थनीज के पश्चात् डेमाकस नाम का एक दूसरा राजदूत सीरिया के सम्राट् द्वारा बिन्दुसार के दरबार में भेजा गया था। प्लिनी के कथनानुसार ईजिप्ट के राजा टालमी फिलाडेल्फस (२८५-२४७ ई० पू०) ने भी डायोनिसियस नामक एक दूत भारतीय राज दरबार में भेजा था पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि डायोनिसियस बिन्दुसार अथवा अशोक में से किसके राज दरबार में आया था।

बिन्दुसार का परिवार—केवल अशोक ही बिन्दुसार का अकेला पुत्र न था क्योंकि अशोक के शिलालेखों से पता चलता है कि उसके बड़े भाई और बहनें

थीं। दिव्यावदान में अशोक के दो भाइयों का नाम सुसीम तथा विगताशोक बतलाया गया है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में आप क्या जानते हैं? उसके प्रारम्भिक जीवन पर विशेष रूप से प्रकाश डालिए।

२. चन्द्रगुप्त मौर्य की जाति पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए उसकी सैनिक सफलताओं का उल्लेख कीजिए।

३ चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-प्रबन्ध पर प्रकाश डालिए। मेगस्थनीज के विवरण को प्रधानता देते हुए उसके नगर-शासन पर सविस्तार प्रकाश डालें।

४ चन्द्रगुप्त मौर्य का भारतीय इतिहास में महत्व बताइए।

५ बिन्दुसार की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

अध्याय १५

अशोक

बिन्दुसार के पश्चात् पाटलिपुत्र के सिंहासन पर उस महान सम्राट का पदार्पण हुआ जो भारतीय ही नहीं वरन् विश्व-इतिहास में अपने वैयक्तिक चरित्र तथा आदर्शों के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध है। इस महान् सम्राट को इतिहास में अशोक महान् कहा जाता है। अशोक ने जिस साम्राज्य पर शासन किया वह भारत का सबसे बड़ा साम्राज्य था। विश्व में विशालता के दृष्टिकोण से अनेक साम्राज्य तथा उनके शासक प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु विस्तृत साम्राज्य का सर्वश्रेष्ठ, सम्राट होने के साथ-साथ सर्वश्रेष्ठ मानव होना कठिन ही नहीं असम्भव है। श्रेष्ठ सम्राट, कुशल शासक तथा आदर्श मानव एक साथ एक व्यक्ति ही हो यह और कुछ नहीं प्रकृति का आश्चर्य है। इस परिच्छेद में हम उसी महान् विभूति अशोक के विषय में पढ़ेंगे।

अशोक का राज्याभिषेक—चन्द्रगुप्त ३२४ ई० पू० में गद्दी पर बैठा और ३०० ई० पू० में उसकी मृत्यु हो गई। तदुपरान्त बिन्दुसार सिंहासनारूढ़ होता है जिसने पुराणों के अनुसार २५ वर्ष तक राज्य किया। इस सारणी से तो बिन्दुसार की निधन-तिथि २७५ ई० पू० मानी जा सकती है। ये सारे विवरण पुराणों के आधार पर दिये गये हैं जिनके अनुसार अशोक के राज्याभिषेक की तिथि २७५ ई० पू० होना चाहिए, किन्तु बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार बिन्दुसार ने २७-२८ वर्ष तक राज्य किया। यदि हम इस बात को सत्य मानें तो बिन्दुसार की निधन-तिथि २७३-७२ ई० पू० सिद्ध होती है। सिंहली अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक का राज्याभिषेक बिन्दुसार की मृत्यु के चार वर्ष पश्चात् अर्थात् २६९-६८ ई० पू० में हुआ।

राज्याभिषेक का यह चार वर्ष का अन्तर—यदि वास्तव में कोई अन्तर रहा भी हो, इतिहासकारों के समक्ष एक बहुत बड़ा प्रश्न उपस्थित कर देता है जो सीधे अशोक के चरित्र से सम्बन्धित है। इस चार वर्ष के अन्तर का कारण भी सिंहली अनुश्रुतियों से प्रमाणित हो जाता है। सिंहली अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक अत्यन्त निर्दयी तथा रक्त-पिपासु था जिसने अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् ९९ भाइयों की हत्या करके गद्दी प्राप्त की थी। डा० स्मिथ इतना तो स्वीकार करते हैं कि सिंहासन के लिए अशोक को संघर्ष करना पड़ा था और इसीलिए राज्याभिषेक में देर हुई, किन्तु वे ९९ भाइयों की हत्या करना स्वीकार नहीं करते। केवल सौतेले बड़े भाई सुसीम से संघर्ष होना वे स्वीकार करते हैं। डा० मजूमदार भी सिंहली अनुश्रुतियों का खण्डन करते हुए स्मिथ महोदय का समर्थन करते हैं। बौद्ध अनुश्रुतियों से यह भी ज्ञात होता है कि सिंहासन के लिए अशोक को संघर्ष करना पड़ा था और उसने राधगुप्त की सहायता से अपने सौतेले भाई सुसीम के ऊपर विजय पाई थी।

सम्राट अशोक की कलिंग-विजय—महानदी तथा गोदावरी के बीच स्थित कलिंग राज्य चन्द्रगुप्त मौर्य की दिग्विजयी सेना से अछूता रह गया था और इस प्रकार वह अब भी स्वतन्त्र था। अशोक के तेरहवें शिलालेख से हमें कलिंग-विजय का विवरण प्राप्त होता है। इस अभिलेख के अनुसार डेढ़ लाख बन्दी बना लिए गए, एक लाख व्यक्ति मारे गए और उनसे कई गुना उन रोगों और सामरिक परिस्थितियों से मृत्यु के शिकार हुए जो सामान्यत. युद्ध के पश्चात् उपस्थित होती हैं। युद्ध की भयकरता तथा मृत्यु की सख्या से कलिंग राज्य के सैनिकों तथा वहाँ की जनता के त्याग एव बलिदान का निर्देशन होता है किन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा सुसगठित सेना के सम्मुख कलिंग राज्य के सैनिकों को झुक जाना पडा और अशोक की विजय हुई। पर इस रक्तरंजित विजय ने अशोक के जीवन में एक ऐसा परिवर्तन ला दिया जिससे सम्राट अशोक सत अशोक हो गया।



चित्र न १२

धर्म-परायण अशोक—कलिंग युद्ध के नरसहार के दानवी दृश्य ने अशोक के हृदय पर जो कुठाराघात किया उससे उसकी पैतृक सामरिक प्रवृत्ति का अत हो गया और उसके स्थान पर मानवोचित धर्म एव नैतिकता का सहसा प्रस्फुटन हुआ। फलस्वरूप अशोक की नीति में पूर्णरूपेण परिवर्तन हो गया। अशोक ने यह घोषणा कर दी कि अब वह रणघोष के स्थान पर धम्मघोष करेगा। उसका यह निश्चय उसके तेरहवें शिला-लेख से ज्ञात होता है।

इस विशेष प्रतिभा सम्पन्न पूर्ण मानव अशोक को किसी सम्प्रदाय विशेष की सकीर्ण सीमा में बाँधना उसकी महानता पर पर्दा डालना है। अशोक बौद्ध मतावलम्बी

हो सकता है—उसी प्रकार जैसे महात्मा गौतम बुद्ध आर्य (हिन्दू) थे किन्तु अशोक का हृदय एवं मस्तिष्क सम्पूर्ण विश्व के विभिन्न जीवधारियों का शुभेच्छु था।

अशोक के धर्म के विषय में साधारणतया यह कह दिया जाता है कि वह बौद्ध-मतावलम्बी था। कलिंग विजय के पश्चात् निश्चय ही अशोक ने बौद्ध धर्म को प्रश्रय दिया था किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह बौद्ध धर्मावलम्बी था। अशोक वास्तव में एक ऐसे धर्म का अनुयायी था, यदि सर्वव्यापक न कहा जाय जिसमें विश्व के समस्त धर्मों के मूल तत्वों का समावेश है। कोई भी धर्म ऐसा नहीं हो सकता जिसकी मूल प्रवृत्तियाँ किसी दूसरे धर्म से न मिलती हों। अत: यहाँ केवल इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि अशोक एक ऐसे धर्म का मानने वाला था जो समस्त धर्मों का निचोड़ था और इस धर्म की संज्ञा और कुछ नहीं, केवल 'मानव-धर्म' या 'अशोक का धर्म' ही हो सकती है। अशोक के धर्म की कुछ विशेषताओं का उल्लेख आगे किया जायगा।

धार्मिक उपदेश के विषय—अशोक का धर्म सम्मानित नैतिक सिद्धान्तों तथा आचरणों का संग्रह है। अशोक के धर्म के उपदेश में कुछ विषय ऐसे थे जिनके आन्तरिक गुण निम्नलिखित हैं :—

(१) साधुता या बहुकल्याण, (२) दया, (३) दान, (४) सत्य, (५) शौच तथा (६) मार्दव (माधुर्य)।

उपरोक्त आन्तरिक गुणों को प्राप्त करने के लिए अशोक ने बाह्य उपकरणों का संकेत किया। इनके अभ्यास से ही मनुष्य आन्तरिक गुणों को प्राप्त कर सकता है। ये निम्नलिखित हैं :

(१) पशु-वध का त्याग, (२) अहिंसा, (३) माता-पिता की सेवा, (४) बड़े-बूढ़ों की शुश्रूषा, (५) गुरुओं के प्रति आदर, (६) मित्र, परिचित जाति-भाई, ब्राह्मण, श्रमणों का आदर, (७) दासों के साथ सद्व्यवहार, (८) थोड़ा व्यय तथा थोड़ा संग्रह। पाप से दूर रहने के लिए या किसी सीमा तक इससे बचने के लिए अशोक ने निम्नलिखित निषेधात्मक धर्म का भी उपदेश दिया—

(१) चण्डता, (२) निष्ठुरता, (३) क्रोध, (४) अभिमान तथा (५) ईर्ष्या।

अशोक के धर्म की विशेषता

अशोक के इस धर्म की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं —

(१) सार्वभौमिकता—अशोक का धर्म किसी जाति या वर्ग विशेष का धर्म न था। वह मानव जाति का धर्म था। साम्प्रदायिकता को इसमें कोई स्थान न था। इसमें यह सार्वभौमिकता ही इसे महान बनाती है।

(२) आडम्बरहीनता—अशोक स्वयं आडम्बरहीन व्यक्ति था, अतः उसके धर्म में भी आडम्बर तथा धार्मिक क्रियाओं का कोई स्थान न था।

(३) प्रयोगिकता—[illegible] अशोक का यह धर्म पूर्णरूपेण व्यावहारिक था। इसमें [illegible] था। इसमें केवल [illegible] के लिए उपयोगी होता है वह धर्म के [illegible]

६. धर्म-श्रावण की व्यवस्था—धर्म-प्रचार के लिए अशोक ने धर्म-श्रावण की व्यवस्था की। राजुक, प्रादेशिक, व्युष्ट, युक्त आदि बड़े-बड़े राज-कर्मचारियों को भी इस कार्य में सहायता देनी पड़ती थी।

७. अहिंसा-व्रत का पालन—अशोक ने अपने अभिलेखों में केवल इस बात का आदेश ही नहीं दिया कि पशुओं का वध न किया जाय अपितु स्वयं इसका उदाहरण उपस्थित किया। विभिन्न हिंसक समाज, आखेट तथा राजकीय रसोईघर में मांसाहारी भोजन को बन्द कराकर अशोक ने अहिंसा का उच्चादर्श जनता के सामने प्रस्तुत किया जिससे बौद्धधर्म के मूल सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ।

८. महादान—सम्पूर्ण साम्राज्य में अशोक ने रोगियों, अनाथों, दीन दुखियों तथा असहायों का उचित प्रबन्ध कर दिया था। उसके इस दान का जनता पर बहुत ही क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा। दुर्बलों की सहायता की प्रवृत्ति सर्वसाधारण में उत्पन्न हुई।

९. धर्म-अभिलेख—अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अपने धार्मिक उपदेशों को चट्टानों तथा गुफाओं एवं प्रस्तर-स्तम्भों पर उत्कीर्ण करा के साम्राज्य के चारों ओर प्रकाशित किया।

१०. धर्म-प्रचारकों की नियुक्ति—अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ भिक्षु-भिक्षुणियों को नियुक्त किया। चीन, जापान, सिंहलद्वीप आदि देशों में भी अशोक के धर्म-प्रचारक गए और उन्होंने धर्म-प्रचार किया। अशोक के पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा ने भी पिता द्वारा प्रेरित होकर उसकी धर्म विजय में योग दिया।

११ लोकहित कार्य—अशोक ने सर्वसाधारण के हित के लिए अनेक साधन एकत्रित किए जिनसे जनता में अशोक तथा अशोक के धर्म के प्रति विशेष श्रद्धा उत्पन्न हो गई। जनता यह जानती थी कि धार्मिक प्रेरणा के फलस्वरूप ही अशोक यह सब कर रहा है।

१२. निरीक्षकों की नियुक्ति—अभिलेखों पर अंकित आदेशों का अनुसरण जनता सुचारुरूप से करती है या नहीं इसके निरीक्षण के लिए अशोक ने पदाधिकारियों की नियुक्ति की थी। जनता पर इस उचित अनुशासन से काफी प्रभाव पड़ा।

१३. बौद्ध संगीति—अशोक ने बौद्ध धर्म के संगठन तथा प्रचार के लिए तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजन किया। बौद्ध संघ के दोषों को दूर करने का सतत प्रयत्न इस बैठक में किया गया। परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म में आने वाली शिथिलता का अन्त हो गया।

१४ पाली भाषा में धार्मिक ग्रंथों का लिखवाना—[illegible] बौद्ध ग्रन्थों की रचना की व्यवस्था करके अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार में विशेष योग दिया।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए [illegible] प्रयत्न किया।

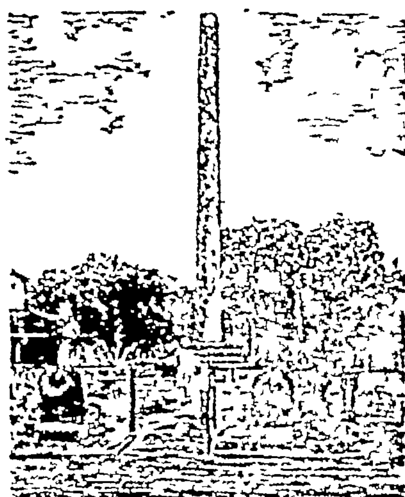
अशोक [illegible]

[illegible] नष्ट हो जाता है। [illegible] हम अशोक के [illegible]

निकाला था कि सुदूर दक्षिण के पाण्ड्य, चोल, सतियपुत्र, केरल पुत्र आदि को छोड़कर सम्पूर्ण भारत अशोक के अधीन था।

अशोक के धर्म का निर्धारण—यह विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अशोक बौद्ध मतावलम्बी था, इस मत के समर्थक इन्हीं अभिलेखों का सहारा लेते हैं। अशोक के व्यक्तिगत धर्म का बोध भी हमें इन्हीं अभिलेखों से होता है।

अशोक के चरित्र का निरूपण—इन अभिलेखों में अशोक का हृदय प्रतिबिम्बित होता है। दान, दया, सेवा आदि नैतिक आदर्शों के पोषक के रूप में अशोक हमारे सम्मुख इन्हीं अभिलेखों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। कलिंग विजय के पश्चात्



चित्र १३—अशोक-स्तम्भ प्रयाग

अशोक ने अपने अभिलेखों में उस हृदय द्रावक घटना तथा युद्ध न करने के निश्चय का प्रकाशन किया जिससे उसके दृढ़ निश्चय तथा कोमल हृदय का बोध होता है। अभिलेखों से ही हमें उसके महादानी होने का ज्ञान प्राप्त होता है।

अशोक का वैदेशिक सम्बन्ध—अशोक के अभिलेख हमें इस बात का ज्ञान कराते हैं कि अशोक ने सीरिया, एपिरस, मिश्र, मेसिडन आदि देशों में अपने धर्मदूत भेजकर इन राज्यों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया था। इन अभिलेखों से हमें अशोक की विदेशी नीति का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है।

अशोक कालीन शासन-व्यवस्था का अनुशीलन—यद्यपि अशोक के अभिलेखों का उद्देश्य पूर्णतया धार्मिक (नैतिक) था, तथापि उनसे तत्कालीन शासन-सम्बन्धी नाना बातों का बोध होता है जिन्हें अशोक ने समय-समय पर प्रकाशित की थी। अशोक ने प्रजा के हित के लिए जो कुछ किया उसका भी बोध हमें अभिलेखों से होता है।

अब हम अशोक के अभिलेखों पर पृथक् पृथक् विचार करेंगे। नीचे और पर अशोक के अभिलेखों को तिथिक्रम और भागों में विभाजित कर रहे हैं:

की गई थी, प्राप्त हुई थी। चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन-व्यवस्था में थोड़ा बहुत परिवर्तन एवं परिवर्धन करके ही अशोक ने शासन-प्रबन्ध किया। अशोक के शासन प्रबन्ध का आधार चन्द्रगुप्त मौर्य की ही शासन-व्यवस्था है। अशोक को अपने पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-प्रबन्ध में जो कुछ भी थोड़ा बहुत परिवर्तन-परिवर्द्धन करना पड़ा उसका मूल कारण उसकी नैतिकता एवं धार्मिकता है। अशोक के शासन-प्रबन्ध का अध्ययन करने के पूर्व हमें उसके राजत्व सिद्धान्त पर विचार कर लेना आवश्यक है।

अशोक का राजत्व सिद्धान्त—अशोक एक आदर्श मानव था। उसकी नैतिकता उसके जीवन की अनुशासिका थी। कलिंग-विजय के पूर्व का अशोक साम्राज्यवादी था, किन्तु इस रक्तरञ्जित घटना के पश्चात् का अशोक पहले मानव और तब सम्राट् था—सम्राट् भी इस अर्थ में कि वह कम से कम अपने साम्राज्य की सम्पूर्ण प्रजा को अपना पुत्र समझ सके, उसका रक्षक बन सके।

अशोक अपने चौथे स्तम्भलेख में प्रजा के प्रति गद्गद् हो फूट पड़ने वाले अपने हार्दिक उद्गारों को इस प्रकार प्रकट करता है—"जिस प्रकार मनुष्य अपनी सन्तान को निपुण धाय को सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है और सोचता है कि यह धाय मेरे बालक को सुख पहुँचाने की भरपूर चेष्टा करेगी उसी प्रकार प्रजा के हित और सुख के अभिप्राय से रज्जुक (राजुक) नाम के कर्मचारी नियुक्त किये हैं"। इससे अधिक स्पष्ट और कोई प्रमाण अशोक की प्रजाप्रियता का नहीं हो सकता।

इस पृष्ठभूमि में हम अशोक के शासन-प्रबन्ध को भली-भाँति समझ सकते हैं।

स्वायत्त शासन—अशोक के तेरहवें शिलालेख के आधार पर कुछ इतिहासकारों ने ऐसा अनुमान लगाया है कि अशोक के अधीन कुछ ऐसे प्रदेश भी थे जो प्रत्यक्ष रूप से तो अशोक की अधीनता स्वीकार करते थे किन्तु उन्हें स्वायत्त शासन का अधिकार प्राप्त था, जैसे यवन, कम्बोज, नाभक, नाभपंक्ति, आन्ध्र तथा पुलिन्द आदि। विद्वानों ने उक्त प्रदेशों में से कुछ की स्थिति का अनुमान इस प्रकार लगाया है—यवन तथा कम्बोज सम्भवतः उत्तर-पश्चिमी [illegible] में और आन्ध्र [illegible] कृष्णा तथा गोदावरी नदियों के मध्य बसे थे।

मन्त्रि-परिषद्—चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध के विषय में लिखते हुए [illegible] गया था कि उसके शासन-प्रबन्ध में भी मन्त्रि-परिषद् का बहुत बड़ा महत्त्व था। अशोक ने भी मन्त्रि-परिषद् का आदर किया। [illegible] सम्राट् को परामर्श प्रदान करता था। अशोक के छठे शिलालेख में यह स्पष्ट [illegible] है कि मन्त्रि-परिषद् को [illegible] की आज्ञा दे रखी थी कि [illegible] पर [illegible] कर [illegible] तथा [illegible] सम्राट् को उसकी सूचना [illegible]। [illegible] में सभी इस प्रकार [illegible] परिषद् में [illegible]। कोई [illegible] अथवा मेरे पास [illegible] के सम्बन्ध में अथवा [illegible] कर दिये गये किसी [illegible] के विषय में विवाद या [illegible]

किया जाय तो उनकी सूचना मुझे उसी समय मिलनी चाहिये चाहे मैं कहीं भी रहूँ और कोई भी समय हो।"

प्रान्तीय शासन—शासन के दृष्टिकोण से, जैसा कि [illegible] होता है सम्पूर्ण साम्राज्य चार प्रान्तों में विभाजित था। [illegible]

(१) तक्षशिला, (२) उज्जैनी, (३) तोसली तथा (४) सुवर्णगिरि।

[illegible] 'कुमार' होता था। [illegible] होता था। [illegible] सम्राट की सहायता करता था। इस प्रकार [illegible] अशोक के शासन में [illegible] शासन-प्रबन्ध में [illegible] होता था। [illegible] थी क्योंकि उनसे [illegible] की पूर्ण आशा थी और [illegible] की आवश्यकता थी।

अशोक के पदाधिकारी—अशोक के [illegible] प्रकार के पदाधिकारियों का बोध होता है, [illegible] पदाधिकारियों से मिलते-जुलते हैं। केवल [illegible] हेमचन्द्र राय चौधरी ने निम्नलिखित बारह प्रकार के पदाधिकारियों का उल्लेख किया है—

(१) महामात्र, (२) राजुक, (३) रथिक, (४) प्रादेशिक, (५) युत अथवा युक्त (६) पुलिश, (७) पतिवेदक, (८) वच भूमिका, (९) लिपिकार, (१०) दूत, (११) आयुक्त तथा (१२) कारणक।

नीचे इन पदाधिकारियों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा।

धर्म महामात्र—चन्द्रगुप्त के शासन काल में धर्म महामात्र नामक पदाधिकारी नहीं था। अशोक ने इनकी नियुक्ति सर्वप्रथम की थी। स्मिथ महोदय ने धर्म महामात्रों को 'निरीक्षक' ([illegible]) कहा है। पर स्मिथ महोदय ने उनके कर्त्तव्यों को समझने में कुछ भूल की है। वास्तव में धर्म महामात्रों का कार्य केवल 'निरीक्षण' ही न था वरन् उनके ऊपर कुछ और भी धार्मिकता एवं नैतिकता सम्बन्धी उत्तरदायित्व थे। अशोक का पंचम शिलालेख स्वयं ही धर्म महामात्रों के कर्त्तव्यों का स्पष्टीकरण कर देता है—

"आज के पूर्व निकट में अतीत में कभी धर्म महामात्र नहीं रहे। अपने राज्याभिषेक के तेरह वर्ष के पश्चात् मैं ने ही उनकी नियुक्ति की। वे सभी सम्प्रदायों के बीच नियुक्त किये गये हैं और उनका कार्य धर्म की स्थापना करना, धर्म की घोषणा करना तथा धर्मानुरागियों की सतत् सुरक्षा एवं आनन्द के लिए प्रयत्न करना है।" "सभी वर्ग के लोगों के बीच उपस्थित रह कर क्या ब्राह्मण क्या गृहपति, क्या अनाथ और क्या वृद्ध, अथवा बहु संतान के भार से दबे हुए अथवा शोषित जन अथवा धर्म टेक ग्रहण कर मधुकरी या भिक्षान्न पर निर्वाह करने वाले सभी व्यक्तियों को उनकी आवश्यकतानुसार उचित सहायता देना इन्हीं धर्म महामात्रों का कर्त्तव्य था।"

महामात्र—साम्राज्य के जिले तथा नगरों में महामात्र स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण

किया करते थे। अशोक के शिलालेखों से हमें यह भी ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र, कौशाम्बी, तोसली, स्वर्णगिरी, तथा समापा में महामात्रों की नियुक्ति की गई थी। विभिन्न प्रकार के महामात्रों का उल्लेख अशोक के शिलालेखों में किया गया है—उदाहरणार्थ कलिंग शिलालेख में 'नगरक' तथा 'नगल वियोहलक' महामात्रा का उल्लेख किया गया है। डा० हेमचन्द्र राय चौधरी के मतानुसार ये क्रमशः अर्थशास्त्र के 'नागरक' तथा पौर व्यावहारिक है। प्रथम स्तम्भलेख में भी अन्तमहामात्र का उल्लेख मिलता है। यह सम्भवत. अर्थशास्त्र का अन्तपाल है। इसी प्रकार बारहवें शिलालेख में 'इथिझक' महामात्र का उल्लेख किया गया है। वह सम्भवत. 'स्त्री-अध्यक्ष' है।

उपर्युक्त विवरण से ऐसा ज्ञात होता है कि विभिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के महामात्रों की नियुक्ति की गई थी। ये महामात्र अपने-अपने विभागों के अध्यक्ष थे तथा उस विभाग का पूर्ण उत्तरदायित्व इनके ऊपर था।

राजुक—डा० स्मिथ के कथनानुसार राजुक भी गवर्नर होता था किन्तु उसका पद कुमार से नीचा था। ये भूमि तथा न्याय के अधिकारी थे। इनके अधिकार विस्तृत थे। अशोक के चतुर्थ स्तम्भलेख का उल्लेख प्रारम्भ में ही किया गया है जिसमें अशोक 'रज्जुक' (राजुक) की नियुक्ति की घोषणा करता है। इस अभिलेख से राजुका के महत्त्व का ज्ञान होता है और यह भी ज्ञात होता है कि वह कई लाख मनुष्यों पर शासन करता था। जनपदों की देखभाल करना इनका प्रमुख कार्य था। किसी को सम्मानित एवं दण्डित करने का भी इन्हें पूर्ण अधिकार था। रथिक तथा युक्त राजुकों की सहायता करते थे।

प्रादेशिक—प्रादेशिक का स्थान भी काफी महत्त्वपूर्ण था। अशोक के शिलालेखों से यह ज्ञात होता है कि ये प्रान्तीय शासन के प्रधान थे तथा राजुकों के नीचे थे। रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से मौर्यकालीन दो प्रान्तीय गवर्नरों के नाम प्राप्त होते हैं—(१) पुष्य गुप्त जो चन्द्रगुप्त के समय में सौराष्ट्र का गवर्नर था तथा (२) तुषास्प जो अशोक के समय में सौराष्ट्र का गवर्नर था। तुषास्प पारसिक नाम है, अत. इससे ज्ञात होता है कि राज कर्मचारी की नियुक्ति में सम्राट् अशोक किसी प्रकार जाति या देशी-विदेशी भेद नहीं रखता था। यह उसके धार्मिक सहिष्णुता का भी परिचायक है।

युत अथवा युक्त—प्रादेशिक के बाद युत अथवा अर्थशास्त्र के युक्त का उल्लेख अभिलेखों में किया गया है। ये अपने उच्चाधिकारी [illegible] की सहायता के लिए कोष की देख-रेख, राजकीय सम्पत्ति का निरीक्षण, मालगुजारी वसूलने तथा खर्च रखने, लेखा-जोखा रखने आदि का काम करते थे। मनु ने भी अपनी स्मृति में इन [illegible] का उल्लेख किया है और उनका [illegible] खोई हुई वस्तुओं की पुनर्प्राप्ति के पश्चात् [illegible] करना बताया है। कौटिल्य ने भी अपने 'अर्थशास्त्र' में 'युक्त' का उल्लेख करते हुए उसे [illegible] का [illegible] बताया है।

[illegible] अशोक के [illegible] से हमें [illegible] कि ये [illegible] अशोक [illegible] को देखते थे। [illegible]

२ अशोक की महत्ता का उल्लेख करते हुए उसकी चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

३. अशोक के प्रारम्भिक जीवन का संक्षिप्त परिचय देते हुए उस घटना का उल्लेख कीजिए जिसने उसे बौद्ध धर्मानुयायी बनाया।

४. क्या अशोक एक बौद्ध था ? अपने मत के समर्थन में प्रमाण प्रस्तुत कीजिए।

५. अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ क्या किया ?

६. अशोक के धर्म के विषय में आप क्या जानते हैं ?

८. अशोक कालीन भारतीय शासन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

८. मौर्य साम्राज्य के पतन के कारणों की समीक्षा कीजिए। क्या यह सच है कि साम्राज्य के पतन में अशोक की शान्ति-नीति का भी हाथ था ?

की प्रथा विद्यमान थी, यद्यपि कभी-कभी संयुक्त परिवार का विच्छेद भी हो जाता था। वैसे साधारण तौर पर पति-पत्नी का सम्बन्ध पारस्परिक स्नेह और सच्चाई पर आधारित था, किन्तु दाम्पत्य जीवन में कुछ कमियाँ भी आ गई थीं। बहुपत्नीत्व की प्रथा इन कमियों के लिए उत्तरदायिनी थी। अपनी ही जाति की कन्या से विवाह-सम्बन्ध द्वारा जो सन्तान उत्पन्न होती थी उसका सामाजिक स्तर उन सन्तानों की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँचा था जिनका जन्म अन्य जातियों की कन्याओं के गर्भ से होता है। उत्तराधिकार इत्यादि के प्रश्न पर इस प्रकार की असमानताएँ काफी महत्त्वपूर्ण समझी जाती थीं जिससे पति-पत्नी के सम्बन्ध में कटुता अवश्य उत्पन्न हो जाती रही होगी। बहु-पत्नीत्व की प्रथा ने न केवल पारिवारिक जीवन का रूप विकृत कर दिया अपितु इससे परिवार के जीवन में पत्नी का स्थान काफी निम्न हो गया।

पारिवारिक जीवन में पत्नी का स्थान अपेक्षाकृत निम्नतर हो जाने पर भी मौर्य-काल में स्त्रियों की स्थिति कुछ विषयों में सन्तोषजनक कही जा सकती है। विधवा विवाह की भी इस समय व्यवस्था थी। पति के दुर्व्यवहार करने पर स्त्री न्यायालय में न्यायोचित व्यवहार की माँग कर सकती थी। उसे परिवार की सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त था। विवाह के अवसर पर दहेज अथवा उपहार आदि के रूप में जो सम्पत्ति प्राप्त होती थी उस पर उसका पूरा अधिकार होता था और वह अपनी इच्छानुसार उसका प्रयोग कर सकती थी।

स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र पुरुषों के कार्य-क्षेत्र से काफी निम्न था। इस विषय में कौटिल्य का विधान अन्य ब्राह्मण स्मृतिकारों के विधानों से काफी मिलता-जुलता है। कौटिल्य ने स्त्रियों के लिए उच्च शिक्षा को निषिद्ध बतलाया है। कौटिल्य का यह मत उनके दृष्टिकोण से स्वाभाविक ही प्रतीत होता है क्योंकि वे स्त्रियों को सन्तान उत्पन्न करने का साधन मात्र समझते थे। स्त्रियाँ प्रायः घर में ही रहा करती थीं। शिक्षा से वंचित होने पर साधारण रूप में स्त्रियों का मानसिक क्षितिज संकुचित होता था, वे नाना प्रकार के विधि-विधानों में विश्वास करती थीं। अशोक के एक शिलालेख से इस बात का प्रमाण मिलता है कि प्रायः स्त्रियाँ अपनी मनोकामनाओं की प्रतिपूर्ति के लिए विविध प्रकार के अन्धविश्वासों को अपनाती थीं।

नारियों को कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने की भी सुविधाएँ प्राप्त थीं। कुछ स्त्रियाँ संगीत, नृत्य तथा चित्रलेखन आदि ललित कलाओं में निपुणता प्राप्त करती थीं। इतना ही नहीं सैनिक व्यवसाय अपनाने का मार्ग भी स्त्रियों के लिए सर्वथा अवरुद्ध नहीं था। मेगास्थनीज ने चन्द्रगुप्त की महिला अंगरक्षिकाओं का उल्लेख किया है। वह कहता है: "कुछ स्त्रियाँ रथों पर, कुछ घोड़ों पर एवं कुछ हाथियों पर आरूढ़ होती हैं और वे अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रहती हैं। ऐसा मालूम पड़ता है जैसे वे किसी आक्रमण के लिए जा रही हों।" परन्तु सैन्य व्यवसाय ग्रहण करने वाली स्त्रियाँ अधिकतर निम्न जातियों की होती थीं। महिला अंगरक्षिकाओं का उल्लेख अर्थशास्त्र में भी हुआ है।

आमोद प्रमोद—मौर्य काल के लोगों का जीवन प्रसन्न सुखी और आमोद-

प्रमोदमय था। गाँवों में सार्वजनिक शालाएँ हुआ करती थीं जहाँ सामूहिक रूप से उत्सवों आदि का आयोजन होता था। अशोक के शिलालेखों में उत्सवों तथा समाजों का उल्लेख मिलता है। इन उत्सवों के अवसरों पर लोग एकत्र होकर आनन्द मनाते थे। विविध प्रकार के वाद्य-यन्त्रों का वादन ऐसे अवसरों पर एक आवश्यक अंग समझा जाता था। समाजों और उत्सवों के संगठनकर्ताओं को इस कार्य के लिए राज्य से आर्थिक सहायता प्राप्त होती थी। समाजों और उत्सवों का संगठन सरकारी, नगर, ग्राम आदि संस्थाओं के आदर से किया जाता था। ऐसे अवसरों पर मल्लयुद्ध हुआ करते थे, जिनमें भाग लेने के लिए दूर दूर से पहलवान आया करते थे। एरियन नामक यूनानी लेखक ने इन मल्लयुद्धों के विषय में लिखा है। उसने मनुष्यों और हाथियों तथा अन्य पशुओं के द्वन्द्वों का उल्लेख किया है। उसने रथों की दौड़ का भी वर्णन किया है कि पाटलिपुत्र में ये रथदौड़ अधिकता से हुआ करते थे जिनमें अगल बगल बैल और घोड़े जुते रहते थे। मनुष्यों और पशुओं के मल्लयुद्धों में प्रायः भीषण रक्तपात हो जाया करता था। इसलिए अशोक ने ऐसे समाजों पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। परन्तु अन्य प्रकार के आमोद-प्रमोदों की आवश्यकता को उसने भी समझा था। उसने मनोरंजन के साधनों को एक उच्चतर उद्देश्य—जनसाधारण के नैतिक उत्थान की प्राप्ति का साधन बनाया। अपने एक अभिलेख में अशोक कहता है कि उसने "मनुष्यों और पशुओं की मुठभेड़ बन्द करा दी और उसके स्थान पर उसने आकाश में भाँति-भाँति के दृश्यों के चित्रण की व्यवस्था की जिससे लोगों का मनोरंजन तो हो ही, साथ ही उससे उन्हें यथेष्ट नैतिक शिक्षा भी मिले।" ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में नाटकों द्वारा भी लोगों का मनोरंजन होता था।

भोजन पान—मौर्य-कालीन भारत की आर्थिक समृद्धि का परिचय हमें उस समय के लोगों के भोजन-पान के द्वारा भी प्राप्त होता है। लोगों का भोजन सुरुचिपूर्ण और पुष्टिकर होता था। सामान्य रूप से वे परिमित और स्वच्छ भोजन ही ग्रहण करते थे। भोजन में विविध प्रकार के अन्न, दूध और मांस का समावेश होता था। यद्यपि जैन और बौद्ध धर्मों की अहिंसावादिता में मांस-भक्षण को कोई स्थान नहीं प्राप्त था तथापि अधिकांश लोग मांस खाते थे। नगरों में आजकल की भाँति अनेक दूकानें होती थीं जहाँ पर भोजन-सामग्रियाँ हर समय तैयार मिलती थीं। इन दूकानों पर पक्वान्न, मांस, रोटी, चावल आदि वस्तुओं का विक्रय होता था। सुरा का प्रयोग प्रचलित था किन्तु इसके क्रय-विक्रय पर राज्य का नियन्त्रण होता था। कौटिल्य ने विविध प्रकार की मदिरा का उल्लेख किया है और उनकी निर्माण-विधि भी बतलाई है। मेगास्थनीज ने भारतीयों के भोजन करने के ढंग पर लिखा है—"जब भारतीय भोजन करने बैठते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख तिपाई के आकार की मेज रख दी जाती है। इसके ऊपर एक सोने का प्याला रखा जाता है जिसमें सबसे पहले चावल डाले जाते हैं। वे ऐसे उबले होते हैं जैसे उबले जौ। इसके बाद दूसरे बहुत से पक्वान्न रखे जाते हैं जो भारतीय विधि से तैयार होते हैं।" वह आगे यह भी लिखता है कि भारतीय जन अकेले ही भोजन करते हैं। सामूहिक भोजन के लिए उनके यहाँ कोई समय निश्चित नहीं होता, जब जिसकी इच्छा होती है, भोजन करता है।

दास प्रथा—दास-प्रथा अति प्राचीन काल से भारतीय सामाजिक जीवन की एक मान्य व्यवस्था रही है। मौर्य काल में भी यह प्रचलित थी, यद्यपि यूनानी लेखकों के प्रमाण इसके विरुद्ध हैं। एरियन लिखता है कि सभी भारतीय स्वतन्त्र हैं और उनमें से एक भी दास नहीं है। मेगास्थनीज ने भी इसी प्रकार की बात कही है और स्ट्रेबो ने उसके मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि कोई भी भारतीय दास नहीं रखता। परन्तु अन्य साक्ष्यों से दास-प्रथा के अस्तित्व के प्रमाण इतनी प्रचुरता से प्राप्त होते हैं कि यूनानी लेखकों का कथन भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है। अर्थशास्त्र तथा स्मृतियों में दास प्रथा का उल्लेख किया गया है। अशोक ने अपने अभिलेखों में दासों तथा भाड़े के मजदूरों में विभेद किया है और सब के साथ दया का व्यवहार करने का आदेश दिया है। यह सम्भव है कि मेगास्थनीज को भारत के किसी विशेष भू भाग में दास-प्रथा बिल्कुल न दिखाई पड़ी हो जिससे उसने समझ लिया कि भारतवर्ष में दास-प्रथा है ही नहीं। इसके अतिरिक्त मेगास्थनीज के यह लिखने का कि, भारत में दास-प्रथा है ही नहीं, एक महत्वपूर्ण कारण यह भी हो सकता है कि यहां पर यूनान के ठीक विपरीत, दासों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। प्रसिद्ध विद्वान् रीज डेविड्स ने लिखा है कि भारत में दास अधिकांश रूप में घरेलू नौकर होते थे एवं उनके साथ बुरा व्यवहार नहीं किया जाता था और उनकी संख्या भी महत्वशून्य होती थी।

आर्थिक जीवन

मौर्य-काल में भारतवासियों का आर्थिक जीवन काफी विकसित और सुव्यवस्थित हो गया। आर्थिक जीवन का सर्वाङ्गीण विकास होने से कृषि, उद्योग-धन्धों और व्यापार की अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस युग के पहले भी आर्थिक जीवन काफी विकसित था। बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महात्मा बुद्ध के समय में भी विभिन्न उद्योग-धन्धे और आन्तरिक एवं वाह्य व्यापार काफी उन्नतिशील अवस्था में थे। परन्तु मौर्य-युग में आर्थिक जीवन का इतना चतुर्दिक विकास हुआ कि यदि हम उन पर विचार करते हैं तो हमें आश्चर्य होता है।

कृषि—सदा की भांति मौर्य-युग का आर्थिक जीवन भी कृषि पर ही अवलम्बित था। कृषि गांवों में होती थी और उस समय के ग्राम सुसम्पन्न जीवन तथा समृद्धि के केन्द्र थे।

कौटिल्य ने उस समय के ग्रामों का बड़ा यथार्थ चित्र खींचा है। ग्राम की भूमि का विभाजन इन भागों द्वारा होता था—(१) कृष्ट (जुती हुई भूमि), (२) अकृष्ट (छोड़ दी हुई भूमि), (३) स्थल (ऊँची और सूखी जमीन), (४) केदार—पानी से सींचे हुए खेत, (५) आराम कुञ्ज, (६) षण्ड—केले इत्यादि फल-वृक्षों के बगीचे, (७) मूल-वाप—वे खेत जिनमें मूली या गांठें जैसे—अदरक, हल्दी, शकरकन्द, मूली इत्यादि उगाई जाती थीं। (८) वाट—गन्ने के आरोपण-स्थान, (९) वन—जहाँ से ईंधन की लकड़ी तथा आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती थीं, (१०) विवीत—ग्राम पशुओं के लिए चरागाह और (११) पथ—मार्गों की भूमि। कर्षित भागों के

उस समय के गाँवों में निम्नलिखित वस्तुओं का होना भी आवश्यक था—(१) वास्तु—वह क्षेत्र जिसमें घर बने होते थे। यह भूमि का भाग होता था। (२) क्षेत्र—[illegible], (३) देवगृह—मन्दिर, (४) सेतुबन्ध ([illegible]), (५) आराम, (६) वन—[illegible], (७) व्रज—जहाँ पशुओं के रखने का स्थान, (८) पुण्यस्थान, धार्मिक जगह और (९) प्रेक्षागृह—जहाँ पर जन साधारण के लिए सामाजिक आमोद-प्रमोद की व्यवस्था होती थी।

कृषि की उन्नति के लिए राज्य की ओर से विशेष कार्यों का आयोजन किया गया था। किसानों की सुविधाओं का ध्यान रखा जाता था और उन पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं होने पाता था। सिंचाई की उत्तम व्यवस्था थी। मेगास्थनीज सिंचाई व्यवस्था का वर्णन करते हुए ऐसे अधिकारियों का उल्लेख करता है जिनका कर्तव्य "भूमि की नाप और उन छोटी नालियों का निरीक्षण करना था जिनसे होकर पानी सिंचाई की नहरों में जाता था जिससे प्रत्येक व्यक्ति को पानी का बराबर भाग मिल सके।" एक स्थान पर यूनानी दूत ने लिखा है—भूमि का अधिकांश भाग सिंचाई के अन्तर्गत है जिससे वर्ष में दो-दो फसल तैयार हो जाती है।

अर्थशास्त्र में उन तमाम फसलों का उल्लेख किया गया है जो इस समय उत्पन्न की जाती थीं। ये फसलें इस प्रकार थीं—विभिन्न प्रकार के चावल, कोद्रव—मोटा अनाज, तिल, प्रियङ्गु, कई तरह की दालें जैसे मुद्ग, माष और मसूर, कुलुत्थ, यव, गोधूम (गेहूँ), कलाय, अलसी, सर्षप, शाक और मूल (तरकारियाँ) तथा विभिन्न प्रकार के फल जिनमें केले, अंगूर तथा गन्ना इत्यादि प्रमुख थे। कौटिल्य ने कृषि पर लगाये जाने वाले विभिन्न करों का भी उल्लेख किया है. (१) भाग—कृषि से होने वाली आमदनी पर राज्य का भाग, (२) बलि—यह ऐसा कर था जो भाग के अतिरिक्त भी कृषकों पर लगाया जा सकता था, (३) कर—यह समय समय पर सम्पत्ति के आधार पर लगाया जाता था, (४) विनीत—चरागाहों पर लगाया जाने वाला कर और (५) रज्जु—फसल की उपज के नाप-जोख के लिए लगने वाला कर और (६) चोरारज्जु—चौकीदारी का कर। युद्ध और दुर्भिक्ष के समय कृषि की फसलों पर अतिरिक्त कर भी लगाया जा सकता था। इसके अलावा किसानों से कभी-कभी बेगार भी कराई जाती थी।

उद्योग-धन्धे—मौर्य-युग में उद्योग-धन्धों की भी बहुत अधिक उन्नति हुई। इस युग का सबसे महत्वपूर्ण उद्योग-धन्धा वस्त्र तैयार करना था। यद्यपि सूती वस्त्र का उद्योग-धन्धा सम्पूर्ण देश में प्रचलित था तथापि कुछ स्थानों में इस उद्योग के केन्द्र बन गये थे। प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थों में बनारस के बढ़िया वस्त्र (कासीकुत्तम् या कासिकावत्थ) का उल्लेख किया गया है। इसके अलावा शिवि देश के वस्त्र (सिव्येक) का भी जिक्र आता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सूती-वस्त्र-उद्योग के केन्द्रों की कुछ अधिक विस्तृत सूची मिलती है। ये केन्द्र थे—(१) मदुरा-पाण्ड्य देश की राजधानी, (२) अपरान्त—कोंकन या पश्चिमी समुद्रतट, (३) काशी, (४) वंग, (५) वत्स—कौशाम्बी का निकटवर्ती प्रदेश और (६) महिषा।

ऊनी वस्त्रों का निर्माण भी इस देश का अपना एक प्राचीन धन्धा है। ऋग्वेद

मे ही गान्धार के मसृण तथा कोमल ऊन का उल्लेख आता है। एक ऊनी पोशाक 'सामूल्य' का भी जिक्र आता है।

जौहरियों और शीशे की वस्तुएँ बनाने की कला तीसरी शताब्दी ई० पू० के बहुत पहले ही श्रेष्ठता की ऊँची श्रेणी तक पहुँच चुकी थी। कौटिल्य के ग्रन्थ में सोने, चाँदी, हाथी दाँत तथा अन्य बहुमूल्य धातुओं के कार्यों का प्रचुरता से उल्लेख किया गया है।

पत्थर को काट कर सुन्दर वस्तुएँ बनाने की कला में इस युग के कारीगर बहुत बढ़े-चढ़े थे। अशोक के समय के आश्चर्यजनक पाषाण-स्तम्भ उस युग की तक्षण कला का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। सुगन्धित पदार्थों के निर्माण में भी मौर्य युग में काफी उन्नति हुई।

पृथ्वी के द्वारा प्राप्त होने वाली वस्तुओं के प्रयोग पर मौर्य युग की शासन-व्यवस्था काफी ध्यान देती थी। सेना की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कई महत्वपूर्ण उद्योग-धन्धों का विकास हुआ। रथों, जलयानों और शस्त्रास्त्रों के निर्माण से काष्ठ और धातु-कलाओं को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

व्यापार—उद्योग-धन्धों की इस उन्नति ने व्यापार की उन्नति को स्वाभाविक ही नहीं अपितु अनिवार्य बना दिया। भारत में आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के व्यापार काफी उन्नतिशील अवस्था में थे। सुदूर पूर्वीय देशों के साथ भारत का घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था और देश में भी अनेक वणिक्पथों तथा जल-मार्गों की सुविधा विद्यमान थी जिनके द्वारा व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान को अपनी वस्तुएँ ले जाते थे। अर्थशास्त्र में व्यापार के सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलते हैं, यद्यपि वे काफी थोड़े और बिखरे-बिखरे हैं, उनसे यह सिद्ध होता है कि व्यापार के क्षेत्र में मौर्य-युग में देश ने काफी अधिक उन्नति कर ली थी। कौटिल्य ने उन स्थानों का उल्लेख किया है जहाँ से विभिन्न वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती थीं। एक कथन के अनुसार, जिसे कौटिल्य ने उद्धृत किया है, बहुमूल्य वस्तुएँ जैसे हाथी, घोड़े, सुगन्धित पदार्थ, हाथी दाँत, पशु-चर्म, सोना तथा चाँदी आदि हिमालय में बहुलता से सुलभ थीं। कौटिल्य की सम्मति में कम्बल, पशु चर्म और घोड़ों को छोड़कर अन्य वस्तुओं में विशेषतया शंख, हीरे, रत्न, मोती तथा सोना इत्यादि मूल्यवान् वस्तुओं की अधिकता दक्षिण में थी। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने अन्य वस्तुओं और उनके उत्पत्ति-स्थान की जो सूची दी है, उससे भारत के आन्तरिक और विदेशी व्यापार पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। इन वस्तुओं और उनके उत्पत्ति स्थानों में से ये प्रमुख थे—नेपाल, [illegible], [illegible], [illegible] और [illegible] के वस्त्र, [illegible] के ऊनी [illegible], हिमालय प्रदेश के पशु चर्म, आसाम, [illegible] तथा [illegible] के सुगन्धित पदार्थ, लंका, [illegible] और [illegible] के रत्न तथा अन्य इसी प्रकार की वस्तुएँ।

इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि भारत के आन्तरिक विदेशी व्यापार को [illegible] [illegible] सुविधा प्राप्त [illegible] हुआ। [illegible] के [illegible] [illegible] मौर्यों ने [illegible] के यूनानी राज्य के [illegible] [illegible] [illegible]

नीति अपनाई उसे उसके उत्तराधिकारियों ने जारी रखा। इस नीति ने भारत के विदेशी व्यापार को पश्चिमी एशिया तथा मिस्र में फैला दिया। यूनानी लेखकों के अनुसार भारत और यूनानी राज्यों का व्यापार जल और स्थल दोनों मार्गों से होता था। भारत के लिए पाश्चात्य जगत के साथ यह व्यापारिक सम्बन्ध काफी हितकर और महत्वपूर्ण था। यहाँ से हाथी दाँत, कछुवे की पीठ, [illegible], नील आदि रंग और बहुमूल्य लकड़ियों का निर्यात, मिस्र देश को होता था। व्यापारियों के संघों का संगठन, जिनका निर्माण काफी पहले हो चुका था, इस युग में काफी सुदृढ़ हो गया।

धर्म

इस युग की धार्मिक व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम बौद्ध धर्म ग्रन्थों, अशोक के अभिलेखों और यूनानी लेखकों के विवरणों पर अवलम्बित होना पड़ता है। सभी साक्ष्यों का अवलम्बन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इस समय मुख्यतः ये धर्म-सम्प्रदाय प्रचलित थे—ब्राह्मण, सन्यास आन्दोलन, बुद्ध धर्म, आजीविक और आस्तिक आन्दोलन। हम इन सब की अलग अलग से विवेचना करेंगे।

ब्राह्मण धर्म—इस युग के ब्राह्मण धर्म में, अन्य युगों की भाँति वैदिक तथा गृह्य रीतियों का प्राधान्य था। ब्राह्मण लोग यज्ञादि में लगे रहते थे। अशोक ने अपने अभिलेख में जिन देव-पूजकों का उल्लेख किया है उनसे अभिप्राय उन्हीं ब्राह्मण पुरोहितों से है जो यज्ञ किया करते थे और लोक धर्म के आन्दोलन से पृथक रहा करते थे। बौद्ध ग्रन्थ ब्राह्मणों के ऐसे वर्ग का उल्लेख करते हैं जिन्हें 'ब्राह्मण-महासाला' कहा जाता था। इन लोगों को राजा द्वारा दान में दी हुई भूमि का कर प्राप्त होता था। ये ब्राह्मण बड़े धनाढ्य होते थे और व्ययसाध्य यज्ञों का अनुष्ठान करने की क्षमता रखते थे। वे अपने घरों में बहुत से शिक्षार्थियों को रखते थे जो देश के विभिन्न भागों से आते थे और उनके चरणों के निकट बैठ कर धार्मिक शिक्षा ग्रहण करते थे। यज्ञों में निरीह पशुओं के वध से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता था। सुत्त-निपात में ब्राह्मणों के ऊपर जो दोष लगाये गये हैं वे पूरी तरह निराधार नहीं प्रतीत होते।

केवल वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान ही ब्राह्मण धर्म का सर्वस्व नहीं था। इसके कुछ सूक्ष्म तत्व भी थे जो मनुष्य की आत्मा का परिष्कार करके उसे ऊपर उठाने की क्षमता रखते थे। यदि वैदिक क्रियावाद ब्राह्मण धर्म का स्थूल रूप था तो उपनिषदों का ज्ञानवाद इसका सूक्ष्म रूप था। यह सम्भव है कि इस युग के ब्राह्मण धर्म में अभी भी वैदिक और आध्यात्मिक पक्ष से भी अनेक लोग प्रभावित थे। ब्राह्मण धर्म का हमने जो अध्ययन किया है उससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि नन्द-मौर्य युग में वैदिक अनुष्ठान एवं औपनिषदिक विचार-धारा दोनों ही धार्मिक जीवन की सक्रिय शक्तियाँ थीं। राजाओं, सामन्तों और सम्पन्न ब्राह्मणों का विश्वास वेदों के कर्मकाण्ड में ही अधिक था परन्तु दूसरी ओर समाज में ऐसे भी विचारशील जन थे जो बाह्य आडम्बरों में न पड़ कर सत्य के यथार्थ रूप को जानना चाहते थे। ये लोग नगरों से दूर

वनवासी होकर कठोर तप और संयम का जीवन बिताते हुए ब्रह्म का साक्षात्कार करने की चेष्टा करते थे।

संन्यास-आन्दोलन—हमने ऊपर जिन तपस्वियों का उल्लेख किया है वे ब्राह्मण होते थे परन्तु समाज में श्रमण कहे जाने वाले अन्य संन्यासी भी होते थे। हमने सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में इनका जिक्र किया है। बौद्ध ग्रन्थों में चार प्रकार के श्रमण बताये गये हैं—(१) मग्गजिना—जो मार्ग के अन्त तक पहुंच चुके थे और जिन्होंने निर्वाण प्राप्त कर लिया था, (२) मग्ग—वे लोग जो देश को उच्चतम लक्ष्य का मार्ग दिखलाते थे, (३) मग्ग जीवति-जो मार्ग के अनुसार रहते थे और (४) मग्गदुसी—वे अभिमानी, वाचाल और संयमहीन होते थे और जो धार्मिक पुरुषों की वेश-भूषा धारण करके अपने सम्प्रदाय और गुरु को बदनाम करते थे।

आजीविक—आजीविक सम्प्रदाय की उत्पत्ति तो महात्मा बुद्ध के समय में या उससे भी पूर्व हो चुकी थी किन्तु इसकी उन्नति के विषय में मौर्य काल के पूर्व का विवरण नहीं प्राप्त होता। मक्खलि गोसाल इस सम्प्रदाय के संस्थापक थे। ये लोग भाग्य-वादी होते थे और किसी प्रकार के कारण-परिणाम में विश्वास नहीं रखते थे। आगे चल कर इस युग में अशोक के अभिलेखों द्वारा भी आजीविक सम्प्रदाय के ऊपर प्रकाश पड़ता है। इस सम्प्रदाय का पूर्व मौर्य-युग तक काफी मान रहा परन्तु बाद में धीरे-धीरे इसका प्रभाव घटता ही गया और आगे चलकर यह बिल्कुल लुप्त हो गया। आजीविक लोग श्रमण वर्ग के थे। ये भी प्रायः वनों में रहते थे। आजीविक सम्प्रदाय में ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों संन्यासी थे किन्तु उनके भिन्न-भिन्न समूहों में विभक्त होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

जैन धर्म—चन्द्रगुप्त के शासन-काल में जैन धर्म के अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण घटना घटित हुई और इसके फलस्वरूप एक महान् परिवर्तन उपस्थित हो गया। भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन और जैन धर्म का छठवां थेर (स्थविर) था। कहा जाता है कि अशोक का पौत्र और उत्तराधिकारी, जिसका नाम सम्प्रति था, जैन धर्म का अनुयायी था और इसने अपने पितामह की भांति अपने धार्मिक सिद्धान्तों को फैलाने का प्रयास किया। परन्तु मौर्य काल में जैनधर्म का बहुत अधिक प्रचार न हो सका। बाद में धीरे धीरे यह धर्म पश्चिमी और दक्षिणी भारत में फैल गया।

बौद्ध धर्म—यद्यपि अशोक के पूर्व ही बौद्ध धर्म की काफी उन्नति हो चुकी थी तथापि इसके देशव्यापी प्रचार और विदेशों में इसके प्रसार का श्रेय मौर्य सम्राट को दिया जा सकता है। उसने स्वयं बौद्ध धर्म को राजधर्म ही नहीं घोषित किया बल्कि इसकी उन्नति के लिए अनेक प्रयत्न भी किये। इतिहासकारों का विश्वास है कि अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार और प्रसार के लिए जो प्रयत्न किये उनमें उसे अधिक सफलता प्राप्त हुई।

आस्तिक आन्दोलन—ब्राह्मणवादी आस्तिक धर्मों का पुनरुत्थान मौर्य युग का धार्मिक क्षेत्र की एक महत्वपूर्ण घटना है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] देश के कोने कोने में फैल चुके थे। मौर्य काल में शिव, [illegible] [illegible] [illegible]

प्रतिमाओं का क्रय-विक्रय होता था, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्ति-पूजा का प्रचार अधिकतर जन साधारण में ही था। अभिजात वर्ग के लोग मूर्ति-पूजा को प्राय: उपेक्षा की दृष्टि से देखा करते थे। जन साधारण के धार्मिक जीवन में अन्य क्रियाओं का भी समावेश था।

लोक धर्म—लोक-धर्म में मूर्ति पूजा की प्रधानता थी। देश में बहुत से मन्दिर होते थे जहाँ पर लोग मूर्तियों की पूजा करते थे। कौटिल्य ने उन अनेक देवी-देवताओं का नाम गिनाया है जिनकी जन साधारण द्वारा पूजा की जाती थी। मन्दिर (कोष्ट) नगर के उत्तरी-पश्चिमी भाग में बनाये जाते थे। जिन देवी-देवताओं के सम्मान में मन्दिरों का निर्माण कराया जाता था, उनके नाम इस प्रकार थे—अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, वैजन्त, शिव, वैश्रवण, (कुबेर), अश्विनी और लक्ष्मी। वास्तु और दिक् पूजा भी प्रचलित थी। लोक-धर्म में अन्धविश्वासों का पर्याप्त मात्रा में समावेश था। स्वर्ग और नरक में लोगों का बहुत अधिक विश्वास था। बौद्ध-ग्रन्थों में उस समय के लोक धर्म के प्रत्येक पक्ष का विस्तृत उल्लेख मिलता है और उसकी तीव्र शब्दों में निन्दा की गई है जिससे लोग उससे पृथक रहें। परन्तु इन प्रयत्नों के उपरान्त भी लोक-धर्म जारी रहा।

भाषा और साहित्य

जिस युग की सांस्कृतिक और सामाजिक व्यवस्था का अब तक हमने अध्ययन किया है उसका महत्व इस बात में भी है कि इस युग में न केवल प्राकृत जैसी लोक-भाषाओं की बहुत अधिक उन्नति हुई वरन् इनमें साहित्य-सृजन का भी कार्य हुआ। लिपि का व्यापक रूप से प्रचार इस युग की एक प्रमुख सांस्कृतिक देन है। इस युग के साहित्यिक विकास की एक प्रमुख विशेषता है इहलोक परलोक साहित्य की रचना। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस समय धार्मिक अथवा दार्शनिक ग्रन्थ लिखे ही नहीं गये वरन् हमारे कथन का अभिप्राय यह है कि पाणिनि के व्याकरण को छोड़कर अन्य किसी लौकिक साहित्य के अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थ का प्रणयन इस युग के पहले नहीं हुआ था, जबकि इस युग में पहुँच कर काव्य, नाटक आदि साहित्य-शाखाओं का हम सृजन होते देखते हैं और अर्थ-शास्त्र की रचना से तो यह स्पष्ट हो जाता है कि एक शास्त्रविद् ब्राह्मण ने राजनीति जैसे लौकिक और शुष्क विषय को संस्कृत छन्दों का विषय बनाया। काम-सूत्र के रचना-काल को भी कुछ विद्वान् मौर्य युग के अन्तर्गत ही रखते हैं।

कात्यायन का पाणिनीय व्याकरण पर भाष्य इसी युग की रचना कही जाती है। बृहत्कथा के संस्कृत संस्करण, हरिषेण के जैन बृहत्कथा कोष और बौद्ध-ग्रन्थ मन्जुश्री-मूल-कल्प में नन्द, चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार के एक ब्राह्मण मन्त्री सुबन्धु का उल्लेख किया गया है। अभिनवगुप्त ने नाट्य-शास्त्र पर 'अभिनव भारती' नामक जो टीका लिखी है उसमें उन्होंने सुबन्धु का कुछ विस्तार के साथ उल्लेख किया है और उसको 'वासवदत्ता नाट्यधारा' नामक एक विचित्र नाटक का रचयिता बताया है।

धार्मिक साहित्य के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण रचना-कार्य हुआ। इस समय जनता के धार्मिक जीवन में जो तीन प्रमुख धारायें थीं उनके अनुसार धार्मिक साहित्य की रचना हुई। वैदिक धर्म, बौद्ध और जैन तीनों के धार्मिक साहित्य का प्रचुर विकास हुआ। वैदिक धर्म के अन्तर्गत इस काल में अनेक गृह्यसूत्र-धर्मसूत्र, और वेदाङ्ग ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। बौद्ध साहित्य की दृष्टि से यह युग काफी महत्व रखता है। इस काल के जैन लेखकों में शीर्ष-स्थान को अधिकृत करने वाले आचार्य भद्रबाहु द्वितीय चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे और जैन अनुश्रुति के अनुसार उन्होंने मौर्य सम्राट् को अपने धर्म में दीक्षित कर लिया था।

कला की उन्नति

मौर्य-कला का प्रारम्भ अशोक के राजत्व काल से होता है। ईंटों या मजबूत पत्थरों के बने हुए ठोस गुम्बदों को स्तूप कहा जाता था। अशोक ने विशाल स्तूपों का बहुत बड़ी संख्या में निर्माण कराया था। अनुश्रुति के अनुसार उसने ८४००० स्तूप बनवाये थे। साँची का विशाल स्तूप अशोक का ही बनवाया बताया जाता है, परन्तु जिस रूप में इसका अशोक ने निर्माण कराया था उसमें आगे चलकर काफी परिवर्तन हो गया। अशोक द्वारा सारनाथ में निर्मित धर्म राजिका स्तूप का निचला भाग अब भी वर्तमान है।

अशोक द्वारा निर्मित कलाकृतियों में सबसे अधिक महत्व उसके स्तम्भों का है। इस समय यह सम्भव नहीं कि हम अशोक की राजाज्ञा पर बनाये गये स्तम्भों की बिल्कुल ठीक-ठीक संख्या बता सकें, परन्तु तीस चालीस के बीच की संख्या अनुमानतः ठीक जान पड़ती है। स्तम्भों का निर्माण चुनार के बलुआ पत्थर से किया गया है। सारनाथ का स्तम्भ मौर्य-युग की कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसके निर्माण कौशल की प्रशंसा सभी कला-समालोचकों ने मुक्तकण्ठ से की है। स्तम्भ पर पशुओं की जो आकृतियाँ खुदी हुई हैं उनकी सजीवता और सुन्दरता अत्यन्त सराहने योग्य है।

अशोक के समय में भिक्षुओं के निवासार्थ विहार तथा गुफाओं का निर्माण कराया गया था। बराबर की पहाड़ियों में बहुत सी गुफायें बनी हैं जिनमें भिक्षु निवास करते थे। इन गुफाओं की दीवालें इतनी चमकदार हैं कि वे दर्पण के सदृश जान पड़ती हैं और निर्माणकर्ताओं के कौशल [illegible] निपुणता का प्रदर्शन करती हैं। अशोक ने जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कई नगरों का निर्माण भी कराया था। [illegible] फाहियान ने अशोक निर्मित एक भवन को देखा था जिसके निर्माण कौशल को देखकर वह विस्मय-विमुग्ध हो गया। [illegible] अशोक ने देवताओं द्वारा बनवाया होगा क्योंकि इसका निर्माण मनुष्यों द्वारा सम्भव नहीं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ मौर्य कालीन समाज का चित्रण कीजिए।

२ मौर्य कालीन सभ्यता एव सस्कृति का विवेचन तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एव आर्थिक अवस्थाओं पर प्रकाश डालते हुए कीजिए।

३ मौर्य कालीन कला एव साहित्य पर प्रकाश डालिए।

४ मौर्य कालीन भारत की धार्मिक अवस्था के विषय मे आप क्या जानते हैं ?

अध्याय १७

शुंग वंश

मौर्यों के बाद देश की विशृंखलित राजनीतिक स्थिति से लाभ उठाने की इच्छा रखने वाले यवनों ने भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा को पार किया और गान्धार (उत्तरी-पश्चिमी सीमा) साकल (उत्तर मध्य पंजाब) तथा अन्य स्थानों पर अपने शक्तिशाली राज्यों की स्थापना की। मगध में भी एक महती राजनीतिक क्रान्ति हुई जिसके फलस्वरूप एक नया राजवंश उत्पन्न हुआ। यह वंश था शुङ्गवंश और इस क्रान्ति का नेता पुष्यमित्र शुङ्ग था।

पुष्यमित्र शुङ्ग ने अन्तिम मौर्य नरेश बृहद्रथ का वध करके राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया।

शुङ्गों की जाति—शुङ्गों की जाति के विषय में काफी मतभिन्नता दिखलाई पड़ती है। 'दिव्यावदान' नामक बौद्ध-ग्रन्थ पुष्यमित्र द्वारा मौर्य-साम्राज्य के नष्ट किए जाने की बात तो कहता है परन्तु इस ग्रन्थ में उसे मौर्य-वंश का ही बतलाया गया है। कुछ विद्वानों ने शुङ्गों को ईरान देश का बतलाकर अनार्य प्रमाणित करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि चूंकि ईरान में मित्र (सूर्य) की बहुत पूजा की जाती थी और शुङ्ग वंश के प्रत्येक नरेश के नाम में 'मित्र' अक्षर लगा हुआ है इससे यह वंश ईरानी प्रतीत होता है। परन्तु यह मत तर्कसम्मत नहीं प्रतीत होता। केवल नाम के आधार पर शुङ्गों को ईरानी प्रमाणित करने का हमें कोई औचित्य नहीं दिखाई पड़ता। अधिकांश साक्ष्यों द्वारा शुङ्गों के ब्राह्मण होने का ही प्रमाण मिलता है।

पुष्यमित्र का साम्राज्य-निर्माण—बृहद्रथ की हत्या करने के उपरान्त पुष्यमित्र मगध राज्य का स्वामी तो बन गया परन्तु उसके राज्य की स्थिति [illegible] डाँवाडोल थी। पड़ोस के राज्यों। कलिङ्ग, आन्ध्र और महाराष्ट्र—ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर दी थी और मगध राज्य को वे हथियाने पर तुले हुए थे। मगध के हाथ से सीमान्त प्रान्त निकल जाने से इसकी शक्ति सीमित हो गई थी और पड़ोस के राज्यों की बढ़ती हुई शक्ति इसके स्वामी के लिए भय [illegible]। [illegible] था, अतएव मगध पर अधिकार जमा लेने के बाद पुष्यमित्र ने [illegible] अपनी शक्ति को दृढ़ करने की ओर ध्यान दिया। [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] और [illegible] को [illegible] जो मगध के अधीन थे, पुष्यमित्र ने पुनः [illegible] किया और इन [illegible] पर [illegible] [illegible] का युग आरम्भ किया। कलिङ्ग का राज्य [illegible] दूर रहा था और मौर्य-साम्राज्य के बाद [illegible]। [illegible] आने से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

रहा था। अतएव पुष्यमित्र ने आकर प्रान्त के मुख्य नगर विदिशा को अपनी दूसरी राजधानी बनाया। विदिशा में उसने अपने पुत्र अग्निमित्र को राज्य प्रतिनिधि के रूप में रक्खा। अग्निमित्र को उसने आकर व अवन्ति प्रान्त का शासक नियुक्त कर दिया। इस प्रकार साम्राज्य-निर्माण के सम्बन्ध में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर लेने के बाद पुष्यमित्र ने अपना ध्यान साम्राज्य-विस्तार की ओर दिया। परन्तु देश की विकट राजनीतिक अवस्था के कारण वह सुदूर राज्यों को अपने अधिकार में नहीं कर सका। विदर्भ राज्य के साथ उसका संघर्ष हुआ जिसमें उसके आतंक का सिक्का अच्छी तरह जम गया।

यवनों का आक्रमण—पुष्यमित्र शुङ्ग के शासनकाल की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी यवनों का आक्रमण और शुङ्गों द्वारा प्रबल प्रतिरोध। मौर्य वंश के पतनोन्मुख होने के समय से ही देश की उत्तर पश्चिमी सीमा अरक्षित प्रतीत होने लगी। उसके निकट ही बाख्त्री यवनों के राज्य स्थापित हो चुके थे। ये यवन राज्य भारत पर अपनी गृद्ध-दृष्टि सदैव लगाये रहते थे। पुष्यमित्र के समय में यवनों ने पूरी तैयारी के साथ भारत पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण का विवरण हम पतञ्जलि के 'महाभाष्य' एवं 'गार्गी संहिता' के द्वारा मिलता है। तारानाथ ने भी लिखा है कि पुष्यमित्र के राज्य-काल में भारत पर सबसे पहले विदेशी यवनों का आक्रमण हुआ था। पतञ्जलि जो पुष्यमित्र के समकालीन थे, इस आक्रमण का उल्लेख करते हैं। लेकिन यवनों को पाटलिपुत्र से पीछे लौट जाना पड़ा।

हम संस्कृत ग्रन्थों में, जिनके द्वारा यवन-आक्रमण का विवरण प्राप्त होता है, यवन सरदार के नाम का कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता। कुछ इतिहासकारों के अनुसार भारत पर यवन-आक्रमण का नेतृत्व डेमेट्रियस कर रहा था और कुछ के विचार में डेमीट्रियस नहीं बल्कि मिनेन्डर आक्रमणकारियों का नेता था। प्रोफेसर एन० एन० घोष की धारणा है कि "गार्गी संहिता में वर्णित एवं पतञ्जलि महाभाष्य में उल्लिखित पाटलिपुत्र के यवन-आक्रमण का अधिनायक सम्भवतः डेमीट्रियस (Demetrius) था।" दूसरे आक्रमण का नेतृत्व, प्रोफेसर घोष के मतानुसार, मिनान्डर ने किया था।

अश्वमेध यज्ञ—अपनी सफलताओं के उपलक्ष्य में पुष्यमित्र शुङ्ग ने अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया। उसके लिए यह यज्ञ करने के महत्वपूर्ण कारण थे। पहली बात तो यह कि विदर्भ राज्य के ऊपर उसकी प्रभुता का सिक्का अच्छी तरह जम चुका था और विदेशी आक्रमणकारियों को दो बार निराश होकर लौट जाना पड़ा, जिससे शुङ्गवंश के गौरव में अभिवृद्धि हुई। इसी तरह गौरव की अभिवृद्धि को प्रदर्शित करने के लिए पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया।

पुष्यमित्र शुङ्ग और बौद्ध धर्म—कतिपय बौद्ध ग्रन्थों में पुष्यमित्र शुङ्ग के ऊपर यह आरोप लगाया गया है कि वह बौद्ध धर्म का प्रबल शत्रु था। 'दिव्यावदान' के लेखक का कथन है कि पुष्यमित्र ने यह घोषणा निकलवा दी थी कि जो मुझे एक श्रमण का सिर लाकर देगा उसे सौ दीनार दूंगा। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने भी लिखा है कि पुष्यमित्र धार्मिक प्रश्नों में बड़ा असहिष्णु था। उसने बौद्धों पर भाँति-भाँति के अत्याचार किये और उनके मठों तथा संघारामों को वह जलवा दिया करता था। पर सुविख्यात अंग्रेज विद्वान श्री ई० बी० हॅवेल ने इस विषय में जो कुछ लिखा है इसे वही

सबसे अधिक तर्कसम्मत और युक्तियुक्त जचता है। उन्होंने लिखा है कि पुष्यमित्र शुङ्ग ने बौद्धों का दमन इसलिए किया कि उनके संघ राजनीतिक शक्ति के केन्द्र बन गये थे, इसलिए नहीं कि वे एक पृथक् धर्म को मानते थे। किन्तु यह विश्वास नहीं करता था।

पुष्यमित्र शुङ्ग के उत्तराधिकारी—पुष्यमित्र शुङ्ग ने ३६ वर्षों तक राज्य किया। उसका शासन-काल लगभग १४८ ई० पू० तक रहा। उसकी मृत्यु के अनन्तर उसका पुत्र अग्निमित्र सिंहासन पर आसीन हुआ। यही अग्निमित्र महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' का नायक है। यह हम देख चुके हैं कि वह विदिशा का शासक रह चुका था जिससे इसने राज्य सञ्चालन में अनुभव प्राप्त कर लिया था। इसके शासन-काल में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं घटित हुई। अग्निमित्र शुङ्ग के पश्चात् उसका भाई सुज्येष्ठ मगध का अधिकारी हुआ। उसके शासन-काल में भी कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई। सुज्येष्ठ के बाद अग्निमित्र का वीर पुत्र वसुमित्र मगध के सिंहासन पर बैठा। इसने ही सिन्धु नदी के दक्षिणी तट पर यवनों की सेना को पराजित किया था। वसुमित्र के उपरान्त ओद्रक राजा हुआ। इसका उल्लेख सम्भवतः कौशाम्बी के निकट पभोसा के शिलालेख में हुआ है। शुङ्ग वंश के नवम् राजा भागवत अथवा भागभद्र के शासन-काल में तक्षशिला के यवन शासक अन्तलिकित (Antialkidas) ने उसकी सभा में दिय (Dion) के पुत्र हेलिओदोर (Heliodorus) को अपना राजदूत बना कर भेजा था। शुङ्ग वंश का अन्तिम राजा देवभूति था। 'विष्णु पुराण' में लिखा है कि उसके मन्त्री वसुदेव कण्व ने उसका वध कर दिया और स्वयं राजा बन बैठा। इस प्रकार मगध का राज्य शुङ्गों के हाथ से निकलकर कण्व वंश के हाथ में चला गया।

शुङ्गकालीन सभ्यता और संस्कृति

धर्म और साहित्य—शुङ्गों के शासन-काल में ब्राह्मण धर्म की बहुत अधिक उन्नति हुई। कला और संस्कृति का भी पर्याप्त विकास हुआ। इस दृष्टि से भारतीय इतिहास में शुङ्गवंश का महत्त्वपूर्ण स्थान था। शुङ्गकालीन संस्कृति गुप्तकालीन भारतीय संस्कृति की एक शैशवावस्था थी। पुष्यमित्र और उसके उत्तराधिकारियों ने अशोक के पूर्ववर्ती मगध की परम्परा को अपनाया। धर्म-विजय की अभिलाषा का शासन युद्ध से घृणा नहीं अपितु सैन्य संगठन का निर्माण आवश्यक समझा गया। राजनीति का रूप यथार्थ हो गया। शुङ्गों ने उत्तर भारत को एक किया। भू-भाग पर अपना अधिकार जमाया, यवन आक्रमणकारियों को पराजित किया और विदेशी राजाओं का सम्मान प्राप्त किया। उन्होंने कला, साहित्य और धर्म के पुनरुत्थान को पोषित किया। मध्यदेश में बुद्धिजीवियों तथा बुद्धिमत्ता की दृष्टि से ब्राह्मण दृष्टिकोण का प्रभाव नष्ट हो गया। धर्म की शक्ति वृद्धि की गई, ब्राह्मण धर्म को पुनः पूर्ण रूप से स्थापित किया गया। धार्मिक विचार की गति सहृदय बौद्ध धर्म के प्रति धर्म के दृष्टिकोण, एक आस्तिक सहृदय तथा पूर्णतर भक्ति का बोध में, कुरुक्षेत्र भागवत के सम्प्रदाय में, भागवत सम्प्रदाय के पुनरुत्थान में तथा विष्णु देवकीपुत्र में वासुदेव कृष्ण की मान्यता में अभिव्यक्त हुआ है।

पुष्यमित्र शुङ्ग ने दो बार यज्ञ करके सनातन धर्म की मर्यादा को पुनः प्रतिष्ठापित किया। शुङ्ग वंश के शासन-काल में ही प्रसिद्ध पुस्तक 'मनुस्मृति' या मानव धर्म शास्त्र की रचना हुई। इस पुस्तक में हम ब्राह्मण आदर्शों को समाज में पुनः पर्याप्त रूप से प्रचलित करने का प्रयास सुस्पष्ट देखते हैं। गार्हस्थ्य जीवन का महत्व पिछले युगों में बौद्ध धर्म की प्रधानता के कारण कुछ कम हो गया था, परन्तु इस युग में मनुस्मृतिकार ने इसके महत्व को स्पष्ट किया। हिन्दू-समाज में जाति प्रथा के बन्धन काफी कठोर कर दिये गये और स्त्रियों का स्थान भी पहले की अपेक्षा निम्नतर हो गया, यद्यपि मनु महाराज ने 'यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमन्ते तत्र देवता' इत्यादि शब्दों द्वारा स्त्री जाति का महत्व समझाया। 'मनुस्मृति' में आदि से अन्त तक इसी बात का प्रयत्न किया गया है कि प्राचीन वैदिक धर्म समाज में प्रचलित हो। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि 'मनुस्मृति' तत्कालीन स्थिति का उतना निदर्शन नहीं कराती जितना कि यह समाज के सम्मुख एक आदर्श प्रस्तुत करती है। हम यह नहीं कह सकते कि इस ग्रन्थ में सामाजिक अथवा धार्मिक जीवन के जिन नियमों का उल्लेख है वे सब इस समय समाज में प्रचलित थे। 'मनुस्मृति' के अध्ययन से यह पता चलता है कि इस समय के हिन्दू धर्म में संकीर्णता और कट्टरता प्रवेश कर चुकी थी किन्तु आभिलेखिक साक्ष्य से जो सूचना प्राप्त होती है वह इसके विपरीत है। बेसनगर के स्तम्भलेख से यह प्रमाणित होता है कि यूनानी भी इस समय हिन्दू धर्म में दीक्षित कर लिये जाते थे। "इससे यह भी सिद्ध होता है कि तब का हिन्दू धर्म आज की भाँति संकुचित न था और इसकी छाया में विदेशीय भी साँस ले सकते थे।" यद्यपि वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करने के लिए पुष्यमित्र ने काफी प्रयत्न किया तथापि बौद्ध धर्म का भी इस समय प्रचार था। यदि हम भरहुत स्तूप के "सुगनम् रजे" को पुष्यमित्र के काल का न भी मानें तो भी हमें इतना तो कम से कम अवश्य मानना पड़ेगा कि उसके उत्तराधिकारियों की बौद्ध धर्म के प्रति असहिष्णु नीति न थी। इसके अतिरिक्त भागवत धर्म का प्रचार और विकास इस युग के धार्मिक जीवन की विशेषता थी। विदिशा तथा घोसुण्डी के शिलालेखों से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि इस समय जनता में भागवत धर्म का खूब प्रचार था।

साहित्य के क्षेत्र में, हम जानते हैं कि महर्षि पतञ्जलि पुष्यमित्र शुङ्ग के समकालीन थे जिन्होंने पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' पर एक महाभाष्य लिखा। मनुस्मृति की रचना, प्रसिद्ध विद्वान डा० बुहलर के मतानुसार २०० ई० पू० एवं २०० ई० के मध्य किसी समय में हुई होगी। अधिक सम्भावना इसी बात की है कि शुङ्ग वंश के प्रारम्भिक युग में ही इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया। पुष्यमित्र शुङ्ग और महाराज मनु के ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान करने के प्रयत्नों में दृष्टिकोण की गहरी समानता है। पतञ्जलि ने पूर्ववर्ती युग की साहित्यिक समृद्धि पर जो प्रकाश डाला है, उससे यह कल्पना करना अयुक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता कि शुङ्ग वंश के शासन-काल में भी साहित्य सृजन की परम्परा जारी रही होगी। परन्तु हमें ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं जिनका रचना-काल हम सुनिश्चित रूप से शुङ्ग वंश के शासन-काल के अन्तर्गत निर्धारित कर सकें। 'इस काल में सम्भवतः अनेक अन्य साहित्यिक महारथियों का भी प्रादुर्भाव हुआ था जिनके नाम आज काल के गर्भ में खो गये हैं।'

कला की उन्नति—शुङ्ग काल में कला की भी काफी अधिक उन्नति हुई। इस समय की कला की यह एक प्रमुख विशेषता है कि इसके द्वारा अधिकांश जनता के मानस, सांस्कृतिक आदर्श तथा उसकी परम्परा का प्रतिबिम्ब प्राप्त होता है। इस बात में यह मौर्य-युग से नितान्त भिन्न है। शुङ्ग कला की एक दूसरी विशेषता है कि यह अपने समय के जन-जीवन का चित्र बड़े ही यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती है। भरहुत स्तूप में दो हजार वर्षों पूर्व के भारत के दैनिक जीवन का सजीव चित्रण है। लोगों के घर, देवताओं की मूर्तियाँ, साधुओं के आश्रम तथा साथ ही साथ गाड़ियाँ, रथ, नौकायें, वेश-भूषा, शस्त्र तथा आभूषण जिनका प्रयोग साधारण रूप से किया जाता था, ये सभी वस्तुयें नितान्त यथार्थता की ओर स्पष्ट रूप में प्रदर्शित की गई हैं। ये स्तूप-स्थापत्य धार्मिक भावनाओं और विश्वासों को, वेशभूषा, परिधान तथा शिष्टाचार-सम्बन्धी व्यवहारों को सूचित करते हैं और बड़ी ही सादगी तथा प्राञ्जलता के साथ बनाये गये हैं। इनसे हम भारत के जनसाधारण के मानस और आदतों के सम्बन्ध में एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करते हैं और जीवन के आनन्द तथा सुखों की भावना उन सब को परिव्याप्त किये हुए प्रतीत होती है। प्राचीन भारत, अपनी स्वस्थ आशावादिता तथा जीवन के प्रति सच्चे विश्वास के साथ, इन पाषाणों के द्वारा एक ऐसे स्वर में बोलता हुआ प्रतीत होता है जो कुछ उन प्राचीन धर्म-ग्रन्थों के अन्धकारपूर्ण निराशावादी दृष्टिकोण से एक तीव्र परन्तु मधुर विरोध प्रस्तुत करता है, जो इनको दोहराते हुए कभी थकते नहीं। इन स्थापत्य चित्रों के उत्कीर्णन का उद्देश्य जनता को महात्मा बुद्ध के जीवन की घटनाओं तथा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों से परिचित कराना था, परन्तु चित्रों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह उद्देश्य गौण हो गया है और कलाकार जीवन का चित्रण करने में इतना संलग्न हो गया है कि उसे जनता के नैतिक उत्थान का कोई विशेष ध्यान नहीं। प्रोफेसर कुमार स्वामी ने ठीक ही कहा है कि इन चित्रों का प्रधान केन्द्रबिन्दु न तो आध्यात्मिक है और न आचारवादी, बल्कि सम्पूर्णतया मानव-जीवन से सम्बन्धित है। भरहुत स्तूप के तोरण-द्वारों पर पशुओं एवं पुष्प-लताओं के जो चित्र हैं उनको देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनको उत्कीर्ण करने वाले बौद्ध कलाकारों को केवल मानव-जीवन से ही अनुराग न था वरन् उनके हृदय में सृष्टि के प्रत्येक प्राणी के लिए स्नेह की भावना विद्यमान थी। प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम इन चित्रों की विशेषता है। इस दृष्टि से भरहुत के ये चित्र भारतीय संस्कृति के [illegible] एवं प्रकृति सृष्टि के साथ अनुराग स्थापित करने वाले सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। यदि हम इस सिद्धान्त की परिपुष्टि चाहते हैं तो हमें शकुन्तला और पार्वती के चरित्रों का अध्ययन करना चाहिए जिनमें जीव प्रेम और प्रकृति प्रेम की भावनायें भरी हुई हैं। उद्दण्डता और क्रूरता के प्रति उपेक्षा की गई है। साँची के "प्रदक्षिणा पथ और तोरण" जिनका निर्माण शुङ्ग युग के महाकुमार अग्निमित्र के शासनकाल में ही किया गया था, इस दृष्टि से अति महत्वपूर्ण हैं।

कण्व वंश का शासन काल (लगभग ७५-३० ई० पू०)

शुङ्ग वंश के पतन के सम्बन्ध में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार वसुदेव

अन्तिम शुङ्ग-नरेश देवभूति के हाथ से निकल कर कण्ववंश के संस्थापक वसुदेव के हाथ मे चली गई। शुङ्ग-वंश के शासन काल का अन्त ७२ ई० पू० के लगभग हुआ और इसी समय से कण्व वंश का-शासन आरम्भ होता है। कण्व वंश भी ब्राह्मण था। वसुदेव ने देवभूति को षड्यन्त्र द्वारा हत्या करा के ही राज्य हस्तगत किया था, यह हम पढ़ चुके है। इस सम्बन्ध मे 'विष्णु-पुराण' तथा 'हर्ष चरित' के विवरणो का भी हम अध्ययन कर चुके है। कण्व वंश को काण्वायन भी कहा जाता था। सम्भवत यह नाम गोत्र के आधार पर पड़ा था। इस वंश मे चार नरेश हुए। इनके नाम थे, वासुदेव, भूमिमित्र, नारायण और सुशमर्ण जिन्होने क्रमश ९, १४, १२, और १० वर्षों तक शासन किया। यद्यपि पुराणो मे, भविष्यवाणी की प्रणाली द्वारा यह कहा गया है कि वे पड़ोस के राजाओं को अपने अधीन रक्खेगे और धर्मानुसार राज्य करेंगे तथापि कण्व-नरेशो के इतिहास के सम्बन्ध मे हमे कोई विवरण नहीं प्राप्त होता। कण्व वंश का अन्त २८ ई० पू० मे आन्ध्रो अथवा आन्ध्र भृत्यो द्वारा हुआ।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ शुङ्ग कौन थे? पुष्यमित्र ने किस प्रकार मगध साम्राज्य को हस्तगत किया?

२ क्या पुष्यमित्र बौद्धहन्ता था?

३. पुष्यमित्र शुङ्ग के शासन-काल की कुछ प्रमुख घटनाओं का उल्लेख कीजिए।

४ शुङ्ग कालीन सभ्यता एव संस्कृति के विषय मे आप क्या जानते हैं?

५. कण्व वंश के विषय मे आप जो कुछ जानते हो लिखिए।

अध्याय १८

आन्ध्र-सातवाहन-वंश तथा खारवेल

आन्ध्र जाति का प्राचीन इतिहास—पुराणों में सातवाहन वंश के राजाओं के लिए आन्ध्र शब्द का प्रयोग किया गया है, जब कि अपने अभिलेखों में वे अपने को सर्वदा और सर्वत्र सातवाहन अथवा शातकर्णि घोषित करते हैं। इन अभिलेखों में आन्ध्र शब्द कहीं नहीं मिलता। आन्ध्र लोग गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच के तेलगू देश में रहने वाली जाति के थे। ऐतरेय ब्राह्मण में सबसे पहले इस जाति का उल्लेख पाया जाता है। इस जाति को आर्य संस्कृति के प्रभाव से मुक्त बताया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार विश्वामित्र के वंशजों ने गोदावरी और कृष्णा के बीच के प्रदेशों में जाकर आर्येतर जातियों से विवाह किया। इन विवाहों के परिणाम-स्वरूप जिस जाति का उद्भव हुआ उसे 'आन्ध्र' की संज्ञा मिली। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में आन्ध्र जाति की राजनीतिक शक्ति काफी बढ़ी-चढ़ी थी। मेगास्थनीज ने उनकी प्रचण्ड सैन्य शक्ति का उल्लेख किया है।

सातवाहन वंश

अब प्रश्न यह उठता है कि आन्ध्रों और सातवाहनों में क्या पारस्परिक सम्बन्ध था? जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं सातवाहन नरेश अपने को कभी भी आन्ध्र जाति का नहीं बताते जब कि पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार उनके वंश का संस्थापक सिमुक या शिशुक या सिन्धुक 'आन्ध्रजातीय' था। सातवाहन अपने को ब्राह्मण कहते हैं किन्तु आन्ध्रों को प्राचीन ग्रन्थों में आर्य संस्कृति के प्रभाव से मुक्त कहा गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि आन्ध्र द्राविड़ मूल के थे। वास्तव में आन्ध्रों और सातवाहनों में कोई सम्बन्ध नहीं था। ये लोग आन्ध्र से सर्वथा भिन्न थे और महाराष्ट्र प्रदेश के निवासी थे। सातवाहनों ने अपनी शक्ति का विकास महाराष्ट्र प्रदेश से ही किया और आन्ध्र प्रदेश में अपना उपनिवेश स्थापित किया परन्तु कुछ समय के बाद शक-आभीरों के आक्रमणों के फलस्वरूप उनकी सत्ता केवल आन्ध्र-प्रदेश तक ही सीमित रह गई और पश्चिमी प्रान्तों पर उनका अधिकार नहीं रह गया। इस प्रकार आन्ध्र ही तक सीमित रह जाने के कारण सातवाहन लोग आन्ध्र कहलाए।

सातवाहन कुल का संस्थापक—पुराणों के अनुसार सिमुक या शिशुक अथवा सिन्धुक (६०-२३ ई० पू०) ने शुंगों और कण्वों की शक्ति का उन्मूलन करके आन्ध्र वंश की स्थापना की। यह सिमुक ही सातवाहन कुल का प्रथम नरेश था। शुंगों और कण्वों से सिमुक ने सम्भवतः विदिशा के निकट का प्रदेश हस्तगत किया था। उसका राज्य दक्षिणापथ में ही था। उसकी राजधानी प्रतिष्ठान अथवा पैठन थी जो उत्तरी महाराष्ट्र तट पर स्थित थी। सिमुक के शासन में हमें किसी [illegible] का पता नहीं लगता।

कृष्ण—शिमुख के उपरान्त उसका भाई कृष्ण अथवा कन्ह राज्य का अधिकारी हुआ। उसके शासन-काल मे सातवाहनों की साम्राज्य-सीमा के कुछ अधिक विस्तृत हो जाने का प्रमाण मिलता है। नासिक के एक शिलालेख से विदित होता है कि उसके समय मे वहाँ पर गुफा का निर्माण किया गया था। इससे यह सिद्ध होता है कि उसका अधिकार नासिक तक पहुँच चुका था। पुष्यमित्र शुङ्ग की भाँति उसने भी दो बार अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया और ब्राह्मण धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित की। ऐसा प्रतीत होता है कि शातकर्णि प्रथम राजकुमार था जिसने सातवाहनों को विन्ध्य-पार भारत के सर्वसत्ताधारी की स्थिति तक उठाया। इस प्रकार गोदावरी की घाटी में पहले महान् साम्राज्य का उत्थान हुआ जो विस्तार तथा शक्ति मे गगा की घाटी के शुङ्ग-साम्राज्य और पंचनद प्रदेश के यूनानी साम्राज्य की बराबरी करता था। इस शक्तिशाली नृपति को भी अपने एक समकालीन नरेश से लोहा लेना पड़ा। कलिङ्ग नरेश खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख से यह प्रमाण मिलता है कि शातकर्णि की शक्ति को कुछ भी न समझते हुए उसने अपने शासन के द्वितीय वर्ष मे मूसिक नगर पर आक्रमण कर दिया और सातवाहन नरेश से बैर ठान लिया। परन्तु इस बैर से सातवाहन को कुछ भी धक्का नहीं लगने पाया। खारवेल की शक्ति स्थायी नहीं होने पाई और शातकर्णि का गौरव पूर्ववत ही बना रहा, किन्तु शातकर्णि के बाद सातवाहन वश का इतिहास कुछ अन्धकारमय हो जाता है।

शातकर्णि—शिमुख का पुत्र शातकर्णि सातवाहन कुल का तृतीय नरेश था। यह एक महान् विजेता और अपने वश का प्रतापी राजा था। इसने मगध-राज्य के संस्थापक बिम्बिसार की भाँति सैन्य-विजय और वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा अपनी स्थिति सुदृढ़ करने की ओर ध्यान दिया।

शातकर्णि की मृत्यु के अनन्तर उसकी रानी नायनिका ने, जो अङ्गीयकुलीन महारथी भणकयिरो की दुहिता थी, राजकार्य सँभाला। उसके दो पुत्र शक्तिश्री और वेदश्री अभी अल्पवयस्क कुमार ही थे, अतएव उनकी सरक्षिका बनकर उसी ने शासन-सूत्र अपने हाथ मे ग्रहण किया।

गोतमीपुत्र शातकर्णि—गोतमी पुत्र शातकर्णि अपने वश का सबसे बड़ा प्रतापी और पराक्रमी राजा था। उसके राजनीतिक कार्यों का सबसे अधिक महत्व इस बात मे है कि उसने अपने वश के लुप्त गौरव की पुन. प्रतिष्ठापना की और विदेशी आक्रमणकारी शकों को अपनी मातृभूमि से निर्वासित कर दिया। उसने अनेक समकालीन राज्यों से लोहा लिया और उनको युद्ध मे पराजित किया। शक यवन-पहलव-खहरातों का नाश करके गौतमी पुत्र ने अपने वश की मान-मर्यादा को बढ़ाया।

गोतमी पुत्र केवल एक महान् विजेता ही न था वरन् एक गुणवान व्यक्ति भी था। उसका स्वभाव अत्यन्त मृदु और करुण था। सब की रक्षा करने को वह सदैव उद्यत रहता था। वह गुणियों का आश्रयदाता, सौभाग्य का वास-स्थान एव श्रेष्ठ व्यवहार का स्रोत था। इन गुणों के साथ ही साथ उसमें एक आदर्श शासक के सभी गुण

विद्यमान थे। अपने प्रजाजनों के सुख-दुख को वह अपने ही सुख-दुख के समान समझता था। वह अपनी प्रजा पर आवश्यकता से अधिक कर नहीं लगाता था और अपराधियों के साथ वह दयापूर्ण व्यवहार करता था।

वाशिष्ठी पुत्र श्री पुलमावी—गौतमी पुत्र शातकर्णि के पश्चात् उसका पुत्र श्री पुलुमावी १३० ई० सन् के लगभग सिंहासनारूढ़ हुआ। उसका शासन-काल लगभग पन्द्रह वर्षों तक रहा। पुलुमावी भी अपने पिता की भांति पराक्रमी और विजेता था। उसने अपने पूर्वज शातकर्णि प्रथम की।विवाह-सम्बन्ध द्वारा मैत्री स्थापित करने तथा सैन्य विजयों द्वारा अपनी स्थित सुदृढ़ करने की नीति का अनुसरण किया। वाशिष्ठी पुत्र श्री पुलुमावी लगभग १५५ ई० में मरा।

यज्ञश्री शातकर्णि—यज्ञश्री शातकर्णि अथवा श्रीयज्ञ शातकर्णि सातवाहन वंश का अन्तिम प्रतापी और शक्तिशाली नरेश था। उसका शासन-काल लगभग १६५ ई० से १९५ ई० तक रहा। यज्ञश्री शातकर्णि को अपने एक अति प्रतापी पूर्वज गोतमीपुत्र शातकर्णि की भांति अपने वंश के लुप्त गौरव को पुन: प्रतिष्ठापित करने का गौरव प्राप्त है। उसने अपनी साम्राज्य सीमा का विस्तार किया। उसके सिक्के गुजरात, काठियावाड़, पूर्वी मालवा, अपरान्त, (दक्षिण पठार का पश्चिमी भाग) मध्य-प्रान्त एवं कृष्णा जिले में प्राप्त हुये हैं। सिक्कों के इस विस्तृत प्रदेश में पाये जाने के कारण हमारा यह सोचना तर्कसंगत प्रतीत होता है कि यज्ञश्री शातकर्णि का राज्य काफी दूर तक फैला हुआ था और उसके राज्य में महाराष्ट्र और आन्ध्र दोनों सम्मिलित थे। यज्ञश्री शातकर्णि ने उन प्रदेशों पर भी अपना अधिकार जमाया था जिनको शकों ने कुछ ही दिनों पूर्व सातवाहनों से छीना था। उसके शासन-काल में व्यापार की भी काफी उन्नति हुई थी। उसके कुछ सिक्कों पर जलयानों के चित्र अंकित हैं जो यह सूचित करते हैं कि यज्ञश्री के समय में सामुद्रिक व्यापार काफी उन्नतिशील दशा में था।

सातवाहनों का पतन

यज्ञश्री शातकर्णि के उपरान्त सातवाहनों की राजनीतिक प्रभुता दिनों दिन क्षीण होती गई। उसके उत्तराधिकारियों में सभी निर्बल, अकर्मण्य तथा अयोग्य निकले। इस समय आवश्यकता थी किसी गौतमीपुत्र शातकर्णि की जो वंश के लुप्त गौरव को फिर से प्रतिष्ठित करता परन्तु सातवाहनों के दुर्भाग्य से यह न हो सका कि उत्तराधिकारियों में से कोई उसके या गौतमीपुत्र के समान पराक्रमी तथा योग्य नहीं हुआ। कुछ पुराणों के अनुसार यज्ञश्री के उत्तराधिकारी थे विजय (२०३-०६ ई०), चन्द्रश्री या चन्द्रश्री (२०६-१६ ई०)। ये दोनों केवल नाम के ही राजा थे। वास्तविक सत्ता उनके हाथों में केन्द्रित नहीं रह गई थी। किसी प्रकार से सातवाहनों की [illegible] शक्ति का प्रतिष्ठित करने [illegible] सन् २२५ ई० के लगभग सातवाहन [illegible], जो इस [illegible] कि इसके [illegible] हो चुका था, विदेशी [illegible] में [illegible] गया। [illegible] दिशाओं पर [illegible] नहीं [illegible] **गौरव** लुप्त हो गया।

सातवाहनों के समय में दक्षिण की सभ्यता और संस्कृति

सातवाहनो के शासन-काल में सभ्यता और संस्कृति की बहुत अधिक उन्नति हुई। नीचे विभिन्न तत्वों पर प्रकाश डाला जायगा।

सामाजिक जीवन—सातवाहन युग के दक्षिणी समाज की अवस्था का अध्ययन करने में हमे कतिपय विशेषताएँ स्पष्टतया दृष्टिगत होती है। प्रथम विशेषता है स्त्री का सम्मानपूर्ण स्थान। सातवाहन युगीन दक्षिण भारत के सामाजिक जीवन मे नारियों को एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था, आवश्यकता पड़ने पर वे शासन-सूत्र भी अपने हाथ में ग्रहण करती थीं। शातकर्णि प्रथम की पत्नी ने अपने पति की मृत्यु के बाद अपने पुत्रों के अल्पवयस्क होने के कारण स्वयं राज्य-सचालन का कार्य किया था।

आन्ध्रों के युग की सामाजिक अवस्था की विशेषता इस बात में भी थी कि यह सामाजिक जीवन व्यर्थ के नियन्त्रणों द्वारा बोझिल नहीं बना दिया गया था। सातवाहन नरेश ब्राह्मण थे और ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान के लिए सचेष्ट भी थे। वर्णाश्रम धर्म के प्रचार के लिए भी वे प्रयत्नशील थे।

चारों वर्णों के आधार पर समाज का विभाजन यहाँ के सामाजिक जीवन की विशेषता थी। सातवाहन राजाओं के उत्कीर्ण अभिलेखों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों का उल्लेख पाया जाता है। समाज की इकाई कुटुम्ब होती थी। इसके अध्यक्ष को कुटुम्बिन कहते थे। कुटुम्बिन का परिवार के अन्य सदस्य काफी सम्मान करते थे और उसकी आज्ञाओं को शिरोधार्य करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते थे।

धार्मिक अवस्था—सातवाहन युग के दक्षिणी भारत की धार्मिक विचारधारा अत्यन्त उदार और सहिष्णु थी। यद्यपि लगभग सभी सातवाहन नरेश ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे तथापि उन्होंने अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति किसी प्रकार का अत्याचार नहीं किया। उन्होंने बौद्ध धर्म को अपने राज्य में फलने-फूलने का पूरा अवसर प्रदान किया। उनके शासन-काल में बौद्ध धर्म का काफी अधिक प्रचार था और कला के क्षेत्र में बौद्धों ने अपना महत्वपूर्ण योग भी दिया।

सातवाहन-युग में ब्राह्मण धर्म का बहुत अधिक प्रचार था। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सम्भवत समस्त सातवाहन नरेश ब्राह्मण धर्म के कट्टर अनुयायी थे और इस धर्म के पुनरुत्थान के लिए उन्होंने अनेक प्रयत्न भी किये।

वैदिक कर्मकाण्ड-प्रधान ब्राह्मण धर्म के साथ शैव और वैष्णव धर्मों की भी बहुत अधिक उन्नति हुई। कदाचित यह सोचना असगत नहीं कि सातवाहन युगीन दक्षिण भारत में शैव और वैष्णव धर्मों का सबसे अधिक प्रचार था, क्योंकि ये ही धर्म लोक-रुचि के सबसे अधिक निकट थे। मेगास्थनीज ने वासुदेव कृष्ण की पूजा का उल्लेख किया है और शूरसेनियों में इसका सबसे अधिक प्रचलन बताया है।

सातवाहन युग की धार्मिक अवस्था की एक सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इस समय विदेशियों ने बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू धर्म ग्रहण किया। हम सामाजिक जीवन का अध्ययन करते समय यह देख चुके हैं कि विदेशी जातियाँ शक पल्लव [illegible] वेग से हिन्दुओं की सामाजिक रचना में प्रवेश पा रहे थे। यह इसलिए सम्भव हो सका कि उन्होंने हिन्दू धर्म ग्रहण कर लिया और तत्कालीन धर्माचार्यों ने उनके इस कार्य को स्वीकार भी कर लिया। शुङ्ग वंश के शासन काल में हमने एक यवन राजदूत को भागवत धर्म स्वीकार करते देखा था। इस समय विदेशियों के भारतीय धर्मों के स्वीकार कर लेने की यह परम्परा और आगे बढ़ी। विदेशियों ने भारतीय धर्म ग्रहण कर लेने पर अपने नाम भी तदनुकूल ही रख लिये।

आर्थिक व्यवस्था—सातवाहनों के सुदीर्घकालीन शासन में दक्षिण आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व समृद्ध था। लोगों का आर्थिक जीवन विभिन्न क्रिया-कलापों से युक्त होने के कारण अत्यन्त समृद्धिशाली था। कृषि, उद्योग-धन्धे और व्यापार ये तीन ही समाज की आर्थिक व्यवस्था के अङ्ग हैं और सातवाहन काल का दक्षिण इन तीनों दृष्टियों से सम्पन्न था। आर्थिक जीवन इस समय भी प्रमुखतया कृषि पर ही अवलम्बित था परन्तु उद्योग-धन्धों और व्यापार की भी बहुत उन्नति हुई। मुद्राओं का बहुलता से प्रचलन होना भी इस युग की आर्थिक समृद्धि को सूचित करता है। कई प्रकार के सिक्कों का प्रचार था। सबसे अधिक मूल्य के सिक्के को सुवर्ण कहा जाता था जिसका मूल्य चांदी के ३५ कार्षापणों के बराबर होता था। इसके बाद चांदी का एक दूसरा सिक्का होता था जिसे कुषाण कहते थे। कार्षापण चांदी और तांबे के सबसे छोटे सिक्के होते थे जिनको लोग साधारण व्यवहार में प्रयुक्त करते थे। ब्याज पर रुपये उधार लेने की प्रथा विद्यमान थी।

सातवाहन युग के दक्षिणी भारत में आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के व्यापार उन्नतिशील अवस्था में थे। व्यापार की सुविधा के लिए देश के विभिन्न भागों में राजमार्गों की समुचित व्यवस्था थी। अनेक सड़कें बनी हुई थीं जिनके द्वारा व्यापारियों के काफिले अपनी-अपनी सामग्रियों के साथ देश के एक भाग से दूसरे भाग तक पहुंचा करते थे। दक्षिण भारत में पैठन, तगर, नासिक, जुन्नार, [illegible] ([illegible]) आदि व्यापार के प्रसिद्ध केन्द्र थे। ये नगर राजमार्गों द्वारा एक दूसरे से मिले हुए थे। विदेशी व्यापार भी काफी समृद्ध अवस्था में था। पाश्चात्य जगत के साथ दक्षिण भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था।

कला और साहित्य—कलाओं के विकास [illegible] की दृष्टि से सातवाहन युग [illegible] था। [illegible] इस युग में [illegible]। [illegible] उन्नति हुई। [illegible] (बौद्ध) [illegible] विकास हुआ। [illegible] हुआ था। [illegible]

मन्दिर और भवन या भिक्षुओं के आवास के रूप में गुहाएं दो प्रकार की पाई जाती थीं। नासिक, कारले और भाजा में गुहा-विहार और गुहा-चैत्य के अत्यन्त सुन्दर भवनों का निर्माण सातवाहन युग में ही हुआ था। सातवाहन नरेश प्राकृत भाषा के परिपोषक और प्राकृत कवियों के आश्रयदाता थे। उनके सभी अभिलेख प्राकृत भाषा में उत्कीर्ण है। उनके शासन-काल में प्राकृत भाषा और साहित्य की बहुत अधिक उन्नति हुई। हाल नामक सातवाहन राजा स्वयम् प्राकृत का एक प्रसिद्ध कवि था। उसके प्रसिद्ध काव्य 'गाथा सप्तशती' का बहुत बड़ा महत्व है। उसी की राजसभा में गुणाढ्य नामक सुविख्यात लेखक रहता था जिसने 'बृहत्कथा' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। यह ग्रन्थ पैशाची प्राकृत में लिखा गया है और मनोरञ्जक तथा विचित्र कथाओं का विशाल भण्डार है। एलेन महोदय के कथनानुसार 'कातन्त्र' नामक व्याकरण-ग्रन्थ की रचना सर्ववर्मन ने इसी समय के लगभग की थी। इस युग में संस्कृत ग्रन्थों के प्रणयन का तो कोई सुस्पष्ट विवरण नहीं प्राप्त होता किन्तु इस काल की प्राकृत रचनाओं पर संस्कृत की छाप स्पष्टतया परिलक्षित होती है।

कलिंग राज खारवेल

प्राचीन भारत में कलिङ्ग का राज्य अत्यन्त समृद्ध था। इस राज्य की चम्पा तथा अन्य नगरियों की समृद्धि का वर्णन जातकों में मिलता है। कलिङ्ग राज्य में पुरी और गञ्जाम के जिले, कटक का कुछ भाग उत्तर और उत्तर पश्चिम के कुछ प्रदेश सम्मिलित थे। दक्षिण भारत के आधुनिक तेलगू भाषा-भाषी प्रान्त का कुछ भाग भी इसके अन्तर्गत था। नन्द सम्राटों का कलिङ्ग देश पर अधिकार था। कुछ इतिहासकारों की सम्मति में मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में भी कलिङ्ग का राज्य सम्मिलित था, किन्तु उसकी मृत्यु के अनन्तर कलिङ्गवासियों ने विद्रोह कर दिया और स्वतन्त्र हो गये। बिन्दुसार के समय में भी कलिङ्गवासी स्वतन्त्र रहे। सम्राट अशोक की कलिङ्ग-विजय का विवरण प्राचीन भारत के इतिहास की एक अत्यन्त चिरपरिचित घटनाओं में से है। कलिङ्ग देश के रहने वाले अपनी स्वतन्त्रता के दृढ़ अनुरागी थे, जिसके कारण महान् जनक्षति के बाद ही अशोक उनको अपने अधीन करने में सफल हो सका। अशोक की मृत्यु के अनन्तर ईसा की प्रथम शती पूर्व मगध साम्राज्य के जो शत्रु उठ खड़े हुए थे उनमें से कलिंग राज्य भी एक प्रबल शत्रु था। हाथीगुम्फा अभिलेख से हमें यह ज्ञात होता है कि जिस समय पश्चिम में शातकर्णि राज्य कर रहा था कलिंगाधिपति खारवेल ने उत्तरी भारत में अपनी सेना ले जाकर राजगृह के राजा को पददलित किया। यह खारवेल चेदिवंश के महामेघवाहन परिवार का था।

महाराज खारवेल प्राचीन भारत के अत्यन्त विख्यात सम्राटों में अपना स्थान रखता है। हाथीगुम्फा अभिलेख में, जो भुवनेश्वर (उड़ीसा) के निकट उदयगिरि पहाड़ी की एक गुफा में उत्कीर्ण है खारवेल के शासन-काल की घटनाओं का अत्यन्त सविस्तार वर्णन है। इस अभिलेख के वर्णन के अनुसार राजकुमार खारवेल ने अपने जीवन के प्रारम्भिक पन्द्रह वर्ष राजोचित शिक्षा प्राप्त करने में व्यतीत किए। उसने शासन से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन किया। सोलवें वर्ष में राजकुमार खारवेल 'युवराज' की

पदों से विभूषित किया गया। इसके उपरान्त आठ वर्ष उसने मुद्रा, गणना, 'व्यवहार विधि' (मीमांसा, तर्क आदि) तथा अन्य विद्याएँ सीखने में बिताए। अपनी आयु के चौबीस वर्ष समाप्त कर लेने के उपरान्त खारवेल कलिंग का महाराज हो गया। उसने 'कलिंगाधिपति' और 'कलिंग चक्रवर्तिन' की पदवियाँ धारण की। सम्भवतः उसने 'महाविजय' का भी विरुद ग्रहण किया।

अपने शासन के प्रथम वर्ष में महाराज खारवेल ने अपनी राजधानी के नष्ट वैभव को सवाँरने की ओर ध्यान दिया। उसने उन गोपुर द्वारों और प्राकारों की मरम्मत कराई जो काल के मुँह में पड़ कर टूट गये थे। उसने लोकहित की दृष्टि से कुछ नयी वस्तुओं का निर्माण कराया जिनमें शीतल जल से युक्त और सीढ़ियों से अलंकृत तड़ागों का स्थान प्रमुख था। दुर्गों की उसने अच्छी तरह से मरम्मत कराई। निर्माण के कार्यों में उसका प्रभूत धन व्यय हुआ और पैंतीस लाख मुद्राएँ व्यय करके महाराज खारवेल ने जनता के मनोरंजन और आमोद-प्रमोद की व्यवस्था की। अपने शासन-काल के द्वितीय वर्ष में उसने अपने सैन्य बल और प्रताप का परिचय दिया। आन्ध्र नरेश शातकर्णि की शक्ति को तुच्छ समझते हुए उसने अश्व, हाथी, रथ और पैदल सैनिकों की एक विशाल वाहिनी भेजकर कृष्णा पर स्थित मूषिक नगर को ध्वस्त किया। चौथे वर्ष में सम्भवतः खारवेल ने विद्याधर नामक राजकुमार की राजधानी पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और इसी वर्ष उसने राष्ट्रिक तथा भोजकों को जो कदाचित् बरार प्रदेश में रहते थे, पराजित करके उनका दमन किया। दक्षिण में महाराज खारवेल को जो सफलता प्राप्त हुई उससे उसका उत्साह अधिक बढ़ गया और उसने उत्तरी भारत पर भी अपना प्रभाव जमाने का निश्चय किया। इसी भावना से प्रेरित होकर उसने अपने शासन के आठवें वर्ष में गोरथगिरि को विध्वस्त किया। यह बराबर की पहाड़ियों में बना हुआ एक सुदृढ़ दुर्ग था जिसके पतन हो जाने से उसको आगे विजय प्राप्त करने में बड़ी सफलता प्राप्त हो गई। उसने राजगृह नगर पर धावा किया और वहाँ के निवासियों का उत्पीड़न किया। खारवेल के इन आक्रमणों के समाचार से एक यवन नरेश के हृदय में इतना [illegible] कर दिया कि वह भाग कर मथुरा चला गया। यह यवन राजा जिसका नाम [illegible] के दिमित अथवा दिमत्र (डिमेट्रियस) कहा जाता [illegible] इन्डो-ग्रीक शासक था। [illegible] वर्ष में [illegible] भारत [illegible] आक्रमण करके खारवेल ने [illegible] किया। [illegible] शब्द का जो प्रयोग किया गया है [illegible] उत्तरी भारत से है। [illegible] वर्ष में उसने पिथुण्ड नगर को [illegible] किया और उसके [illegible] किया। [illegible] उसने [illegible] शत्रुओं के [illegible] लूटकर [illegible] किया। [illegible] ने अपने जीवन के आठवें [illegible] को [illegible] कर दिया [illegible]

प्रचन्ड रण-शक्ति से भयभीत हो चुके थे। अतएव बृहसतिमित्र ने जिसे राजगृह का स्वामी कहा गया है सन्धि की प्रार्थना की। सन्धि की इस प्रार्थना को स्वीकार करके महाराज खारवेल ने बृहसति मित्र से अपनी पादवन्दना कराई। उत्तरापथ की सैन्य सफलताओं के वर्णन मे हाथीगुम्फा अभिलेख का प्रशस्तिकार कहता है कि खारवेल ने अपनी सेना के हाथी-घोड़ो को गगा मे नहला कर मागधजनो मे विपुल भय उत्पन्न कर दिया। इसी समय वह कलिङ्ग देश की जिन मूर्ति को अपने साथ ले आया जिसे नन्द राजा मगध ले गए थे। मगध के राजा को युद्ध मे पराजित करके महाप्रतापी खारवेल ने नन्दो और मौर्यों के समय में किये गये कलिङ्ग के राष्ट्रीय अपमान का प्रतीकार किया। उसने इस बार मगधवासियों की बहुत सी सम्पत्ति भी लूटी। इसी वर्ष उसने दक्षिण के पाण्ड्य नरेश पर भी आक्रमण किया और मुक्ता-मणि, रत्न की अनन्त राशि प्राप्त की। सैन्य-विजयो के उपरान्त अपने शासन के तेरहवे वर्ष मे कलिङ्ग नरेश खारवेल ने एक धार्मिक कार्य किया। वह स्वय जैन धर्म का अनुयायी था, अतएव उसने कुमारी पर्वत (उदय गिरी खन्ड गिरि) मे जन साधुओ के वर्षावास तथा अन्य सुकृतों के लिए पन्द्रह लाख से भी अधिक गुहाये बनवाई।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ आन्ध्र-सातवाहन वश के विषय मे आप क्या जानते है? उनका प्राचीन इतिहास लिखिए।

२ सातवाहन वश के कुछ प्रमुख शासको का सक्षिप्त इतिहास लिखिए।

३ सातवाहन कालीन दक्षिण भारत की सभ्यता एव सस्कृति का निरूपण कीजिए।

४ कलिग राज्य खारवेल पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

अध्याय १६

भारत पर विदेशी जातियों का शासन

इण्डो-ग्रीक (यवन जाति)

मौर्यों के सुव्यवस्थित शासन ने भारतवर्ष के एक बहुत बड़े भूभाग को राजनीतिक एकता, शान्ति तथा सुव्यवस्था प्रदान की थी। प्रथम मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में सिल्यूकस नाइकेटर ने भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर आक्रमण किया था और सिकन्दर की महत्वाकांक्षा से उत्साहित होकर वह स्वयं भी भारत पर स्थायी यूनानी शासन की स्थापना करना चाहता था। परन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य की विशाल सेना ने यूनानी सेनानायक की महत्वाकांक्षा को धूल में मिला दिया और उसे एक अपमानजनक सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ा। इसके पश्चात् भारतीय सीमा के उस पार कुछ ही दूर रहने वाले यूनानी शासकों को इस बात की हिम्मत नहीं हुई कि वे भारत की हिरण्यगर्भा वसुन्धरा को लूटें और यहाँ के निवासियों को उत्पीड़ित या सन्त्रस्त करें क्योंकि उनके ऊपर मौर्यकालीन भारत की प्रचण्ड रणशक्ति और अतुलित सैन्य बल का सिक्का खूब अच्छी तरह जम चुका था। चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद उसके पुत्र बिन्दुसार के साथ यवन राज्यों का मैत्री सम्बन्ध था। अशोक ने मैत्री की इस परम्परा को न केवल अक्षुण्ण ही रक्खा अपितु इसे सुदृढ़ भी बनाया। उसने अपने धर्म प्रचारकों को सीरिया, मिस्र, साइरीन, मकदूनिया तथा एपिरस के यवन राज्यों में भेजा। इन राज्यों ने इस महान् भारतीय सम्राट् की धर्मसाधिनी नीति को शिरसा स्वीकार किया। किन्तु ज्यों ही अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य की शक्ति शिथिल पड़ने लगा, यवन राज्यों के दृष्टिकोण में परिवर्तन उपस्थित हो गया। देश की अशान्तिपूर्ण अवस्था और एक सुदृढ़ शासन के अभावजनित व्यापक अराजकता से लोग लाभ उठाने की सोचने लगे।

बैक्ट्रिया के यूनानी—सिकन्दर महान् के सेनानायक सिल्यूकस ने एक विशाल राज्य को अपने अधीन रक्खा था; परन्तु उसके राज्य में विभिन्न जातियाँ रहती थीं, जिनमें परस्पर कोई मूल भूत सांस्कृतिक अथवा राष्ट्रीय एकता विद्यमान न थी। ये जातियाँ शक्ति के जोर से दबा रक्खी गई थीं। प्रारम्भ में जब तक सिल्यूकस के पुत्र-पौत्रों में बल था वे सुव्यवस्थित ढंग से शासन को संभाल सके परन्तु थोड़ा बाद में यूनानी शासकों की शक्ति शिथिल होने लगी कि ये जातियाँ स्वतन्त्रता की उद्घोषणा करने का अवसर ढूँढने लगीं। अन्त में [illegible] यूनानी [illegible] के दो बड़े सूबे और [illegible] प्रान्त पार्थिया और बैक्ट्रिया [illegible] हो गए और वे स्वतन्त्र हो गये।

डियोडोटस प्रथम और डियोडोटस द्वितीय—डियोडोटस प्रथम पहले कुछ दिनों तक सिल्यूकस के वंशजों की ओर से गवर्नर के रूप में बैक्ट्रिया पर शासन

किया था,। परन्तु बाद मे उसने एक स्वतन्त्र नरेश के रूप मे शासन कर एक नवीन राजवंश की नींव डाली। वह एक शक्तिशाली राजा था और उसके पड़ोसी उससे काफी भयभीत रहते थे। उसका शासन-काल सम्भवत २४५ ई० पूर्व से लेकर २१० ई० पू० था। उसका अन्त एक सामरिक पर्यटक युथिडेमस (Euthy-domus) द्वारा हुआ।

युथिडेमस—युथिडेमस ने डियोडोटस द्वितीय की हत्या करके राज-सिंहासन हस्तगत अवश्य कर लिया था परन्तु शान्ति और सुख से राज्य करना कभी उसके भाग्य मे नहीं था। उसके सिंहासनारूढ होते ही सिल्यूकस के राज वंश के सीरियक सम्राट एन्टिओकस तृतीय (लगभग २२३-१८५ ई० पू०) ने अपने राज्य के विद्रोही प्रान्तों को, जिनमे अब स्वतन्त्र राजवंश स्थापित हो चुके थे फिर से अपने अधिकार में करने की प्राणपण से चेष्टा की। २०८ ई० पू० के लगभग एन्टिओकस तृतीय ने बैक्ट्रिया पर आक्रमण कर दिया परन्तु दो वर्षों के घोर संग्राम के बाद भी उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। अन्त मे विवश होकर उसने युथिडेमस के साथ सन्धि करके बैक्ट्रिया की स्वतन्त्र राजसत्ता स्वीकार कर ली। इस सन्धि के प्रमाण स्वरूप उसने अपनी कन्या का विवाह युथिडेमस के पुत्र डेमिट्रियस (Demetrius) के साथ कर दिया।

मुद्रा-सम्बन्धी साक्ष्यों से विदित होता है कि युथिडेमस ने एक विस्तृत राज्य-सीमा पर काफी अधिक समय तक राज्य किया। उसके चाँदी के सिक्के बल्ख (बेक्ट्रिया) और बुखारा मे बहुत बड़ी संख्या मे पाये गये है। विद्वानों का विचार है कि अपने शासन-काल के अन्तिम दिनो मे सम्भवत १८७ ई० पू० के बाद, जब कि एन्टिओकस अपने पश्चिमी राज्यों के मामले मे बुरी तरह से व्यस्त हो गया था युथिडेमस ने दक्षिण म अफगानिस्तान के निम्न प्रदेश तक अपने राज्य की सीमायें बढ़ा लीं। ईरान से लगे हुए प्रदेश और उत्तरा पश्चिमी भारत के कुछ भागो पर भी उसने अपना अधिकार जमा लिया।

डेमिट्रियस—डेमिट्रियस का उल्लेख भारतीय प्रदेशों के विजेता के रूप मे यूनानी लेखकों ने किया है। 'युगपुराण' मे यवनो के सम्बन्ध मे लिखा है कि वे साकेत (अयोध्या के निकट जो वर्तमान फैजाबाद जिले मे है,) पाञ्चाल (कुछ अंशों तक वर्तमान रुहेलखण्ड कहा जा सकता है) और मथुरा को आक्रान्त कर कुसुमध्वज पहुंचेगे। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य मे "अरुणद् यवन साकेतम", "अरुणद् यवन माध्यमिकाम" द्वारा जिस आपत्ति का संकेत किया है वह डेमेट्रियस के नेतृत्व मे यही आक्रमण था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसके आगे डेमेट्रियस बढ़ नहीं सका और उसे लौट आना पड़ा। डेमेट्रियस के आगे न बढ़ने का यह कारण था कि जब वह अपनी भारतीय विजया में संलग्न था तो यूक्रेटाइड्ज Eucratides नामक एक पराक्रमी व्यक्ति ने जनक्रान्ति का झण्डा ऊँचा किया, जिससे घबड़ाकर डेमेट्रियस को इस क्रान्ति के दमन के लिए बैक्ट्रिया लौट जाना पड़ा। परन्तु वहाँ पर भी उसे सफलता न प्राप्त हो सकी। यही कारण था कि अपनी भारतीय विजया मे भी डेमे-

डियस का पंजाब तक की विजय से ही सन्तुष्ट होना पड़ा। पुष्यमित्र शुङ्ग के प्रबल प्रतिरोध ने भी यवनों के दाँत खट्टे कर दिये। ब्राह्मण सेना नायक की बल-वद्विरोधिता के फलस्वरूप यूनानियों को मध्य देश तथा पंजाब के कुछ भागों से हाथ धोने पड़े।

यूक्रेटाइड्ज—ऊपर हम कह चुके हैं कि यूक्रेटाइड्ज ने जन-विद्रोह का सफल संचालन करके बैक्ट्रिया का राजसिंहासन हस्तगत कर लिया। वह सिल्यूकस के राजवंश की शाखा का था। उसने बैक्ट्रिया के यूक्रेटाइड्ज नामक नगर का निर्माण कराया था। यूक्रेटाइड्ज केवल बैक्ट्रिया से ही सन्तुष्ट नहीं रहा। उसने हिंदूकुश की उत्तुंग चोटियों का अतिक्रमण करके भारत के यूनानी राज्यों पर आक्रमण कर दिया। जस्टिन नामक यूनानी लेखक के कथनानुसार 'उसने भारत को जीता और वह हजार नगरों का स्वामी बन गया।' उसकी विजयों के फलस्वरूप यूनानी भारत दो भागों में विभाजित हो गया—(१) पूर्वी भाग जिसके ऊपर युथिडेमस के वंशजों का राज्य था। इस वंश की राजधानी शाकल (स्यालकोट) थी। (२) पश्चिमी भाग की राजधानी तक्षशिला थी। इस भाग पर यूक्रेटाइड्ज के वंशजों का अधिकार था। इन दोनों वंशजों को मिला कर लगभग चालीस राजाओं ने शासन किया। उनके विषय में मुद्रा-शास्त्र द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है।

हेलियोक्लीज—हेलियोक्लीज अपने वंश का एक प्रतापी राजा था। उसने भारत और बैक्ट्रिया के यूनानी राज्यों पर अपना अधिकार जमाये रक्खा। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि हेलियोक्लीज बैक्ट्रिया का अन्तिम शासक था, क्योंकि उसके बाद ही शकों ने मध्य एशिया पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। परन्तु बैक्ट्रिया का राज्य छिन जाने पर भी इस वंश का समूलोन्मूलन न हो सका। इस वंश के कुछ राजे काबुल और भारत के सीमान्तवर्ती प्रदेश पर बाद में भी कुछ समय तक राज्य करते रहे परन्तु इन राजाओं के विषय में हमें कुछ विशेष बातें मालूम नहीं हैं।

मिनेन्डर—भारत के यूनानी शासकों में केवल मिनेन्डर ही ऐसा राजा है जिसकी स्मृति भारत की साहित्यिक अनुश्रुति द्वारा सुरक्षित है। अन्य इण्डो-ग्रीक राजाओं के विषय में हमें जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त होता है वह लगभग सम्पूर्ण अंशों में मुद्राओं द्वारा ही उपलब्ध होता है। मिनेन्डर ने बौद्ध धर्म में जो अभिरुचि दिखाई उसका परिणाम उसके यशःकाय की दृष्टि से हितकर ही हुआ। अपनी धर्मानुरागिता और दार्शनिक जिज्ञासा वृत्ति के कारण वह भारतीय इतिहास में अमर हो गया है। 'मिलिन्द पन्हो' नामक बौद्ध ग्रन्थ में मिलिन्द नामक जिस यूनानी नरेश का उल्लेख किया गया है वह निश्चय रूप से मिनेन्डर था। इस ग्रन्थ में वह एक महान विद्वान, तर्कशील जिज्ञासु व्यक्ति तथा बौद्ध धर्म के संरक्षक के रूप में चित्रित किया गया है। वह प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु नागसेन से बौद्ध धर्म के विषय में दार्शनिक प्रश्न करता था। क्षेमेन्द्र के 'अवदानकल्पलता' ग्रन्थ में भी मिनेन्डर का उल्लेख किया गया है और उसका शुद्ध संस्कृत नाम 'मिलिन्द' दिया गया है। बौद्ध साहित्य में उसकी वैसी ही प्रतिष्ठा है जैसी उपनिषदों में विदेहराज जनक की। उसकी राजधानी शाकल थी

जिसका वर्णन 'मिलिन्द पन्हो' में एक महान व्यापारिक केन्द्र के रूप मे हुआ है, जो रमणीय भूखण्ड मे बसा हुआ था और जिसकी शोभा आराम-उद्यान-उपवन-तडाग-पुष्करिणी से युक्त होने के कारण वन, पर्वत और नदी के स्वर्ग के समान हो रही थी। इस ग्रन्थ में मिनेन्डर के लिए कहा गया है कि उसने अपना राज्य अपने पुत्र को सौंप कर ससार से सन्यास ले लिया और न केवल एक बौद्ध भिक्षु बल्कि अर्हत हो गया।

स्ट्रेबो ने मिनेन्डर का उल्लेख डेमिट्रियस के साथ किया है और उसे भारतीय विजयो का गौरव भी प्रदान किया है। उसने यह भी लिखा है कि "मिनेन्डर ने सिकन्दर से भी अधिक देश जीते और वह हारफेनिज (व्यास नदी) को पार करके आइसेमस नदी तक पहुँच गया। मिनेन्डर के सिक्के काबुल से लेकर मथुरा और बुन्देलखड तक पाये जाते है। मुद्रा-सम्बन्धी प्रमाणो के आधार पर यह कह सकना अनुचित नहीं कि मिनेन्डर का राज्य मथुरा तक फैला हुआ था।"

टार्न के अनुसार मिनेन्डर की मृत्यु १५०-१४५ ई० पू० के लगभग हुई। उसकी मृत्यु के बाद उसका राज्य काफी दुर्बल और शक्तिहीन हो गया। उसके उत्तराधिकारियो के सिक्के प्राप्त हुए हैं जिन पर स्ट्रेबो द्वितीय के नाम खुदे हुये है। परन्तु उनके सम्बन्ध में हमें अन्य किसी महत्वपूर्ण बात का पता नही लगता। मिनेन्डर के उत्तराधिकारियो का नाश शकों द्वारा हुआ। इस प्रकार युथिडेमस के कुल की राजसत्ता का भी भारत भूमि से नाम-निशान मिट गया।

यूनान का भारत पर प्रभाव

यूनान का भारत पर प्रभाव पड़ा या नहीं यह एक विवाद का विषय है। पाश्चात्य विद्वानो का कथन है कि भारतीय सभ्यता एव सस्कृति के उत्थान की दीवाल यूनानी नींव पर ही खड़ी है पर यह यथार्थ नहीं है। दूसरे विद्वान इस पक्ष मे है कि भारत पर कोई यूनानी प्रभाव न पड़ा और गान्धार शैली तथा मुद्राओ को छोड़कर कोई यूनानी अस्तित्व भारत में न टिक सका।

जैसा की हमने पिछले पृष्ठो मे पढा है, सिकन्दर के आक्रमण का भारत पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पडा। मेगास्थनीज ने तो साफ-साफ लिख दिया है कि भारतीय सभ्यता और सस्कृति यूनानी सभ्यता से तनिक भी प्रभावित नहीं हुई। सिकन्दर भारत में केवल १९ माह ही रहा और सेल्यूकस सिन्धु तट से वापस चला गया। यदि कोई प्रभाव आक्रमण का पड़ा भी तो सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् समाप्त हो गया। हाँ, सिकन्दर ने विदेशो से भारत का सम्बन्ध स्थापित करने का मार्ग अवश्य खोल दिया जिसे भुलाया नहीं जा सकता।

सिकन्दर के आक्रमण के बाद भारत के पश्चिम-उत्तर भाग मे लगभग २० वर्ष तक डेमेट्रियस और उसके उत्तराधिकारी जमे रहे। उस काल में दोनो सभ्यताएँ परस्पर मिल गई पर यह नहीं कहा जा सकता कि किस सभ्यता का प्रभाव अधिक रहा। कुषाण वशीय राजाओ के अभिलेखों से यही ज्ञात होता है कि यूनानियो मे हिन्दू धर्म स्वीकार करने की मनोवृत्ति थी फिर भी विभिन्न क्षेत्रों में जो आदान-प्रदान हुए थे वे इस प्रकार हैं—

ज्योतिष के क्षेत्र में—यूनानी ज्योतिष का कुछ-कुछ प्रभाव भारतीय ज्योतिष पर दिखाई पड़ता है। भारतीय ज्योतिषाचार्यों ने यूनानी ज्योतिष से कुछ बातें अवश्य सीखीं पर साथ ही उन्होंने उन सिद्धान्तों को बिल्कुल अपने साँचे में ढालने की कोशिश की और वे अपने प्रयास में सफल भी हुए। भारतीयों ने कुछ यूनानी सिद्धान्तों को तो ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया। जैसे राशिचक्र, ज्योतिष के 'रोमक' और 'पोलिश' सिद्धान्त देखकर यह कहना पड़ता है कि भारतीय ज्योतिष पर निश्चय ही यूनानी ज्योतिष का प्रभाव है। वराहमिहिर नामक प्रसिद्ध भारतीय विद्वान ने कहा है कि 'यवन लोग म्लेच्छ हैं, किन्तु ज्योतिष शास्त्र के पण्डित होने के कारण ऋषियों की भाँति पूजनीय हैं।' हमारे देश के विद्वान दूसरे विद्वानों से ईर्ष्या नहीं करते थे, इसलिए उन्होंने उनके ज्ञान से लाभ उठाने में सफलता प्राप्त की। हमने यूनानियों से जो कुछ सीखा उस ज्ञान में काफी उन्नति करके कुछ ही समय पश्चात् अरब वालों को सिखाया। जिनसे योरप वालों ने सीखा।

मुद्रा-निर्माण के क्षेत्र में—यूनानियों के भारत में आने के पूर्व यहाँ सुन्दर मुद्राएँ नहीं बनाई जाती थीं, किन्तु हम लोगों ने उनसे मुद्रा बनाने की कला सीखी और सुन्दर तथा सुडौल सिक्के बनाने लगे। सिक्कों पर नाम उत्कीर्ण करवाने की प्रथा भी यूनानी लोगों से ही अपनाई गई। गुप्तकाल में हमारे देश की सबसे सुन्दर मुद्राएँ बनाई गई थीं क्योंकि इस समय तक भारतवासियों ने यूनानियों से मुद्रा-निर्माण करने की कला सीख ली थी। हाँ इन गुप्त सिक्कों में एक बड़ी विशेषता भी है जो यूनानी सिक्कों में नहीं है, वह यह कि इन मुद्राओं पर कविताओं में लेख खुदे हैं। यह बात बिल्कुल भारतीय है और यह यूनानियों की देन नहीं है।

मूर्ति-निर्माण-कला के क्षेत्र में—पीछे यह बताया गया था कि सिकन्दर के आक्रमण के बहुत समय बाद हमारे देश के पश्चिमोत्तर भाग में बसे हुए यूनानियों के प्रभाव से यहाँ एक विशेष प्रकार की कला का उदय हुआ। इसे गान्धार कला कहते हैं। गान्धार प्रदेश में इसका जन्म होने के कारण ही इसका यह नाम पड़ा है। गान्धार में बुद्ध भगवान् की जो मूर्तियाँ बनाई गई थीं उन पर यूनानी प्रभाव है। यहाँ यह भी जान लेना जरूरी है कि गान्धार-कला का प्रचार सम्पूर्ण भारत में नहीं हो सका और बहुत शीघ्र गुप्तकालीन कला का रंग छा गया।

साहित्य के क्षेत्र में—वेबर के विद्वान लोग यह भी कहते हैं कि यूनानियों के साहित्य ने भी हमारे साहित्य को प्रभावित किया था। उनका यह विश्वास है कि यूनान के महाकवि होमर के ग्रन्थ 'इलियड' और 'ओडेसी' का प्रभाव हमारे 'महाभारत' और 'रामायण' पर है। यह मत बिल्कुल ही गलत है। हमारे ये दोनों ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से लिखे गए थे और इन पर किसी प्रकार का यूनानी प्रभाव नहीं है। होमर के दोनों महाकाव्यों की रचना के [illegible] के हमारे दोनों [illegible] मौलिक रूप में [illegible] हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यूनानियों से हमने बहुत कुछ सीखा [illegible] उनको अपने साँचे में ढालने में भी हमने कोई [illegible] नहीं की।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१- मिनेंडर कौन था ? उसके भारतीय आक्रमण पर प्रकाश डालिए।

२. प्रथम शताब्दी ई० मे भारत पर विदेशी आक्रमणों का संक्षिप्त विवरण दीजिए। इसका भारत पर क्या प्रभाव पड़ा ?

३. क्या हमने प्राचीन काल मे यवन सभ्यता से कुछ आदान-प्रदान किया था ?

अध्याय २०

शकों का आक्रमण और भारत में शक-पह्लव

भारतीय साहित्य में जिन विदेशी जातियों का उल्लेख आता है उनमें सबसे प्रथम स्थान 'शक' जाति को प्राप्त था। उसके बाद 'यवन' और पह्लव जातियां आती थीं। संस्कृत साहित्य में अनेक स्थानों पर 'शक, यवन, पह्लव' शब्द का प्रयोग मिलता है जिससे विदेशी जातियों का ही बोध होता था। भारत में जितने भी विदेशी कबीले आये और यहां बस गये उन सबको परवर्ती युग में 'व्रात्य' क्षत्रिय कहा जाने लगा। परन्तु यह वास्तव में उनको हिन्दू धर्म में मिलने के प्रयत्न का प्रतिफल ही था। ये सभी जातियाँ विदेशी थीं और इनके लिए साधारणतया 'म्लेच्छ' शब्द का प्रयोग किया जाता था। इन जातियों में सबसे प्रथम यूनानियों ने ही भारत में प्रवेश किया जिनके विषय में हम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं। जिन विदेशी विजेताओं ने उत्तर-पश्चिमी भारत से यूनानी सत्ता का उन्मूलन किया वे थीं शक, पह्लव या पार्थियन और यू ची अथवा कुषाण। ये लोग मूल रूप में मध्य एशिया की घुमक्कड़ जातियों में से किसी एक शाखा से सम्बन्ध रखते थे। अपने पड़ोसी कबीलों के आक्रमणों से भयभीत होकर और अपनी स्वाभाविक संक्रमणशीलता के कारण शकों ने विभिन्न स्थानों में अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये थे। लगभग १७५-१६५ ई०पू० हिंग नु (Hiung-nu) हूण लोगों ने युइ ची के महान और शक्तिशाली कबीले को पश्चिमी चीन से निकाल बाहर कर दिया। युइ ची लोगों को टोचेरियन (Tocharians) और तुरुष्क भी कहा जाता है। हूणों द्वारा पश्चिमी चीन से निकाल दिये जाने पर ये लोग पश्चिम दिशा की ओर बढ़े वहां पर उनकी मुठभेड़ एक अन्य घुमक्कड़ जाति से हुई। इस जाति का नाम से (Sse) या शक था जो सर दरिया (Jaxartes or Syr Darya) के तटों पर रहते थे। यह मुठभेड़ सम्भवतः शकों के आदि देश में हुई थी यहां पर यू ची जाति से पराजित होने पर उनको दक्षिण की ओर हट जाना पड़ा। वहां पर से निकाले जाने पर उनको भारत के सीमावर्ती प्रदेशों में शरण लेनी पड़ी। कुछ दिनों बाद [illegible] यू ची लोगों को वुसुन नामक एक अन्य जाति द्वारा पराजित होना पड़ा और जो भू भाग इन्होंने शकों से छीन लिया था, उसे छोड़ देना पड़ा। ये आक्सस (Oxus) की घाटी में बस गये और वहां से दक्षिण में बैक्ट्रिया पर अधिकार करने लगे। यू ची लोगों द्वारा स्थान से निकाले जाने पर शकों ने अपना [illegible] का [illegible] करना आरम्भ कर दिया और वे पार्थिया के [illegible] पर आक्रमण करने लगे। [illegible] (Arachosia) और उत्तरी [illegible] (North Gedrosia) [illegible] [illegible]

की ब्राहुई पर्वत-श्रेणियों और बोलन के दर्रों से होकर प्रविष्ट हुए। बेक्ट्रिया के यवन राजाओं की शक्ति अत्यन्त क्षीण हो चली थी जिससे वे इन बर्बर आक्रान्ताओं के सामने ठहर नहीं सके। आगे बढ़ कर शक लोग एरियाना (पश्चिमी और दक्षिणी अफगानिस्तान) तथा पूर्वी ईरान में बस गये। दक्षिण पश्चिम की ओर मुड़ने पर शकों ने पार्थवों से लोहा लिया जिनका वक्षु (Oxus) नद के पार राज्य था। पार्थवों का राज्य शकों के प्रसार को रोक नहीं सका। फ्रात द्वितीय नामक पार्थव नरेश उनको रोकने के प्रयास में मारा गया। पाँच वर्ष बाद आर्तबानुस प्रथम को भी अपने प्राण इसी कार्य में खोने पड़े। परन्तु जब शकों के प्रतापी पार्थव नृपति मिथ्रादात द्वितीय (१२३-८८ ई० पू०) से लोहा लेना पड़ा तो उनका न केवल प्रसार ही रुक गया वरन इस शूर शासक ने उनको दक्षिण-पश्चिम की ओर खदेड़ कर हेलमण्ड घाटी की तलहटी में कर दिया। बाद में इसी स्थान का नाम शक स्थान पड़ गया। यहीं से शक लोग आर्केशिया (कन्दहार) तथा बलूचिस्तान से होकर भारत पहुँचे और सिन्ध नदी के निचले काँठे सिन्ध में बस गये। यह स्थान शकों के निवास के लिए पर्याप्त सुविधाजनक था, अतएव यहाँ रहकर भारत के विभिन्न भागों में उन्होंने अपने राज्य और उपनिवेश स्थापित किये। शकों ने पाँच विभिन्न राजकुलों की स्थापना की। ये राजकुल इस प्रकार थे—(१) सिन्ध और पश्चिमी पंजाब का शक-कुल, (२) उत्तर-पश्चिम के क्षत्रप, (३) मथुरा के क्षत्रप, (४) महाराष्ट्र का क्षहरात कुल और (५) उज्जैन के क्षत्रप।

पह्लवों का शासन-काल

पह्लव राजकुल का प्रथम व्यक्ति वोनोनिज था। उसने अपनी सत्ता एराकोशिया और सीस्तान में स्थापित की। रैप्सन का मत है कि वह पूर्वी ईरान पर शासन करता था। उसके सिक्कों से पता चलता है कि उसने 'महरजस रजरजस महतस' अर्थात् महाराजाधिराज का विरुद धारण किया। उसके सिक्कों पर उसके भाई स्पलिराइसिस (Spalirises) और स्पलहोरिस (Spalahores) तथा उनके भतीजे स्पलगदमिस (Spalgadames) के नाम भी खुदे हुए हैं जिससे यह प्रकट होता है कि वेनोनीज को शासन-कार्य में इनसे सहायता प्राप्त होती थी। सम्भवत ये विजित प्रान्तों के उसके प्रतिनिधि शासक थे। वोनोनीज ने जो सिक्के चलवाये उन पर यूक्रैटाइड्ज तथा उसके वंशजों द्वारा चलवाये गए सिक्कों की स्पष्ट छाप है।

वोनोनीज का उत्तराधिकारी स्पलराइसिस था। उसने भी सम्भवत. अपने नाम के सिक्के चलवाये। उसके सिक्कों से ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि वह पश्चिमोत्तर भारत के शक-वंशीय शासक एजेस का सम्राट था। कुछ सिक्कों पर सामने की ओर स्पलिराइसिस का नाम खुदा है और खरोष्टी लिपि में पीछे की ओर एजेस का। यदि एजेस स्पलिराइसिस का प्रतिनिधि शासक था, जैसा कि वह था, तो यह अच्छी तरह से प्रकट हो जाता है कि पह्लवों की राजसत्ता वास्तविक अर्थों में इस समय तक तक्षशिला तक फैल चुकी थी।

इण्डो-पार्थियन नरेशों में सबसे प्रसिद्ध और प्रतापी राजा गोन्डोफरनिस था। गोन्डोफरनिस ने शनै-शनै अपनी शक्ति को बढ़ाया और सम्राट बन गया। सम्भवतः

उसने पार्थियन साम्राज्य के कतिपय प्रदेशों को भी विजित किया। गोन्डोफरनिस ने अपने बाहुबल से जिस साम्राज्य का निर्माण किया वह काफी विशाल था परन्तु उसके पश्चात् यह छिन्न-भिन्न होने लगा। पता चलता है कि फकोरोज पश्चिमोत्तर पंजाब में और सेनेवेरीज सीस्तान में शासन कर रहा था। ये दोनों संभवतः गोन्डोफरनिस के उत्तराधिकारी थे। इनके राज्यकाल में पह्लव वंश की शक्ति काफी घट गई और कुषाणों ने भारत में पार्थियन राजसत्ता का मूलोच्छेदन कर दिया।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. शक कौन थे ? भारतीय इतिहास में उनका क्या स्थान है ?
२. पह्लवों के विषय में आप क्या जानते हैं ?

अध्याय २१

कुषाण काल

शक, पह्लव और यवन जातियों की तरह कुषाण लोग भी एक विदेशी जाति के थे। भारत की विदेशी आक्रान्ता जातियों में सबसे अधिक प्रभावशालिनी कुषाण जाति थी। इस जाति ने देश की राजनीति पर अपना प्रभाव छोड़ा। कला के विकास तथा धार्मिक जीवन में भी इसका काफी महत्वपूर्ण योगदान था। कुषाणों के मूल और प्राचीन इतिहास का विवरण हमें चीनी ग्रन्थों से प्राप्त होता है। चीनी इतिहासकारों के अनुसार कुषाण लोग यू-ची जाति की शाखा के थे। मूलतः यू-ची लोग उत्तरी-पश्चिमी चीन के कानूस नामक प्रान्त में निवास करते थे। शकों के विषय में पढ़ते हुए हम यह जान चुके हैं कि १७५-१६५ ई० पू० के लगभग ह्यंग नू लोगों ने यू-ची के महान् और शक्तिशाली कबीले को पश्चिमी चीन से निकाल बाहर कर दिया। ह्यंग-नू जाति के द्वारा पराजित और पश्चिमी चीन से निर्वासित कर दिये जाने पर ये लोग पश्चिम की ओर बढ़े जहाँ पर एक अन्य खानाबदोश जाति से उनकी मुठभेड़ हुई। यह जाति थी स्से (Sse) अथवा शक जो सरदरिया (Jaxartes or Syr Darya) के तटों पर रहती थी। पश्चिम की ओर आगे बढ़ने के पहले यू-ची लोगों की इली नदी की घाटी में निवास करने वाली एक जाति से मुठभेड़ हुई थी। इस जाति का नाम वू-सुन था। इस मुठभेड़ में वू-सुन जाति के सरदार को समरभूमि में अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े और यू-ची लोगों की जीत हुई। वू-सुन जाति को पराजित और उनके सरदार का वध करने के उपरान्त यू-ची जाति के लोग एक उपयुक्त निवास-स्थान की खोज में पश्चिम दिशा की ओर बढ़े। इसी समय यह जाति दो शाखाओं में विभक्त हो गई। इस जाति के कुछ लोग दक्षिण दिशा की ओर चल पड़े और तिब्बत की सीमा में निवास करने लगे। यहाँ पर रहने वाले "सिआव यू-ची" अथवा छोटी जाति के कहलाये। अन्य लोगों ने पश्चिम की ओर ही अपने प्रसार को जारी रक्खा। ये लोग मुख्य शाखा के थे। जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है, यू-ची जाति के लोगों ने सर दरिया के उत्तर में बसे हुए शकों को पराजित कर दिया और उन्हें निर्वासित कर उनकी भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु अपने इस नवीन आवास में बृहत्तर शाखा के यू-ची अधिक काल तक के लिए न ठहर रुके। जिस जाति को उन्होंने पहले पराजित कर दिया था उसी जाति ने इस समय उनसे बदला लेने का विचार किया। इस विचार से ही प्रेरित होकर वू-सुन जाति के नये नेता ने जो पुराने सरदार का ही पुत्र था, ह्यंग-नू की सहायता से १४० ई० पू० के लगभग यू-ची लोगों को उनके नये निवास-स्थान से खदेड़ दिया। विवश होकर वे आक्सस (वक्षु) नदी पार कर ताहिया या तुषार प्रदेश में प्रविष्ट हुए। ताहिया प्रदेश के निवासी अधिकांशतया व्यापारी थे। उनके समाज

में दृढ़ राजनीतिक संगठन नहीं था और उनकी प्रकृति युद्ध की ओर भी बिल्कुल नहीं थी। फलतः उन्होंने यू-चो लोगों की अधीनता स्वीकार कर ली। यहाँ रह कर यू-ची जाति वालों ने अपनी शक्ति का संगठन किया और बाख्त्री के निवासियों को उत्पीड़ित किया। धीरे-धीरे उन्होंने बाख्त्री और सोग्दियाना को विजित कर लिया और ई० पू० की प्रथम शताब्दी में अपने घुमक्कड़पन का परित्याग करके स्थायी जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया। इस समय यू-ची लोग पाँच भागों में विभक्त हो गए जिनके चीनी नाम इस प्रकार थे—हियू-मी, चुआंगमो, कुएई चुआंग, हिचुन कावो-फू। प्रत्येक के ऊपर एक ही साहू अथवा शाही शासन करता था। ई० शताब्दी के प्रारम्भ में कुएई-चुआंग का राज्य कुषाण नामक शाही या सरदार को मिला। उसने शेष चारों राज्यों को पराजित कर दिया और उनको अधीन कर लिया। फिर इन सब को मिलाकर उसने एक विशाल राज्य का निर्माण किया। कुषाण की अधीनता में हो जाने पर समस्त यू-ची जाति को कुषाण ही कहा जाने लगा। कुषाण का नाम कुजुल-कदफिस भी था।

कुजुल कदफिस—कुजुल कदफिस के नेतृत्व में कुषाण जाति के लोगों में एक दृढ़ राजनीतिक चेतना उत्पन्न हो गई। वे आगे बढ़ने का विचार करने लगे। कुजुल ने अपनी जाति के लोगों को आगे बढ़ने के लिए उत्साहित किया। अपनी शक्ति का संगठन कर चुकने के उपरान्त कुजुल ने अपने घोड़े की बाग भारतीय सीमा की ओर मोड़ी। उसने हिन्दूकुश पार किया और पार्थियन प्रदेशों पर अपना अधिकार जमाया। काबुल की घाटी और अराकोसिया पर कुजुल का अधिकार हो गया। काबुल में जिस ग्रीक सत्ता का चिह्न बना हुआ था उसे कुजुल कदफिस ने उखाड़ फेंका। कुजुल कदफिस ने पार्थिया पर आक्रमण किया और किपिन (सम्भवतः गन्धार) तथा दक्षिण अफगानिस्तान को जीत लिया। उसने जिस साम्राज्य की स्थापना की उसका विस्तार वंक्षु से लेकर सिन्ध तक था। उसके साम्राज्य में बैक्ट्रिया, सम्पूर्ण वर्तमान अफगानिस्तान, ईरान का पूर्वी छोर तथा भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के पार्श्ववर्ती प्रदेश सम्मिलित थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुजुल कदफिस का जीवन सैन्य-कार्यों और विजय प्राप्त करने में व्यतीत हुआ था। अस्सी वर्ष की परिपक्व अवस्था में कुजुल का जीवन-प्रदीप बुझ गया।

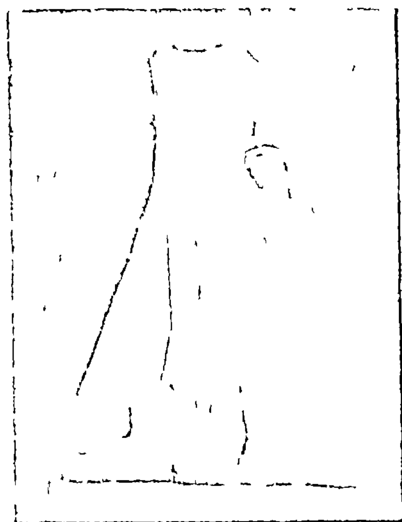
विम कडफिसेज—कुजुल कडफिसेज प्रथम के उपरान्त उसका पुत्र [illegible] उत्तराधिकारी हुआ। [illegible] इतिहासकार ने उसका नाम [illegible] (वेम) कडफिसेज लिखा है। [illegible]

[illegible]

उसकी तूती बोलने लगी । वीम कदफिसेज की सैनिक सफलताओं का कुषाण साम्राज्य की दृष्टि से तो महत्व है ही उनका सांस्कृतिक और व्यापारिक महत्व भी बहुत अधिक है। डा० राय चौधरी के शब्दों में, ' कदफिसेज राजाओं की विजयों ने चीन और रोमन साम्राज्य तथा भारत के मध्य व्यापार के मार्ग को खोल दिया। रोम का सोना इस प्रदेश में प्रभूत परिमाण में आने लगा, जो सिल्क, मसाले तथा रत्नों के मूल्य के रूप में था।" इस कथन से स्पष्ट है कि भारतवर्ष रोमन साम्राज्य के देशों में अपने मसाले, अन्न, बहुमूल्य वस्त्र तथा अन्य सामग्रियाँ निर्यात करता था जिनके बदले में उसे सोने और चाँदी के सिक्के प्राप्त होते थे। रोम द्वारा प्राप्त होने वाले सोने का प्रयोग वीम कदफिसेज ने सुवर्ण-मुद्राओं के प्रचलन के कार्य में किया। उसने अपने नाम से सोने के सिक्के चलवाये।

कनिष्क

वीम कदफिसेज के बाद सम्भवत कुषाण राज्य सिंहासन पर समासीन होने वाला कनिष्क ही था। निस्सन्देह कनिष्क कुषाण वंश का सबसे प्रतापी और प्रभावशाली सम्राट था और प्राचीन भारत के महान् सम्राटों की पंक्ति में उसका स्थान अत्यन्त गौरवशाली है।



चित्र ६४—कनिष्क की मूर्ति

कनिष्क की सैन्य सफलताएँ—कनिष्क न केवल कुषाण वंश का सबसे प्रतापी सम्राट था वरन् वह एक वीर विजेता तथा महत्वाकांक्षी शासक भी था। अपने पिता और पितामह के द्वारा स्थापित साम्राज्य की सीमाओं को वह और अधिक विस्तृत करना चाहता था। इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर उसने देश को विजित करने का निश्चय किया। उत्तर, दक्षिण और पूर्व तीन दिशाओं में कनिष्क ने अपनी विजयों द्वारा अपने साम्राज्य की सीमाओं को बढ़ाया। सर्वप्रथम उसने काश्मीर की सुन्दर घाटी को अपने अधिकार में किया। काश्मीर के प्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण के अनुसार कनिष्क के द्वारा काश्मीर में कई नगरों की स्थापना भी कराई गई थी। कनिष्क ने पार्थियन नरेश को युद्ध में पराजित किया। उसके पहले कुजुल कदफिसेस ने भी पार्थियन राजा को हराया था। अपनी पराजय का बदला लेने की भावना से पार्थियन राजा ने कनिष्क के शासन-काल के प्रारम्भ में ही उस पर आक्रमण कर दिया परन्तु उसका मनोरथ सफल न हो सका। यद्यपि अभी कनिष्क अपने राज्य का ठीक

पान-चाऊ का युवा पुत्र पान-यॉग, जिसके ऊपर अपने पिता के उत्तरदायित्व वहन का भार आ पड़ा था, एक अनुभवहीन सेनानायक प्रमाणित हुआ। काश्मीर प्रदेश के मार्ग द्वारा पामीर की उपत्यकाओं से होता हुआ कनिष्क एक बड़ी सेना लेकर युद्ध के लिये पहुँच गया। इस युद्ध में कनिष्क की विजय हो गई। चीन के सम्राट को वार्षिक कर भेजने के अपमानजनक ऋण से वह उऋण हो गया। इतना ही नहीं यारकन्द, खोतान और काशगर प्रान्तों को कनिष्क ने अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।



चित्र १५—कनिष्क का साम्राज्य

कनिष्क का धर्म—जैसा कि डा० राय चौधरी महोदय ने कहा है कनिष्क का यश उसकी विजयों पर उतना अधिक अवलम्बित नहीं जितना कि शाक्यमुनि के धर्म को उसके राजाश्रय प्रदान करने पर। उसकी मुद्राओं तथा पेशावर अभिलेख (Casket) से यह विदित होता है कि उसने वास्तविक रूप में सम्भवतः अपने शासन-काल के प्रारम्भ में ही बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। पुरुषपुर अथवा पेशावर में उसने एक बौद्ध संघाराम का निर्माण कराया था। यह बौद्ध विहार एक बौद्ध तीर्थ के रूप में नवीं शताब्दी तक वर्तमान था जबकि प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान वीरदेव ने उसकी यात्रा की थी जो मगध के नरेश देवपाल के समय में नालन्दा का महास्थविर निर्वाचित किया गया था। कनिष्क के चैत्य का उल्लेख अलबरूनी नामक प्रख्यात मुस्लिम यात्री ने भी किया है।

परन्तु भारतीय जीवन की परम्परा के अनुकूल कनिष्क ने धार्मिक विषयों में अपने उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया है। उसके विशाल साम्राज्य में विभिन्न धर्मों के अनुयायी निवास करते थे और सबके साथ उसने धार्मिक निष्पक्षता तथा सहिष्णुता का व्यवहार किया। उसके सिक्कों से उसकी धर्म सम्बन्धिनी धारणा का परिचय हमें स्पष्टतया हो जाता है। उसके सिक्कों पर यूनानी, ईरानी और हिन्दू देवताओं के चित्र मिलते हैं। इन देवताओं के नाम इस प्रकार थे—हेराक्लीज, सरापिज, सूर्य, चन्द्र शिव और अग्नि आदि। उसकी राज-सभा को जो गुणवान व्यक्ति समलंकृत करते थे उनमें सभी धर्मों के अनुयायी सम्मिलित थे।

कनिष्क के समय की बौद्ध संगीति—सम्राट कनिष्क ने केवल बौद्ध धर्म स्वीकार ही नहीं कर लिया वरन् इसके सिद्धान्तों को समझने की उसने चेष्टा भी की।

परन्तु इस कार्य में उनको कठिनाइयों का अनुभव हुआ क्योंकि इस समय तक पहुँचकर बौद्ध धर्म का स्वरूप काफी अस्पष्ट हो गया था। सिद्धान्तों और धर्म के मूल तत्त्वों के प्रश्न पर नाना प्रकार के विवाद उठ खड़े हो गए थे। विभिन्न धर्माचार्यों के मतों में पारस्परिक द्वन्द्व काफी प्रचुर परिमाण में उत्पन्न हो गए थे। विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों की सूक्ष्मता, पेचीदगी और जटिलता के कारण बौद्ध धर्म का सरल रूप लोप होता दिखाई देने लगी थी। ऐसी स्थिति में उनको हृदयंगम करना बड़ा कठिन था। इसके अतिरिक्त कुछ मौलिक प्रश्नों पर विभिन्न धर्माचार्यों के एकमत होने की आवश्यकता भी बहुत अनुभव होती है। इन्हीं सब कारणों से कनिष्क के समय में बौद्ध संगीति का आयोजन करना अनिवार्य हो गया। बौद्ध ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा गया है कि कनिष्क के शासन-काल में जो बौद्ध-संगीति बुलाई गई थी उसका उद्देश्य विवादास्पद सिद्धान्तों का निर्णय करना था। इस चतुर्थ बौद्ध-संगीति का आयोजन कश्मीर के कुण्डलवन विहार में किया गया था। वसुमित्र ने संगीति के सभापतित्व को सुशोभित किया था और अश्वघोष ने उपाध्यक्ष का कार्यभार सम्भाला था। इस अधिवेशन में धर्म ग्रन्थों के गूढ़ और जटिल स्थलों की परस्पर तर्क-वितर्कों द्वारा पूर्ण रूप से विवेचना की गई। इस सम्बन्ध में जो वाद-विवाद हुए उनको भाष्य रूप में संकलित कर लिया गया। ये भाष्य विभाषा शास्त्र कहलाये। त्रिपिटक पर एक प्रामाणिक भाष्य की रचना हुई जिसे कनिष्क ने ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराया। उनको एक पत्थर के सन्दूक में रखवा कर उन उनके ऊपर से एक स्तूप का निर्माण करा दिया था। इस संगीति ने दो मुख्य कार्य किए। एक तो उसने यह किया कि नये विचारों और बौद्ध दर्शन की विविध नवीन विचार धाराओं के विकास के प्रकाश में धर्म-ग्रन्थों को नए ढंग पर लिपिबद्ध किया। नवीन लिपि-क्रम में संस्कृत भाषा का व्यवहार किया गया था। संगीति का दूसरा कार्य महायान बौद्ध शाखा को राजधर्म का रूप देना था जिसके प्रचार के लिए कनिष्क सचेष्ट बना। इस बौद्ध संगीति में प्रायः सभी सिद्धान्तों ने भाग लिया था। [illegible]
[illegible]

आदि। उन्होंने यह भी कहा कि 'अपने निर्वाण का प्रयत्न तुम स्वयं परिश्रमपूर्वक करते रहो।' परन्तु महायान मत में भक्ति को समुचित स्थान दिया गया। एक करुणामय उपास्य देव की कृपाशीलता पर जोर दिया गया। हीनयान धर्म में बुद्ध केवल एक शास्ता के रूप में ही थे परन्तु महायान धर्म में उन्हें देवता का स्थान दिया गया। उनको परमात्मा समझा जाने लगा और उनकी मूर्ति बनाकर लोगों ने उनकी पूजा करनी भी प्रारम्भ कर दी। महायान धर्म में अवतारवाद के सिद्धान्त को स्थान मिला।

कनिष्क का निधन— कुछ दन्तकथाओं द्वारा विदित होता है कि कनिष्क का निधन दु:खद और करुण रूप में हुआ था। उसके सेनापतियों ने उसके विरुद्ध षडयन्त्र करके उसका वध कर दिया। उसके सरदार और सेनापति उसके युद्धों से तंग आ गए थे जिससे उन्होंने रात्रि के समय उसकी हत्या कर डाली। कुछ विद्वानों का कथन है कि कनिष्क ने ४५ वर्ष तक राज्य किया परन्तु अन्य विद्वानों का विचार है कि उसने २३ वर्ष तक राज्य किया था। यही मत हमें अधिक मान्य प्रतीत होता है। इस प्रकार उसका निधन (७८ + २३) १०१ सन् ईस्वी के लगभग हुआ।

कनिष्क के उत्तराधिकारी—कुषाण वंश का सबसे प्रतापी सम्राट कनिष्क था, जिसके देहावसान के अनन्तर इस वंश का राजनीतिक गौरव क्षीण होने लगा। कनिष्क के उत्तराधिकारियों में से कोई भी उसके समान पराक्रमी अथवा प्रभावशाली नहीं हुआ। उसके उत्तराधिकारियों के विषय में हमारा ज्ञान अत्यन्त स्वल्प है। कनिष्क के बाद वासिष्क उसका उत्तराधिकारी हुआ। हुविष्क के विषय में हमारा ज्ञान अपेक्षाकृत अधिक है। इसका एक अभिलेख काबुल के निकट वारदक में प्राप्त हुआ है जो यह सिद्ध करता है कि हुविष्क का अधिकार अफगानिस्तान पर था। बौद्ध अनुश्रुति कनिष्क की भाँति उसे भी बौद्ध धर्म का अनुयायी तथा पोषक बतलाती है।

वासुदेव—हुविष्क के अनन्तर वासुदेव कुषाण साम्राज्य का स्वामी बना। इस नृपति का नाम यह स्पष्टतया सूचित करता है कि कुषाण वंश का भारतीयकरण अब पूर्ण रूप से सम्पन्न हो चुका था।

वासुदेव कुषाण वंश का अन्तिम सम्राट था जिसका राजनीतिक प्रभुत्व बिलकुल क्षीण नहीं होने पाया था। किन्तु उसके समय से ही इस राजवंश का पतन आरम्भ हो गया था। उसके बाद के कुषाण राजाओं का इतिहास प्राय: तिमिरावृत ही है। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि भारत में वासुदेव के राजत्वकाल (१४५-१७६ सन् ईस्वी) के शीघ्र बाद ही कुषाण राजसत्ता का ह्रास होने लगा। शकक्षत्रप जो मूलत: कनिष्क प्रथम के प्रति अपना दास-भाव स्वीकार करते थे अब स्वतन्त्र शासकों की भाँति शासन करने लगे। पश्चिमी और मध्य भारत के विशाल भू-भागों पर उनकी स्वतन्त्र राजसत्ता स्थापित हो गई। भारत के विभिन्न भागों में, जहाँ कुषाण वंश का अधिकार था, विशेषतया वर्तमान उत्तर प्रदेश और राजपूताने में अधीनस्थ राजवंशों ने अपना मस्तक ऊँचा किया और यहाँ तक कि मथुरा से भी कुषाण शक्ति का उन्मूलन कर दिया गया जहाँ पर एक नाग परिवार सत्तारूढ़ हो गया। नागों की अधीनता में भारत में एक राष्ट्रीय शक्ति की लहर बही जिसके प्रबल वेग में कुषाणों का साम्राज्य बह गया।

कुषाण-युग की सभ्यता और संस्कृति

सर्वप्रथम हम कुषाण-युगीन सभ्यता की सबसे प्रमुख विशेषता पर विचार करेंगे। यह विशेषता थी विदेशों के साथ इसका घनिष्ठ सम्पर्क। कनिष्क ने जिस साम्राज्य की स्थापना की थी उसकी विस्तृत सीमाओं का अध्ययन हम पीछे कर चुके हैं। सिन्धु-प्रदेश पर कनिष्क का राज्य स्थापित हो जाने और काशगर, खोतान तथा यारकन्द के उसके राज्य में सम्मिलित हो जाने से गमनागमन और यातायात की सुविधाएँ बहुत बढ़ गईं। एक ओर व्यापारियों के काफिले अपनी विक्रय-सामग्री के साथ विभिन्न भागों में आने-जाने लगे और दूसरी ओर धर्म-प्रचारक अपने धर्म के प्रसार के लिए विदेशों की यात्रा करने लगे। डा० राय चौधरी का यह कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि कनिष्क के वंश ने भारतीय सभ्यता के लिए मध्य और पूर्वी एशिया का द्वार खोल दिया। इसमें सन्देह नहीं कि इस समय से विदेशों में विशेषतया मध्य और पूर्वी एशिया में बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारतीय संस्कृति का प्रचार होने लगा। पाश्चात्य जगत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बहुत अधिक दृढ़ हो गया क्योंकि गमनागमन और यातायात के विकसित साधन प्रचुरता से उपलब्ध थे। कदफिसीज द्वितीय के समय से भारत का विदेशी व्यापार काफी उन्नतिशील हो गया था। हम इस बात का उल्लेख पाते हैं कि रोमन लेखक प्लिनी ने अपने देशवासियों की भर्त्सना कर यह ख्याल किया है कि वे भारत को विलास-सामग्री के बदले में अपनी सुवर्ण मुद्राएँ देते हैं। रोमन साम्राज्य की सुवर्ण मुद्राएँ भारत में इतनी बहुलता से प्राप्त हुई हैं कि प्लिनी का कथन [illegible] रूप से प्रमाणित हो जाता है। विदेशों के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाने से भारत को दोहरा लाभ हुआ। पहला लाभ तो यह था कि विदेशों में इसकी संस्कृति का प्रचार हुआ और दूसरा लाभ था पाश्चात्य जगत् के धन का व्यापारिक सम्बन्ध से इस देश में प्रवेश। यह मानना अनुचित नहीं मालूम पड़ता कि कुषाण युग की आर्थिक समृद्धि ने सभ्यता की उन्नति को एक प्रबल प्रोत्साहन प्रदान किया।

साहित्यिक उन्नति—इस युग की साहित्यिक क्रियाशीलता की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसका रूप एकाङ्गी नहीं था। इस समय [illegible] की रचना ही न हुई अपितु दर्शन-शास्त्र तथा चिकित्सा-[illegible] पर भी ग्रन्थ लिखे गए। [illegible] कुषाण-युग की साहित्यिक प्रगति का [illegible] था। [illegible] था। यह एक दार्शनिक, नाटककार, [illegible] था। [illegible] दूसरा [illegible] 'सौन्दरनन्द' नाम है [illegible] नामक [illegible] 'सूत्रालंकार' [illegible] था। [illegible]

कुषाण युग की कलात्मक प्रगति—महायान धर्म के भक्तिवादिता ने कला के क्षेत्र में कुछ नवीनता उत्पन्न कर दी। इस युग के पूर्व बुद्ध की प्रतिमाओं का निर्माण नहीं किया जाता था। भरहुत और साँची के स्तूपों में बुद्ध की उपस्थिति को सकेतों अथवा प्रतीकों द्वारा चित्रित किया जाता था। यदि बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण के दृश्य को चित्रित करना हुआ तो एक आरोही-रहित अश्व दिखला दिया जाता था जिसका अभिप्राय यह होता था कि इसी अश्व पर आरूढ़ होकर तथागत ने अरण्यगमन किया था। परन्तु ज्यो-ज्यो बौद्ध उपासकों के हृदयों में भक्ति-भावना का सञ्चार होता गया वे भगवान् बुद्ध की प्रतिमाओं का निर्माण करने लगे। निश्चय रूप से भक्ति-भावना का उदय कला के विकास के लिए बड़ा ही हितकर प्रमाणित हुआ और आगे चलकर भारत में कला की जो प्रचुर उन्नति हुई उसमें इसका बहुत महत्वपूर्ण योग-दान था।

गान्धार-कला—गान्धार-कला से तात्पर्य मूर्ति-कला की एक विशिष्ट शैली से है जिसका विकास ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी में अधिकांशतया गान्धार तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश में हुआ था। इस कला के प्रमुख केन्द्र थे, जलालाबाद, हड्डा और बमिआँ, स्वात घाटी एवं पेशावर का जिला। गान्धार-कला को "इण्डो-ग्रीक" कला के नाम से भी अभिहित किया जाता है क्योंकि इस कला के विषय तो भारतीय हैं किन्तु उनकी शैली यूनानी है। बुद्ध भगवान् की जो मूर्तियाँ इस शैली की शिल्पविधि द्वारा निर्मित की गई वे यूनानी देवता अपोलो की मूर्तियों से काफी मिलती-जुलती हैं।

कुषाण युग में गान्धार के अतिरिक्त और भी कला-केन्द्र थे जहाँ पर कला की काफी उन्नति हो रही थी। ये कलाकेन्द्र सारनाथ, अमरावती और मथुरा में थे।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ कुषाण कौन थे ? उनका सर्वश्रेष्ठ सम्राट कौन था ?
२ कनिष्क के विषय में आप क्या जानते हैं ?
३ कनिष्क के धर्म पर प्रकाश डालिए ?
४ कनिष्क ने बौद्ध धर्म का प्रचार किस प्रकार किया ?
५ कनिष्क का भारतीय इतिहास में क्या महत्व है ?
६ कनिष्क कालीन भारतीय संस्कृति पर प्रकाश डालिए।

अध्याय २२

गुप्त वंश

जिस मगध साम्राज्य का उदय छठीं शताब्दी ई० पू० से आरम्भ हुआ और तीसरी शताब्दी ई० पू० तक जिसने अपना चर्मोत्कर्ष प्राप्त कर लिया उसी मगध साम्राज्य को लगभग ५०० वर्षों तक इतिहास में गौण स्थान प्राप्त हो जाता है और उसका पुनरुद्धार तब तक नहीं होता जब तक तीसरी शताब्दी में मगध-साम्राज्य सिंहासन पर गुप्त वंश आरूढ़ नहीं होता। इतना ही नहीं गुप्त राजाओं के संरक्षण में मगध ने जितनी उन्नति की उतनी वह अन्य किसी काल में नहीं कर सका था। गुप्त के राज्यारोहण के समय बुन्देलखण्ड तथा मध्य प्रान्त में वाकाटक नरेश राज्य कर रहे थे। उत्तरी भारत में कोई भी ऐसी शक्ति न थी जो भारतीय इतिहास की गौरव-वृद्धि कर सके। किसी भी प्रभावशाली शासन के अभाव में भारत की एकता तो नष्ट था ही साथ ही उसकी स्वतन्त्रता के भी हरण का भय था। भारतीय संस्कृति-पोषक, भारतीय राष्ट्रीयता के संरक्षक तथा भारतीयता के उन्नायक इन गुप्त सम्राटों पर इतिहास को गर्व है। इनमें शास्त्र और शस्त्र का जो समन्वय देखने को मिलता है वह कुछ इने-गिने भारतीय सम्राटों में ही प्राप्त होता है।

गुप्त वंश का राजनीतिक इतिहास

गुप्तों का उदय—तीसरी सदी ईस्वी के अन्तिम चरण में मगध देश में किसी स्थान पर गुप्तों का उदय हुआ था। भारशिव-नागों के पश्चात् [illegible] इतिहास के रंगमंच पर गुप्तों का पदार्पण मगध में पाटलिपुत्र तथा उसके [illegible] प्रदेश के स्वामी के रूप में होता है।

श्री गुप्त—गुप्त अभिलेखों में एक [illegible] वंशावली [illegible] से आरम्भ होती है। इन लेख-सूत्रों में [illegible] नाम [illegible] प्राप्त है। अतः इससे यह प्रमाणित होता है कि गुप्तों के आदि पुरुष का नाम श्रीगुप्त था।

घटोत्कच—गुप्त (श्रीगुप्त) के पश्चात् प्रयाग प्रशस्ति में [illegible] के पुत्र महाराजा घटोत्कच का उल्लेख है। [illegible] घटोत्कच के [illegible] नहीं [illegible] है पर सिक्कों में मात्र एक स्थान पर 'घटोत्कच गुप्त' उल्लिखित है।

चन्द्रगुप्त प्रथम—प्रयाग-प्रशस्ति में गुप्त वंश का [illegible] चन्द्रगुप्त को महाराजाधिराज की उपाधि [illegible] जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि [illegible] श्रीगुप्त तथा घटोत्कच और चन्द्रगुप्त के राजनीतिक अस्तित्व में [illegible] यह निश्चित [illegible] नहीं कहा जा सकता [illegible]

रहा होगा तभी उसे महाराजाधिराज की पदवी प्राप्त थी जो उसके बाद के अन्य गुप्त राजाओं को प्राप्त है।

चन्द्रगुप्त ने निश्चय ही अनेक विजयें की होगी तभी तो उसे साम्राज्य-सम्थापन का इतना अधिक श्रेय दिया जाता है। लिच्छिवि राजकुमारी से ब्याह करके उसने अपने यश और राज्य में अभिवृद्धि कर ली और इस विवाह के फलस्वरूप अब उसकी राज्य-सीमा एक ओर बंगाल को छू रही थी तथा दूसरी ओर थे मध्य भारत तथा पंजाब। अत. बंगाल के सीमान्त-क्षेत्रों पर चन्द्रगुप्त का अधिकार स्थापित करना सम्भव है।

गुप्त संवत्—ऐसा अनुमान किया जाता है कि चन्द्रगुप्त ने अपने राज्याभिषेक की तिथि से एक नये संवत् 'गुप्त संवत्' का निर्माण किया। विभिन्न गणनाओं के आधार पर चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक की तिथि २० दिसम्बर ३१८ ई० अथवा २६ फरवरी ३२० ई० निश्चित होती है। अत लगभग ३१९-३२० ई० से गुप्त संवत् का प्रारम्भ होता है। किन्तु यह प्रामाणिक ढंग से नहीं कहा जा सकता कि उक्त संवत् चन्द्रगुप्त का ही चलाया हुआ है क्योंकि हमारे पास इस प्रकार के प्रमाणों का अभाव है।

चन्द्रगुप्त प्रथम की मृत्यु-तिथि—राज्यारोहण के समय चन्द्रगुप्त की आयु काफी अधिक थी ऐसा उचित अनुमान लगाया जाता है, जिसके आधार पर उसके अल्प राज्य की शंका ठीक ही हो सकती है समुद्रगुप्त के गया ताम्रलेख के अनुसार चन्द्रगुप्त की मृत्यु-तिथि ३२८ ई० ज्ञात है।

गुप्त साम्रज्य का निर्माण

समुद्रगुप्त

पिछले पृष्ठों में हमने गुप्तों की सीमित राजनीतिक शक्ति पर प्रकाश डाला था। तब तक उन्होंने किसी प्रकार राजनीतिक सत्ता प्राप्त भर की थी। श्रीगुप्त और घटोत्कच तो बिलकुल ही साधारण शक्तिसम्पन्न थे, चन्द्रगुप्त प्रथम उनसे कुछ अधिक सशक्त रहा। किन्तु उन सबका राज्य केवल थोड़े से भू-भाग पर सीमित था, पाटलिपुत्र के निकटवर्ती भू-भाग पर ही उनका अधिकार था। पर चन्द्रगुप्त प्रथम के पश्चात् मगध के सिंहासन पर एक ऐसा वीर पुरुष बैठा जिसने अपनी विजयों द्वारा एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की और शताब्दियों के लिए गुप्त वंश की नींव सुदृढ़ कर दी। इस विशाल साम्राज्य निर्माता का नाम था समुद्रगुप्त।

समुद्रगुप्त की दिग्विजय

भारतीय इतिहास के साम्राज्यवादी युग में युद्ध एवं विजयों का इतना अधिक महत्व रहा कि लगभग सभी कवि एवं प्रसिद्ध कुशल चारणों ने सम्राटों की प्रशस्तियों का अम्बार खड़ा कर दिया। प्रशस्तियों में अतिशयोक्ति का कहीं अभाव नहीं, वे सर्वथा काव्यात्मक हैं। प्राचीन भारत की समस्त ऐसी प्रशस्तियों में प्रयाग की प्रशस्ति

अपना अद्वितीय स्थान रखती है। उक्त प्रशस्ति से हमें समुद्रगुप्त की दिग्विजय का बोध होता है, उसके सामरिक जीवन पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। प्रयाग-प्रशस्ति में विजयों की तिथि का निर्देशन नहीं किया गया है। विजयों का केवल परिगणन किया है, उनमें पारस्परिक क्रम का उल्लेख भी नहीं किया गया है। इन विजयों की विविध धाराएं हैं जिनके अनुसार समुद्रगुप्त की विजयों का निम्नलिखित ६ भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

क उन्मूलित राज्य जिनका समुद्रगुप्त ने असुर-विजयी नृपति की भाँति सर्वथा नाश (उत्खाय तरसा) कर दिया,

ख आटविक राज्य जिनके अधिपतियों को उसने अपना सेवक बनाने को बाध्य किया,

ग दक्षिणापथ के राज्य जिनके अधिकारियों को उसने धर्म-विजयी नृपति की भाँति पराजित करके श्री-विहीन तो कर दिया किन्तु उनके राज्य को पुनः उन्हें लौटा दिया,

घ. प्रत्यन्त राज्य,

ङ. गणराज्य, जिन्होंने हतप्रभ होकर स्वयं आत्मसमर्पण कर दिया और

च. भारतीय सीमा पर स्थित तथा कुछ विदेशी राज्य जिन्होंने समुद्रगुप्त के प्रति आत्म-निवेदन किया।

नीचे इन पर पृथक पृथक प्रकाश डाला जायगा।

क उन्मूलित राज्य (आर्यावर्त-विजय)—विन्ध्य तथा हिमालय के बीच की भूमि का प्राचीन नाम आर्यावर्त था। समुद्रगुप्त ने सकल उत्तरी भारत के राजाओं को पराजित करके एकछत्र राज्य की स्थापना की। ऐसे विजेता को राजनीति में 'असुर-विजयी' की उपाधि प्रदान की जाती थी। आर्यावर्त के राजाओं की सूची प्रयाग प्रशस्ति में इस प्रकार दी गई है—

(१) रुद्रदेव, (२) मतिल, (३) नागदत्त, (४) चन्द्रवर्मन्, (५) गणपतिनाग, (६) नागसेन, (७) अच्युत, (८) नन्दि, (९) बलवर्मा।

ख. आटविक राज्य—उत्तरी भारत के पूर्वोक्त राजाओं को पराजित करके समुद्रगुप्त दक्षिण विजय को निकला [illegible] किन्तु मार्ग में [illegible] पर अधिकार स्थापित करना आवश्यक था, अतः समुद्रगुप्त ने आटविक [illegible] को [illegible] अपना [illegible] बनाया। आटविक राज्य [illegible] में थे। प्रयाग प्रशस्ति में आटविक राज्यों के नाम तथा उनकी संख्या का उल्लेख नहीं किया गया है। [illegible] के अनुसार आटविक [illegible] आधुनिक [illegible] से [illegible] तक [illegible] थे।

ग दक्षिणापथ के राज्य—[illegible] समुद्रगुप्त ने [illegible] और [illegible] किया। [illegible] प्रयाग प्रशस्ति में दी गई है। [illegible]

एक मित्र सघ बनाया और कोलेरू नामक तालाब के किनारे इन्होने एकत्रित होकर समुद्रगुप्त को आगे बढ़ाने के रोका। केरल के मण्टराज तथा काची के विष्णुगोप सम्मिलित सेना के सेनापति रहे। कोसल तथा महाकान्तार के राजाओ को छोड़कर उक्त मित्र सघ में अन्य राजा सेनानायक अथवा जिले के पदाधिकारी थे। जायसवाल महोदय के मतानुसार यह युद्ध आर्यावर्त की पहली लड़ाई (कौशाम्बी युद्ध) के पश्चात् ई० स० ४५३-४६ के लगभग हुआ था। दक्षिणापथ के राजाओ को समुद्रगुप्त ने पराजित तो अवश्य किया किन्तु उनके राज्य को अपने राज्य मे नहीं मिलाया प्रत्युत उन्हें अपनी छत्र-छाया में राज्य करने की आज्ञा दे दी। प्रयाग-प्रशस्ति म दक्षिणापथ-नरेशों की सूची इस प्रकार है —

१ कौसलक महेन्द्र,
२ यहाकान्तारक,
३ कैरलक मण्टराज,
४ पैष्ठपुरक-महेन्द्रगिरि-कौट्टूरक स्वामि दत्त,
५. ऐरण्ड पल्लकदमन,
६ काचेयक विष्णुगोप,
७ अवमुक्तक नीलराज,
८ वैयगेयक हस्तिवर्म,
६. पालक्ककोग्रसेन,
१० देवराष्ट्रक कुवेर तथा
११ कोस्थलपुरक धनञ्जय।

घ—प्रत्यन्त राज्य—प्रत्यन्त नृपति सीमाप्रान्तीय थे। समुद्रगुप्त की विजयों की महती शृङ्खला से भयभीत होकर इन नृपतियो ने उस 'प्रचण्ड शासक' यशस्वी गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त को सब प्रकार के कर प्रदान करना आरम्भ कर दिया और वे उसकी आज्ञा का पालन करने लगे।

निम्नलिखित पॉच प्रत्यन्त राज्य थे .—

(१) समतट, (२) डवाक, (३) कामरूप, (४) नेपाल तथा (५) कर्तृपुर।

ङ गण राज्य—उत्तरी एव पूर्वा सीमा के राज्यो को विजित करने के पश्चात् समुद्रगुप्त पश्चिम की ओर मुड़ा और उसने वहाॅ के गण राज्यो का अन्त किया। सम्भवत इसी समय से भारत मे सघ शासन का अन्त हुआ। समुद्रगुप्त ने इनको अपने अधीन शासन करने की आज्ञा दे दी और ये गणराज्य उसे कर देते रहे। इनके नाम नीचे दिये जा रहे है —

(१) मालव, (२) अर्जुनायन, (३) योधेय, (४) मद्रक, (५) आभीर, (६) प्रार्जुन, (७) सनकानीक, (८) काक तथा (६) खर्परिक।

च विदेशी राज्य—समुद्रगुप्त की विजयो की ध्वनि भारत के निकटवर्ती

राज्यों तक पहुँची और उन्होंने राजनीति की उचित चाल चलकर उससे मित्रता स्थापित की। इन राज्यों के नाम ये हैं—

(१) देवपुत्र शाहिशाहानुशाहि, (२) शक, (३) मुरुण्ड, तथा (४) सैंहल एवं अन्य द्वीप। इन विदेशी राज्यों ने मित्रता का केवल स्वांग नहीं रचा वरन् आत्म-निवेदन, कन्याओं की भेंट तथा अपने राज्य में शासन करने के लिए गरुड़ की मुहर से मुद्रित अधिकार माँग कर उन्होंने एक प्रकार से उसकी प्रत्यक्ष अधीनता स्वीकार की।

समुद्रगुप्त का मूल्यांकन

समुद्रगुप्त की विजयों की इस लम्बी तालिका से उसके सामरिक गुणों का अनुमान लगाना अत्यन्त सरल है और यह अनुमान सत्य के काफी निकट तक पहुँचेगा। इसकी दिग्विजय के आधार पर ही कुछ इतिहासकारों ने इसकी तुलना नेपोलियन से की है। जिसके सम्बन्ध में केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि यह तुलना निराधार है। कहाँ एक साधारण सिपाही और कहाँ राजकुमार। इन दोनों की विजयों में भी अन्तर है। नेपोलियन का युद्ध प्रमुख शक्तियों से हुआ था जब कि समुद्रगुप्त को उन शक्तियों का सामना करना पड़ा था जिनका भारतीय इतिहास में कोई महत्व नहीं [illegible] नहीं था। कभी पराजित न होने वाली विशेषता का यहाँ अधिक महत्त्व हो जाता है।

गुप्तकालीन
भारत

चित्र २६

समुद्रगुप्त के चरित्र का मूल्यांकन भी [illegible] है। इसका मूल कारण यह है कि चरित्र निरूपण का मूलाधार प्रमाण मर्यादित है। [illegible]

[illegible]

चारों ओर छिटक रही थी, जिसकी विद्वता शास्त्र तक को पहुँच जाती थी,' जिसने सूक्तो का मार्ग अपना ध्येय बना लिया और उसकी ऐसी कविता थी जो कविया के मति के विभव का उत्सारण करती थी, जिसका मन कृपण, दीन, अनाथ, आतुरजनों के उद्धार और दीक्षा आदि मे लगा रहता था, जो लोक के अनुग्रह तथा साक्षात् जाज्वल्यमान स्वरूप था, कुबेर, वरुण इन्द्र, और यम के समान जिसने अपनी तीक्ष्ण और विदग्ध बुद्धि और सगीत-कला के ज्ञान और प्रयोग से इन्द्र के गुरु काश्यप, तुम्बुरू, नारद आदि को लज्जित किया, जिसने विद्वानो को जीविका देने योग्य अनेक काव्य-कृतियो से अपना कविराज पद प्रतिष्ठित किया, ऐसा हरिषेण का समुद्रगुप्त है।"

उपरोक्त काव्योचित अतिरजित शैली मे हरिषेण ने समुद्रगुप्त का जो चरित्र-चित्रण किया है, इसी आधार पर बहुधा विद्वानो ने भी समुद्रगुप्त का मूल्याकन किया है, किन्तु हरिषेण की अतिरन्जना भी निराधार नहीं हो सकती-समुद्रगुप्त मे वे गुण किसी न किसी मात्रा में विद्यमान रहे होंगे जिनसे कवि को अत्युक्ति की प्रेरणा मिली होगी।

सक्षेप मे उसकी चारित्रिक विशेषतायें ये थी —

१—**महान विजेता**—उसकी विजयो से प्रभावित होकर ही इतिहासकारो ने उसे नेपोलियन की उपाधि प्रदान की है। समुद्रगुप्त के चरित्र की सबसे बडी विशेषता विजेता होना है।

२—**महान सेनानायक**—समुद्रगुप्त ने विजय अपने बाहु-बल पर प्राप्त की थी। सेना का सगठन उसने स्वय किया था। उसका सचालन भी वह स्वय करता था। वह रण-विद्या मे कितना कुशल था इसका साक्षात प्रमाण उसकी विजयें है।

३—**कुशल शासक एव राजनीतिज्ञ**—यदि समुद्रगुप्त कुशल शासक तथा राजनीतिज्ञ न होता ता इतने परिश्रम के पश्चात् जीते हुए राज्य स्वय उसके साथ समाप्त हो गए होते। यदि वह दूरदर्शिता से काम न लेता और समस्त विजित राज्यो को मिला कर उसने पिता की तरह एक विशाल साम्राज्य बना दिया होता तो शासन कुव्यवस्था के कारण, जो प्राचीन भारत मे यातायात तथा अन्य वस्तुओ के अभाव मे अनिवार्य थी राज्य को निश्चय ही अपना पतन देखना पड़ता, पर समुद्रगुप्त ने दूरदर्शिता से काम लिया। उसने केवल निकटवर्ती राज्यो को ही अपने साम्राज्य मे मिलाकर आर्यावर्त मे ही अपने साम्राज्य को सीमित रक्खा। अन्य विजित राज्यो से उपहार आदि ले कर उसने मित्रता बनाये रक्खी। सीमान्त प्रदेशो तथा विदेशी राज्यो के साथ उसने जिस नीति का अनुसरण किया वह प्रशसनीय है।

उदारता—समुद्रगुप्त मे दया-दान का भी सम्मिश्रण था। वह सैकडो गौवे दान किया करता था। उसकी उदारता से प्रभावित होकर उसकी प्रजा उसका आदर करती थी।

अलौकिक व्यक्तित्व—समुद्रगुप्त धन मे कुबेर, न्याय म वरुण, शक्ति में इन्द्र, अन्तक अथवा यम के समान अजेय, बुद्धि मे बृहसपति था। इस प्रकार उसके अलौकिक व्यक्तित्व का बोध होता है।

साहित्यप्रेमी— प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को कवि, साहित्य तथा अन्य कलाओं का मर्मज्ञ बतलाया गया है। उसे 'कविराज' की उपाधि भी दी गई है। समुद्रगुप्त विद्वानों की मण्डली में घिरा रहता था। वह उनका विशेष आदर करता था जिससे सम्पूर्ण देश के विद्वान उसके निकट आते रहे होंगे।

उदार धार्मिक दृष्टिकोण—ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता कि समुद्रगुप्त ने किसी धर्म विशेष या किसी सम्प्रदाय को अपने निजी धर्म के लिए तिरस्कृत या उपेक्षित किया हो। उसमें पर्याप्त धार्मिक सहिष्णुता थी।

रामगुप्त

महान् विजेता समुद्रगुप्त की मृत्यु के ठीक पश्चात अभिलेखीय प्रमाणों के आधार पर हम आज तक चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही शासक स्वीकार करते थे, किन्तु कुछ नये साहित्यिक प्रमाणों की प्राप्ति के पश्चात इन दो महान शासकों—समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय, के मध्य में एक तीसरे शासक रामगुप्त का बोध होता है।

देवीचन्द्रगुप्तम् नाटक से यह ज्ञात होता है कि रामगुप्त कायर था। समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् किसी शकराज ने उस पर आक्रमण किया और उसे पराजित करके सन्धि करने को बाध्य किया। सन्धि की एक जटिल शर्त यह थी कि रामगुप्त अपनी धर्मपत्नी ध्रुवदेवी को शकाधिपति को दे दे। रामगुप्त ने यह स्वीकार कर लिया। पत्नी की करुण पुकार तथा कुल गौरव के मान का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु पुरुषार्थी चन्द्रगुप्त को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने इसका प्रतिवाद किया और उसने ध्रुवदेवी का वेश धारण कर स्त्री-वेश में प्रच्छन्न वीरों सहित शक-स्कन्धावार में प्रवेश किया। वहाँ चन्द्रगुप्त ने नारी वेश में प्रच्छन्न, कामान्ध [illegible] शकाधिपति के वक्ष में छुरी भोंक दी। अन्त में चन्द्रगुप्त ने शकों के वध के पश्चात अपने भ्राता रामगुप्त का वध कर दिया और ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य

रामगुप्त के अल्प शासन के पश्चात् समुद्रगुप्त का दूसरा पराक्रमी पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ। [illegible] कि किस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कापुरुष रामगुप्त की हत्या करके उसकी पत्नी से विवाह किया और वह शासक हुआ। इससे तो चन्द्रगुप्त के शील का मापक प्रत्यक्ष है। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि चन्द्रगुप्त भ्राता की हत्या करके भी [illegible]

तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति— [illegible]

दक्षिणापथ के राज्य प्रत्यन्त राज्य, गण राज्य आदि का दमन कर दिया था, फिर भी यह दमन स्थायी नही रह सकता था क्योंकि दासता मे स्थायित्व लाने के लिए अधीन राज्यो को समय की लम्बी दूरी पार कराके अभ्यस्त कराना आवश्यक था, पर ऐसा नहीं हो सका था। समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् ही रामगुप्त जैसा कायर शासक सिंहासनारूढ़ हुआ जिसकी दुर्बलता का परिचय हमे पिछले पृष्ठों मे प्राप्त हो चुका है। ऐसी परिस्थिति में तो विद्रोह होना आवश्यक था, किन्तु समुद्रगुप्त की भीषणता की स्थिति अब भी अवशेष थी, अतः केवल शको ने ही विद्रोह किया। उन दिनो शको के दो केन्द्र थे—(१) सीमाप्रान्त अफगानिस्तान आदि और (२) मालवा तथा पश्चिमी भारत।

शक-विजय—रामगुप्त पर आक्रमण करने वाले शको को चन्द्रगुप्त ने पराजित किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने प्रमुख विरोधी गुजरात तथा काठियावाड प्रायद्वीप के शक-शासक रुद्रसिंह तृतीय पर विजय प्राप्त करके पश्चिमी सीमा की ओर अपने राज्य का विस्तार किया।

विजय का परिणाम—इस विजय से चन्द्रगुप्त ने न केवल विदेशियो को भारत से भगा दिया प्रत्युत उसने अपनी राज्य-सीमा के अतर्गत काठियावाड तथा गुजरात जैसे प्रदेशो को सम्मिलित करके अपने साम्राज्य का प्रसार बगाल की खाडी से अरब सागर तक कर दिया। पश्चिमी तटवर्ती पत्तनो के सम्पर्क मे आ जाने के कारण भारत के पाश्चात्य व्यापार पर एक प्रकार से गुप्तो का एकाधिकार हो गया। साथ ही देश पाश्चात्य सभ्यता के निकट सम्पर्क मे आ सका।

अन्य विजय—अब हम चन्द्रगुप्त की अन्य विजयो पर विचार करेंगे जिसका सकेत अभिलेखो से मिलता है। चन्द्रगुप्त के युद्धसचिव शाब के लेख से यह ज्ञात होता है कि वह (चन्द्रगुप्त द्वितीय) विश्व-विजय करने के लिए चला था। चन्द्रगुप्त के सेनानायक आम्रकारदव के लिए कहा जाता है कि उसने अनेक विजयो से ख्याति प्राप्त की थी। किन्तु दुर्भाग्यवश इन विजयो के विषय मे सामग्रियो का अभाव है। दिल्ली की कुतुबमीनार के निकटवर्ती लौहस्तम्भ (मेहरौली स्तम्भ) पर चन्द्र नामक किसी राजा की विजय-यात्रा का उल्लेख है। इस स्तम्भ लेख मे चन्द्रगुप्त ने सिन्ध नदी के सातों मुखो को पार करके वाल्हिक (वल्ख) के शासको को जीता इस प्रकार कथन है, जिससे यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि मेहरौली लौहस्तम्भ-लेख का चन्द्र, चन्द्रगुप्त द्वितीय ही है तो हमें यह विदित होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने राज्य के पूर्वीय तथा पश्चिमी दोनों सीमान्त प्रदेशो पर आक्रमण किया और उसे इन अभियानो मे सफलता प्राप्त हुई।

चन्द्रगुप्त द्वितीय का मूल्याकन—चन्द्रगुप्त की सैनिक सफलताओ का विवरण हमें ऊपर मिल चुका है। इसी वीर सम्राट ने समुद्रगुप्त द्वारा प्रारम्भ की गई विजय-यात्रा को वास्तव में पूर्णता प्रदान की और इसने न केवल सीमान्त जातियो या रियासतों को गुप्त साम्राज्य मे मिलाया प्रत्युत भारतीय-सीमा पर स्थित शक, कुषाण आदि विदेशी जातियो को भी पराजित कर के उनके राज्य को गुप्त साम्राज्य मे विलीन कर

लिया। इन्हीं विजयों के कारण चन्द्रगुप्त द्वितीय की ख्याति जनता के हृदय में चिरकाल तक बनी रही। इसके इस कार्य से जनता ने विक्रमादित्य की उपाधि प्रदान किया होगा। [illegible] और शकार के आक्रान्त-निवारक चन्द्रगुप्त के [illegible] थी।

"चन्द्रगुप्त जो समस्त भारत का सम्राट था, उस इतिहास का एक नायक था। चन्द्रगुप्त द्वितीय जिसने राजनीतिक महानता और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के कारण युग को प्रौढ़ता पर पहुँचाया, उसने लोक-श्रद्धा में अपना स्थान बना लिया। वास्तव में गुप्तकालीन भारत का बहुमुखी उन्नति के मूल में इन्हीं दोनों सम्राटों का हाथ है। इन्होंने ही अपने सक्रिय सहयोग से इस युग को 'स्वर्ण युग' की उपाधि प्रदान कराई। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कला एवं साहित्य को जो संरक्षण प्रदान किया, कलाकारों को जो प्रेरणा दी उसकी चर्चा अर्वाचीन काल से ही दन्तकथाओं का विषय बनी हुई है और इन दन्तकथाओं की ऐतिहासिकता पर सन्देह नहीं किया जा सकता क्योंकि उनके दरबार में नवरत्नों की जो बात कही जाती है और उनमें कालिदास का नाम गिनाया जाता है वह सत्य है, जैसा कि आगे पृष्ठों में स्पष्ट किया जायगा। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल में भारत में लगभग १० ११ वर्षों (४००-४११ ई०) तक निवास करने वाले चीनी यात्री फाहियान के विवरण से (जिसके सम्बन्ध में हम आगे प्रकाश डालेंगे) यह ज्ञात होता है कि उस समय देश में शान्ति एवं समृद्धि व्याप्त थी। प्रजा की आर्थिक व्यवस्था काफी अच्छी थी। बिना कठोर दण्ड के ही शान्ति स्थापित रखना चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन प्रबन्ध की कुशलता का प्रमाण है।"

मुद्रा-निर्माण की ओर भी चन्द्रगुप्त ने विशेष ध्यान दिया जिससे उसकी मुद्रा-निर्माण-कला तथा देश की आर्थिक व्यवस्था का परिचय मिलता है। पहले गुप्त राजाओं ने स्वर्ण मुद्राओं का ही निर्माण कराया था, किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय ने चाँदी तथा ताँबे के सिक्के भी प्रचलित कराये जो उसकी सम्पन्नता की मुद्राओं से प्रमाणित हैं।

कुमारगुप्त प्रथम

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र कुमारगुप्त सिंहासनारूढ़ हुआ। उसके [illegible] है। [illegible] गुप्त सं० ९६ [illegible] [illegible] ४१५ ई० [illegible] कुमारगुप्त [illegible] [illegible] [illegible]

की भाँति कुमारगुप्त भी महाकवि कालिदास के शब्दों में "आसमुद्रक्षितीश" था। उसने महेन्द्रादित्य की उपाधि भी धारण की थी।

पुष्यमित्रों से युद्ध—वैसे तो कुमारगुप्त प्रथम का शासन-काल काफी शान्तिमय था किन्तु उसके राजत्वकाल के अन्तिम दिनों में उसके साम्राज्यरूपी नभोमण्डल पर विपत्ति के बादल घिर आये थे। भीतरी स्तम्भ लेख के एक श्लोक से इस विपत्ति पर प्रकाश पड़ता है। इस श्लोक से पता चलता है कि कुमारगुप्त की वृद्धावस्था में पुष्यमित्रों ने जिनकी सैन्य-शक्ति और सम्पत्ति काफी बढ़ गई थी गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये थे। यह आक्रमण इतना भयंकर था कि इसके द्वारा गुप्त वंश की राज्य-लक्ष्मी विचलित हो गई थी जिनको फिर से प्रतिष्ठापित करने के लिए कुमारगुप्त प्रथम के वीर पुत्र स्कन्दगुप्त को रात भर पृथ्वी पर लेटे लेटे ही बिताना पड़ा था और कठिनाइयों के बावजूद भी विजयश्री ने गुप्त सम्राट का ही वरण किया।

कुमारगुप्त प्रथम के कार्यों और चरित्र का मूल्यांकन

यद्यपि कुमारगुप्त प्रथम ने प्रायः अपनी तुलना 'देवताओं के सेना नायक' से की है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि वह न तो समुद्रगुप्त की तरह वीर योद्धा ही था और न चन्द्रगुप्त द्वितीय की भाँति मनुष्यों का निर्भीक नेता ही। किन्तु सैन्य सफलताओं के गौरव से शून्य होने पर भी कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य में कुछ ऐसे गुण विद्यमान थे जिसके लिए उसके शासन-काल का महत्व काफी अधिक है। कुमारगुप्त का सुदीर्घकालीन शासन सुख-शान्ति और समृद्धि के लिए विख्यात है। कुमारगुप्त के तेरह अभिलेखों में केवल एक ही सैन्य-कार्यवाही का बोध कराता है जो कि उसके शासन-काल के अन्तिम दिनों में की गई थी जब कि वे सभी एक शान्तिपूर्ण तथा दृढ़ शासन-व्यवस्था का संकेत करते हैं। उसके साम्राज्य का केवल एक दृढ़ और उदार शासन व्यवस्था के अधीन ही इतने अधिक दिनों तक इतना विशाल भू भाग रक्खा जा सकता था। उसके देहावसान के अनन्तर शीघ्र ही हूणों और अन्य शत्रुओं को जो पराभव सहन करना पड़ा उससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता था कि इतने लम्बे शान्तिपूर्ण शासन काल में भी सेना की सैन्य निपुणता का ह्रास नहीं होने पाया था। यह बात कुमारगुप्त के लिए कोई कम गौरव की नहीं है कि इतने अधिक दिनों तक युद्ध से विरत रहने पर भी उसने अपने सैनिकों की रण-कुशलता को कम नहीं होने दिया।

कुमारगुप्त ने अपने पिता की धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पूरी तरह से पालन किया। उसने अपने अभिलेखों में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। वह स्वयं कार्तिकेय का बड़ा भक्त था किन्तु उसने सूर्य, बुद्ध, शिव एवं विष्णु आदि देवताओं की पूजा में किसी प्रकार का विघ्न नहीं उत्पन्न होने दिया। इसके विपरीत उसके अभिलेख इस बात के अनेक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि उसने बौद्ध तथा

स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राज्य

पुरुगुप्त—स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद उसका भाई पुरुगुप्त राजसिंहासन पर बैठा। पुरुगुप्त स्कन्दगुप्त का सौतेला भाई था। वह अनन्तदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। कुछ विद्वानों की धारणा है कि पुरुगुप्त ने स्कन्दगुप्त के राज्यारोहण का विरोध किया था और इस पर उन दोनों में परस्पर युद्ध भी छिड़ा था।

नरसिंह गुप्त बालादित्य—पुरुगुप्त की मृत्यु के अनन्तर उसका पुत्र और उत्तराधिकारी नरसिंह गुप्त था। नरसिंह गुप्त बालादित्य एक प्रतापी सम्राट था जिसने गुप्त साम्राज्य के विलुप्त गौरव को पुनः प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया था और अपने प्रयत्न में जिसे कुछ अंशों तक सफलता भी मिली थी। नरसिंहगुप्त बालादित्य की मृत्यु छत्तीस वर्षों की अल्पायु में ही हो गई। यही कारण है कि उसका शासन-काल नितान्त अल्पकालीन था।

कुमारगुप्त द्वितीय—आभिलेखिक और साहित्यिक साक्ष्यों से यह पता चलता है कि नरसिंहगुप्त के तुरन्त बाद कुमारगुप्त द्वितीय गुप्त राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। सम्भवतः कुमारगुप्त द्वितीय के ही शासन-काल में रेशम के जुलाहों की एक श्रेणी ने दशपुर के उस सूर्य मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया, जिसका निर्माण मूलतः कुमारगुप्त प्रथम के जो इस कुमारगुप्त का प्रपितामह था समय में किया गया था। इसने "विक्रमादित्य" का विरुद्ध धारण किया था।

बुद्धगुप्त—कुमारगुप्त द्वितीय के उपरान्त गुप्त राजसिंहासन पर बुद्धगुप्त समासीन हुआ। सारनाथ अभिलेख में बुद्धगुप्त की सबसे प्राचीन तिथि दी गई है जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि इसने ईसवी सन् ४७६ में राज्य प्राप्त किया था। बुद्धगुप्त एक शक्तिशाली नरेश था और उसने अपने वंश की उखड़ती हुई शक्ति को पुनः सँभालने का प्रयत्न किया। ऐसा प्रतीत होता है कि सन ४८४ ई० में बुद्धगुप्त ने अपनी राज्य सत्ता मध्य प्रान्तों तथा मालवा के कुछ भागों पर स्थापित कर ली थी।

बुद्धगुप्त के उत्तराधिकारी—ह्वेनसाँग के जीवनचरित्र से यह पता चलता है कि बुद्धगुप्त का उत्तराधिकारी तथागतगुप्त था जिसके उपरान्त बालादित्य ने राजसिंहासन प्राप्त किया था। इस समय मध्य भारत में हूण नरेश तोरमाण ने गुप्त की शक्ति को चुनौती दी।

ह्वेनसाँग के अभिलेख से विदित होता है कि बालादित्य बौद्धधर्म का अनुयायी और संरक्षक था। जितना प्रसिद्ध वह अपने पराक्रम के लिए था उतनी ख्याति उसने अपने धर्म संरक्षता और धर्मानुरागिता के कारण भी अर्जित की थी। उसने नालन्दा में एक बौद्ध संघाराम का निर्माण कराया था।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. गुप्त वंश का संस्थापक कौन था ? श्रीगुप्त और घटोत्कच गुप्त का संक्षिप्त परिचय दीजिये।

२. चन्द्रगुप्त प्रथम के विषय में आप क्या जानते हैं ?

३. समुद्रगुप्त को भारतीय इतिहास में जो गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है उसका वर्णन लिखिए।

४. समुद्रगुप्त की विजयों का महत्व बताइए।

५. समुद्रगुप्त के चरित्र पर प्रकाश डालिए।

६. स्कन्दगुप्त कौन था ? उसको भारतीय इतिहास में क्यों ख्याति मिली है ?

अध्याय २३

गुप्तकालीन सभ्यता एवं संस्कृति

भारतीय इतिहास म गुप्त-युग का विशेष महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। पिछले युग की अन्धता और अनैक्य के स्थान पर हम गुप्त युग म ऐक्य और प्रकाश को देखते हैं। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद देश म विघटन की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई वह गुप्त युग के उदय के पूर्व तक जारी रही और यद्यपि संस्कृति का नद अविच्छिन्न तथा अबाध गति से बढ़ता रहा तथापि उसम उतना वेग और प्रवाह नहीं था जितना कि हम गुप्त युग म देखते हैं। अपनी महान् उपलब्धियों और सफलताओं के कारण गुप्तयुग भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहलाता है। आगे हम गुप्त युग के सांस्कृतिक जीवन का विशेष विस्तार के साथ अध्ययन करेंगे तो सुस्पष्ट सिद्ध हो जायगा कि इस युग के लिए स्वर्णयुग का प्रयोग सर्वथा समीचीन और सार्थक है।

गुप्त युग की सर्वतोमुखी सांस्कृतिक प्रगति म उस शासन व्यवस्था का अपना महत्वपूर्ण योगदान था जिसको गुप्त सम्राटों ने अपनाया था। अतएव हम सर्वप्रथम गुप्तों की शासन प्रणाली का ही अध्ययन करेंगे।

शासन-प्रबन्ध

गुप्तों की शासन प्रणाली राजतन्त्रात्मक थी। शासन का प्रधान राजा था और उसकी शक्ति असीमित थी। गुप्त नरेश 'महाराजाधिराज', 'सम्राट', 'परमेश्वर', 'परमदेवता', 'चक्रवर्तिन' आदि विरुद धारण करते थे। राजाओं को देवतुल्य मानने की धारणा इस काल मे काफी लोकप्रिय हो गई थी। प्रयाग-प्रशस्ति मे समुद्रगुप्त के लिए कहा गया है कि वह एक देवता था जो इस पृथ्वी पर निवास करने के लिए आया था। परन्तु राजा के देवता होने की इस भावना से यह अभिप्राय नहीं था कि वह स्वेच्छाचारी और निरंकुश हो सकता है। वह अपने अमात्यों की सहायता से शासन-कार्य करता था जिनके परामर्शों को मानने के लिए बाध्य न होने पर भी वह उनकी सुनता अवश्य था। ग्राम पंचायतों और नगर-सभाओं तथा व्यापारिक श्रेणियों को शासन सम्बन्धी कार्यों से सम्बन्धित काफी अधिकार प्राप्त थे जिससे सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय सरकार अथवा राजा मे केन्द्रित नहीं होने पाती थी। फाह्यान नामक चीनी यात्री ने गुप्तों की उदार शासन-प्रणाली का जिन शब्दों मे वर्णन किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था मे भी साधारण जनता को व्यक्तिगत-अधिकार काफी संख्या मे थे। चीनी यात्री लिखता है, 'प्रजा प्रभूत तथा सुखी है। लोगों को अपने घर की छोटी-मोटी बातों का न तो ब्योरा देना पड़ता है और न किन्हीं न्यायाधिकारियों या शासकों के यहाँ हाजिरी।' जनता के कार्यों मे राजा हस्तक्षेप नहीं

करते थे। लोगों को राज्य भर में आने-जाने का पूरा अधिकार था और उनके लिए उन्हें विशेष अनुमति पत्र नहीं प्राप्त करना पड़ता था। दण्ड आधुनिक युग की अपेक्षा भी मृदु थे। राजा न तो प्राणदण्ड देता था और न कोई शारीरिक दण्ड ही। अधिकांश अपराधों के लिए केवल अर्थदण्ड की ही व्यवस्था होती थी, जो अपराध की न्यूनता व गुरुता के अनुसार कम ज्यादा हो सकता था। यद्यपि राजनियम सरल और दण्ड मृदुल थे तथापि अपराधों की संख्या न्यून होती थी।

मन्त्रिमण्डल—गुप्त नरेश अपने शासन सम्बन्धी कर्त्तव्यों का सम्पादन मन्त्रियों की सहायता से किया करते थे। मन्त्रियों के लिए 'सचिव' या 'मन्त्री' शब्द का प्रयोग प्राप्त किया गया है। अमात्यों तथा मन्त्रियों का पद वंशानुगत होता था। राजा तथा मन्त्रिगणों की सम्मिलित [illegible] होती थी जिसका प्रधान राजा होता था। यह अनुमान करना असंगत प्रतीत न होगा कि सेना, पुलिस, न्याय, राजस्व तथा इसी प्रकार के अन्य विभाग मन्त्रिमण्डल के किसी सदस्य के अधीन कर दिये जाते थे और उनका उत्तरदायित्व उस सदस्य पर छोड़ दिया जाता था।

केन्द्रीय शासन—प्रणाली का सविस्तार वर्णन तत्कालीन अभिलेखों में नहीं किया गया है किन्तु कुछ प्रधान कर्मचारियों का उल्लेख अवश्य किया गया है। सम्राट के बाद सबसे ऊँचा स्थान युवराज का होता था। गुप्तकालीन [illegible] में शासनाधिकार का नियम उत्तराधिकार के क्रम पर आधारित होता था किन्तु सम्राट अपने उत्तराधिकारी को अपने ही जीवन काल में निर्वाचित कर देता था। [illegible] शासन का [illegible] होता था। महाबलाधिकृत (सेनापति), [illegible] और [illegible], ये उच्च पदाधिकारी [illegible] स्थान रखते थे। [illegible] गुप्तकालीन राजाओं के कर्मचारी 'महासेनापति' [illegible] होता था। इनके अलावा महाश्वपति (घुड़सवार सेना का अध्यक्ष), [illegible] (हाथी सेना का [illegible]) महाप्रतिहार [illegible] और [illegible] नामक [illegible] पदाधिकारी होते थे।

प्रान्तीय शासन—[illegible]

थी। आधुनिक काल की भाँति गुप्त काल में भी गवर्नरों के शासन-काल की अवधि निश्चित कर दी जाती थी। प्रान्तीय शासकों के कार्य-काल की अवधि कम से कम पाँच वर्ष अवश्य होती थी। गुप्त-कालीन अभिलेखों द्वारा हमें साम्राज्य के समस्त प्रान्तों का नाम तो ज्ञात नहीं होता किन्तु 'भुक्तियों' के नामों का उल्लेख काफी मिलता है—पुन्ड्रवर्द्धन भुक्ति, तीरभुक्ति, नगर भुक्ति, श्रावस्तीभुक्ति तथा अहिच्छत्र भुक्ति, सुकुलि देश तथा सौराष्ट्र आदि।

जिले का शासन—प्रान्त जिले में विभाजित किये जाते थे। जिला के लिए 'विषय' शब्द का प्रयोग किया है। एक भुक्ति के अन्तर्गत कई विषय' होते थे। विषय के सबसे बड़े अधिकारी को विषयपति कहा जाता था। इनकी नियुक्ति बहुधा 'गोप्तृ' या 'उपरिक महाराज' अर्थात् प्रान्तपति ही करता था किन्तु कभी-कभी सम्राट भी इसको नियुक्त करता था। विषयपति की शासन-सम्बन्धी कार्यों में सहायता करने के लिए अनेक कर्मचारी थे जिनके नाम इस प्रकार हैं—

नगर श्रेष्ठी—नगर का प्रधान सेठ अथवा श्रेणी प्रमुख।

सार्थवाह—नगर का प्रमुख व्यवसायी अथवा व्यापारियों के संघ का प्रधान।

प्रथमकुलिक—प्रथम शिल्पी अथवा शिल्पिसंघ का प्रमुख।

प्रथम कायस्थ—प्रधान लेखक।

पुस्तपाल—संग्रहाधिकारी।

नगर-शासन—इस प्रकार का अनुभव करना सम्भवतः त्रुटिपूर्ण नहीं कि गुप्त काल में नगरों में म्यूनिसिपल-शासन की व्यवस्था थी, यद्यपि इस समय के म्यूनिसिपल-शासन का विस्तृत विवरण देने वाला कोई मेगस्थनीज हमारी सहायता नहीं करता। स्वास्थ्य और स्वच्छता आदि विषयों के समुचित प्रबन्ध के लिए प्रत्येक मुख्य नगर में एक सभा होती थी। इस सभा का अध्यक्ष नगरपति कहलाता था जिसके लिए डाङ्गिक शब्द का प्रयोग किया गया है। नगर-निवासियों और व्यापारियों से कर वसूल कर 'डाङ्गिक' उनके हित के कार्यों पर व्यय करता था। स्वास्थ्य पर समुचित ध्यान दिया जाता था। यदि कोई मनुष्य मुख्य मार्ग, स्नानागार, मन्दिर तथा भवन के निकट गन्दगी फैलाते हुए पकड़ा जाता था तो वह दण्ड भागी होता था और उसे एक पण दण्डकर के रूप में देना पड़ता था।

ग्राम-शासन—ग्राम उस समय के शासन-प्रबन्ध की सबसे छोटी इकाई था। गाँव का मुखिया जिसे ग्रामेयक तथा ग्रामाध्यक्ष कहा जाता था ग्राम-शासन का अध्यक्ष होता था। मुखिया की शासन-सम्बन्धी कार्यों में सहायता देने के लिए स्थानीय लोगों की एक सभा हुआ करती थी जिसमें राजकर्मचारी नहीं होते थे। ग्राम-सभा सरकार के लगभग समस्त कर्त्तव्यों का निर्वहन करती थी। यह ग्राम की सुरक्षा का ध्यान रखती थी, ग्राम वालों के मुकदमों का निर्णय करती थी, भूमिकर एकत्र कर राजकोष में जमा करती थी और ग्राम निवासियों के सार्वजनिक हित के कार्य करती

थी। ग्राम-शासन की सुविधा के दृष्टिकोण से ग्राम सभा उपसमितियों का भी निर्माण करती थी। कृषि, उद्यान, सिंचाई, मन्दिर आदि के लिए भिन्न भिन्न समितियाँ होती थीं। ग्राम-शासन के लिए धन की आवश्यकता पड़ती थी जो प्रायः कर द्वारा ग्राम-सभाओं को प्राप्त होता था। यद्यपि ग्रामवासियों का मुख्य उद्यम कृषि-कर्म था तथापि लगभग प्रत्येक ग्राम में जुलाहे, कुम्हार, बढ़ई, नल बनाने वाला तथा लुहार होते थे जिनके द्वारा ग्राम-सभाओं को कर प्राप्त होता था। ग्रामों की सीमाओं का निर्माण प्रायः दीवालों और नालियों द्वारा किया जाता था। गुप्त लेखों में सीमा-निर्धारण के लिए नाली के प्रयोग के उदाहरण प्रचुरता से प्राप्त होते हैं।

राज्य की आय के साधन—राज्य की आय के साधन प्रचुर तथा विभिन्न थे। गुप्त लेखों से पता चलता है कि करों की संख्या गुप्त काल में अठारह थी किन्तु उनके नाम हमें ज्ञात नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि [illegible] प्रचुर भूमि-कर होता था। कुछ स्थानों में भूमि-कर के लिए 'भागकर' और कुछ स्थानों में 'उद्रङ्ग' शब्द का प्रयोग किया गया है। भूमि की अवस्था के अनुसार कर सोलह प्रतिशत से लेकर पचीस प्रतिशत तक लगाया जाता था।

चुंगी द्वारा भी राज्य को पर्याप्त आय होती थी। राज्य में जिन वस्तुओं का निर्माण किया जाता था उन पर चुंगी लगाई जाती थी। नमक, [illegible], [illegible] तथा [illegible] पर राज्य का स्वामित्व होता था और उनको [illegible] बेचकर अथवा उन्हें ठेके पर उठा कर यथेष्ट आय प्राप्त करता था। [illegible] 'गौल्मिक' नामक कर्मचारी के [illegible] था। [illegible] और [illegible] 'शुल्क' का नाम दिया गया है, गुप्त के शासन [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] आवश्यकता होती थी। [illegible] जाता था। [illegible] [illegible] किन्तु [illegible] होती।

कहा है कि विधवा स्त्री को अपने पति के साथ उसकी चिता में जल जाना चाहिए। सती प्रथा का प्रचलन सम्भवत. समाज मे था।

ऐसा प्रतीत होता है कि पर्दे की प्रथा गुप्त कालीन समाज मे कुछ सीमा तक अवश्य विद्यमान थी। यद्यपि गुप्त काल की कलाकृतियो मे नारी प्रतिमाओ के ऊपर किसी प्रकार का आवरण नहीं है तथापि अभिजात कुलो की स्त्रियाँ घरो मे निकलने पर घूँघट अथवा पर्दे का प्रयोग करती थीं। परन्तु इस युग मे पर्दे की प्रथा विशेष कठोर नहीं थी।

वस्त्राभूषण—गुप्त-काल के साहित्यिक ग्रन्थो और कलाकृतियो से इस समय के वस्त्राभूषण पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। पुरुषो का वस्त्र साधारणतया एक अधोवस्त्र (धोती) तथा उत्तरीय होता था।

स्त्रियो की पोशाक गुप्त काल मे भी बहुत कुछ आज जैसी थी। साडी तथा पेटीकोट ही उस काल की नारियो के सामान्य वस्त्र थे। कहीं-कहीं एक लम्बी साडी से ही दोनो वस्त्रों का काम चल जाता है। स्त्रियो की साडियाँ बहुधा रगीन हुआ करती थीं।

सूती कपड़े का प्रचलन अधिक था किन्तु ऋतु के अनुसार ऊनी और रेशमी कपड़े पहनना भी गुप्तकाल के भारतवासी जानते थे। फाहियान के विवरण से तो ऐसा मालूम पड़ता है कि भारतवासी ऊनी तथा रेशमी कपडो का प्रयोग बहुतायत से किया करते थे।

गुप्तकालीन साहित्य-ग्रन्थो और कलाकृतियो द्वारा इस काल के स्त्री-पुरुषो की अलकारप्रियता तथा विभिन्न प्रकार के आभूषणो का परिचय प्राप्त होता है। स्त्रियो के आभूषण विविध प्रकार के तथा नेत्रो को भले लगने वाले होते थे। सोने तथा मोतियो के हारो का सौन्दर्य अद्भुत होता था।

भोजन-पान—गुप्त कालीन भारतीय समाज मे शाकाहार तथा मासाहार दोनो का ही प्रचलन था। ब्राह्मण तो निश्चय ही काफी सीमा तक शाकाहारी हो गये थे और मदिरापान भी इन्होने त्याग दिया था। क्षत्रियो मे फिर भी सुरा-सेवन का प्रचार बना रहा।

आमोद-प्रमोद और उत्सव—भारतवासियो का जीवन बडा आमोद-प्रमोदमय था। राजाओ के लिए मृगया मनोरजन का प्रमुख साधन थी। साधारण जनता के लिए मनोरजन की पर्याप्त व्यवस्था थी। भैसो तथा हाथियो की परस्पर लडाई का उस समय काफी प्रचार था और इन लडाइयो को देखने से लोगो का मनो-विनोद होता था। हाँ, यह अवश्य उल्लेखनीय बात है कि भारत मे उस क्रूर और निर्दय कार्य को मनोरजन की दृष्टि से कभी नहीं देखा गया जिसका प्रचार रोम मे था। वहाँ एक भयकर पशु को मदमत्त कर अखाड़े मे छोड दिया जाता था और उससे युद्ध करने के लिए उसी अखाड़े मे किसी निहत्थे पुरुष को छोडा जाता था। जब पशु मनुष्य पर आघात करके उसका अग-भग करता या उसे लहूलुहान कर देता तो दर्शक हर्ष-निस्वन करके तालियाँ बजाते। भारतवर्ष मे ऐसे आसुरी मनोरजन की कभी कल्पना भी नहीं की गई।

बढ़िया बर्तन तैयार करने का उद्योग भी प्रचलित था। भगवान बुद्ध की कुछ ऐसी भी मूर्तियाँ मिली है जो पीतल और काँसे की बनी हुई है, जिनसे पता चलता है कि इन धातुओं का भी लोग प्रयोग करते रहे होगे। मोती के आभूषण बनाने के व्यवसाय की गुप्तकाल मे बहुत अधिक उन्नति हुई थी।

साहित्यिक और पुरातात्विक दोनो स्रोतो से पता चलता है कि गुप्त युग के भारतीय उद्योग धन्धो मे गज दन्त-शिल्प को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इस काल के गजदन्त-शिल्पियो की निपुणता प्रशसनीय थी। वे विविध प्रकार की वस्तुएँ हाथी-दाँत से तैयार करते थे, जिनका प्रयोग धनी-मानी लोग अपने घरो को सजाने मे करते थे।

श्रेणियाँ—प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन मे व्यापारियो और व्यवसायियो की श्रेणियो का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। गुप्त लेखो तथा मुहरो मे कई स्थान पर व्यावसायिक श्रेणियो के अस्तित्व का पता चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त-युग मे पटकार, तैलिक, मृत्तिकार, शिल्पकार, वणिक आदि व्यवसायियो की श्रेणियाँ विद्यमान थी। ये श्रेणियाँ समाज मे बड़े आदर और सम्मान की अधिकारिणी समझी जाती थी। ये स्वतन्त्र सस्थाएँ होती थी और अपने ही नियमो तथा उपनियमो द्वारा सचालित होती थी। इनके नियमो और परम्पराओ का सम्मान राज्य द्वारा किए जाने का उल्लेख 'याज्ञवल्क्य स्मृति' मे मिलता है। श्रेणियो सदस्यों में जो मुकदमे आपस मे हुआ करते थे उनका फैसला श्रेणी की व्यवस्थापिका करती थी, राज्य के न्यायालय नही। श्रेणियो के पास अपनी सम्पत्ति तथा अपना कोष होता था। कई कई श्रेणियो के पास तो इतना अधिक धन होता था कि वे दरीगृह दान कर सकती अथवा मन्दिर का निर्माण करा सकती थी।

व्यापार—कृषि और उद्योग-धन्धो की समृद्धि ने व्यापार की उन्नति को अनिवार्य कर दिया। आन्तरिक व्यापार की अवस्था काफी सन्तोषजनक थी और देश के एक भाग से दूसरे भाग तक व्यापारी अपनी विक्रय सामग्रियो के साथ बिना किसी रोक टोक के आया-जाया करते थे। विदेशी व्यापार भी समुन्नत दशा मे था। देश के भीतरी व्यापार की सुविधा के लिए राजमार्गों और जलमार्गों की समुचित व्यवस्था थी और दोनो ही मार्गो से व्यापारी अपने सामान पहुँचाते तथा भाना करते थे। इस समय भड़ौच, उज्जयिनी, विदिशा, पैठन, प्रयाग, बनारस, गया, पाटलिपुत्र, वैशाली, ताम्रलिप्ति, कौशाम्बी, मथुरा, अहिच्छत्र तथा पेशावर व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। ये राजपथो द्वारा एक दूसरे मे जुड़े हुए थे। गुप्तों के सुदृढ़ शासन-व्यवस्था के कारण राजमार्ग सर्वथा सुरक्षित थे। इस समय जल मार्ग व्यापार की दृष्टि से अधिक सुविधाजनक तथा कम व्ययसाध्य था। गंगा, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी नदियो द्वारा व्यापार किया जाता था। नई नई नहरें बनाई जाती थी जिनके द्वारा व्यापार काफी सुविधापूर्ण हो गया था।

भारत का विदेशी व्यापार काफी उन्नत अवस्था मे था और देश की आर्थिक

समृद्धि का महत्वपूर्ण कारण था। विदेशी व्यापार भी जल और स्थल दोनों मार्गों द्वारा किया जाता था। स्थल मार्ग द्वारा भारत पूर्व में तिब्बत तथा चीन और पश्चिम में ईरान और अरब से व्यापार करता था। सहस्रों गाड़ियों के कारवाँ भारत से विदेशों को जाते थे और यहाँ की बनी हुई वस्तुएँ विदेशी बाजारों में बिकती थीं। जलमार्गों द्वारा विदेशी व्यापार अधिक परिमाण में किया जाता था। पूर्व में ताम्रलिप्ति का बन्दरगाह बंगाल का एक प्रमुख नगर था। भारत के पूर्वीय व्यापार का यह सबसे प्रमुख केन्द्र था। चीन, लंका, जावा और सुमात्रा आदि देशों को भारतीय व्यापारी इसी बन्दरगाह द्वारा जाते थे। आन्ध्र देश में गोदावरी तथा कृष्णा नदियों के मुहाने पर अनेक बन्दरगाह थे जिनमें कदूर और घण्टशाला अधिक प्रसिद्ध थे। इनका उल्लेख टालमी ने भी किया है। कावेरी पट्टनम और तोन्डई चोल देश के प्रमुख बन्दरगाह थे। पाण्ड्य देश के प्रसिद्ध बन्दरगाह कोरकई तथा सालियुर थे और इसी प्रकार मलाबार के समुद्री तट पर कोट्टायम और मुजरिस प्रमुख बन्दरगाह थे। चीन और अन्य पूर्वीय देशों के साथ इन बन्दरगाहों के मार्ग से भारत ने व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर रखे थे। व्यापार के साथ-साथ इन स्थानों में भारतीय संस्कृति का भी प्रचार होता था।

गुप्त काल में पश्चिमी देशों के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध काफी पुराना हो चुका था। कुषाण-संस्कृति का अध्ययन करते हुए हमने देखा है कि रोमन जगत से भारत को पश्चिमी देशों के साथ व्यापार करने से कितना अधिक लाभ होता था। गुप्त काल में यह व्यापार और अधिक सम्पन्न तथा वृद्धिगत हुआ। जिस समय से चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने काठियावाड़ के बन्दरगाहों पर अपना अधिकार कर

वैष्णव धर्मानुयायी थे किन्तु उन्होंने वैदिक धर्म का सक्रिय पोषण किया।

ईसा की पाँचवी शताब्दी तक वैदिक धर्म समाज में काफी लोकप्रिय था। बाद में भी साधारण जनता की श्रद्धा इस धर्म के प्रति बनी रही।

गुप्त युग के लेखों से इस बात की सूचना काफी मिलती है कि उन्होंने ब्राह्मणों को प्रचुर दक्षिणाएँ दीं। यह एक उल्लेख्य तथ्य है कि ब्राह्मणों का दान देना वैदिक या ब्राह्मण धर्म का एक प्रमुख तत्व है।

अभिलेखों और मुद्राओं द्वारा उत्तरी और दक्षिणी भारत के नृपतियों द्वारा वैदिक यज्ञ, विशिष्टतया अश्वमेध यज्ञ, किये जाने के उल्लेख प्रचुरतया प्राप्त होते हैं।

वैष्णव धर्म—वैदिक धर्म का प्रभाव साधारण जनता पर बहुत गम्भीर नहीं पड़ सका। भक्तिप्रधान स्मार्तधर्म की दिनो-दिन बढ़ती हुई लोकप्रियता के कारण वैदिक यज्ञों का प्रचार उतना अधिक नहीं रह सका जैसा कि कुछ ही वर्षों पूर्व था। पाँचवी शताब्दी से हम निश्चय ही वैदिक यज्ञों को ह्रासोन्मुख पाते हैं।

इस बात का हमने पहले ही उल्लेख किया है कि गुप्त नरेश वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। उनके समकालीन अन्य राजाओं के भी वैष्णव होने का प्रमाण मिलता है। चन्द्रगुप्त कुमार गुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त के सिक्कों पर उनको परम भागवत कहा गया है जिससे यह पता चलता है कि वे भगवान् वासुदेव के महान भक्त थे।

उपलब्ध प्रमाण के द्वारा यह प्रमाणित होता है कि गुप्त युग में वैष्णव धर्म काफी लोकप्रिय होता जा रहा था। दक्षिण भारत में इसके प्रचार का श्रेय आलवार सन्तों को है जिन्होंने तामिल भाषा में सरस और भावपूर्ण पदों की रचना करके लोगों का ध्यान वैष्णवमत की ओर आकृष्ट किया। इनके पद इतने सरल हैं कि साधारण जन भी इन्हें समझ सकते हैं। उत्तर भारत में वैष्णव मत के प्रचार का कारण पुराणों का प्रणयन था जिनमें स्थान-स्थान पर विष्णु की महिमा गाई गई है।

गुप्त युग में भगवान् विष्णु के अनेक अवतारों की कल्पना की गई जिनमें वाराह, कृष्ण, वामन, मत्स्य, कूर्म और राम के अवतार प्रमुख थे। इन समस्त अव-

तारों में वाराह और कृष्ण के अवतार सबसे अधिक लोकप्रिय थे। तमिल साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि दक्षिण में भी कृष्ण की लोकप्रियता अन्य अवतारों से अधिक थी।

शैव धर्म—गुप्त काल में शैव धर्म का भी अच्छा प्रचार था। यद्यपि गुप्त सम्राट स्वयं 'परम भागवत' थे तथापि उन्होंने शिव पूजा के प्रचार में कोई बाधा उपस्थित नहीं की। उनके मन्त्री, सेनानायक और अन्य पदाधिकारी शैव थे। यदि गुप्त, पल्लव और गुर्जर नरेश अधिकांशतया वैष्णव थे तो भारशिव, वाकाटक, नाग, मैत्रक, कदम्ब और परिव्राजक वंशों के नरेश शैव धर्म को मानते थे।

अपने या अपने पूर्वजों की स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिए किसी शिव-मन्दिर का निर्माण करना, गुप्त युग की एक सामान्यतया प्रचलित प्रथा थी। पृथ्वीषेण और विष्णुवर्धन ने, जो गुप्त तथा मालवों के सेनाधिकारी थे, अपने नामों की स्मृति बनाए रखने के लिए मन्दिरों की स्थापना कराई थी।

अन्य देवताओं की पूजा—गुप्त युग में विष्णु और शिव के साथ-साथ अन्य देवताओं की भी पूजा की जाती थी। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश देवताओं की त्रिमूर्ति में विष्णु और महेश (शिव) की पूजा के विषय में हम पढ़ चुके हैं। यहाँ ब्रह्मा के विषय में भी हमें कुछ ज्ञान लेना चाहिए। पौराणिक धर्म का विकास होने पर कई वैदिक देवताओं का स्थान गौण हो गया और नए देवताओं की प्रतिष्ठा बढ़ गई। जिन देवताओं को गौण स्थान मिला उनमें से ब्रह्मा भी थे। त्रिमूर्ति में उनको स्थान अब भी प्राप्त था किन्तु उनका स्थान शिव और विष्णु के समकक्ष न रह गया। फिर भी ब्रह्मा के उपासक समाज में विद्यमान थे। वायुपुराण में ब्रह्मा का महत्त्व पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है।

आजकल भी यद्यपि लोग सूर्य की पूजा करते हैं तथापि देवता के रूप में सूर्योपासना उतनी प्रचलित नहीं है जैसा कि गुप्त युग में थी। वर्तमान युग में हमें कहीं सूर्य के मन्दिर नहीं दृष्टिगत होते किन्तु गुप्त काल में कई सूर्य-मन्दिरों के उल्लेख हमें प्राप्त होते हैं।

गुप्त काल में शक्ति (देवी) की पूजा का भी प्रचलन था। यहाँ स्थानाभाव के कारण शक्ति-पूजा या शाक्त धर्म के उद्भव पर विचार नहीं किया जा सकता परन्तु एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कालान्तर में शक्ति और शिव की पूजा का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध होना प्रारम्भ हो गया। शिव और शक्ति की पूजा उनके शान्त और भयंकर, दोनों प्रकार के रूपों में की जाती थी। सम्भवतः इस तत्त्व ने दोनों मतों को एक दूसरे के निकट लाने में महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान की। देवी के विभिन्न रूपों में उमा, गौरी, पार्वती, भवानी, अन्नपूर्णा, ललिता इत्यादि सौम्य रूप थे और चामुण्डा, दुर्गा, कालरात्रि, कपालिनी और भैरवी के रूप भयंकर थे।

हिन्दू धर्म का विदेशों में प्रचार—हम यह देख चुके हैं कि पूर्ववर्ती युगों में हिन्दू धर्म को किस प्रकार विदेशियों ने ग्रहण कर लिया था। इस युग में भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार होने पर हिन्दू धर्म भी वहाँ फैल गया। जावा, सुमात्रा

और बोर्नियो में हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा का काफी प्रचार था और हिन्दुओं की धार्मिक विचार-धाराओं को वहाँ के निवासियों ने ग्रहण किया। चौथी शताब्दी तक मेसोपोटैमियाँ और सीरिया मे हिन्दू-मन्दिरों का अस्तित्व बना रहा। यह सम्भव है कि हिन्दू धर्म ने ईसाई धर्म पर कुछ प्रभाव डाला था।

बौद्ध-धर्म—गुप्त युग का बौद्ध धर्म अपने अधिकाश रूप मे महायान था। इसके उद्भव और विकास के विषय मे हम पीछे पढ़ चुके है। परन्तु हमे यह नहीं समझना चाहिए की महायान बौद्ध धर्म की प्रधानता ने हीनयान का बिल्कुल ही ह्रासोन्मुख कर दिया। यद्यपि लोकरुचि के अधिक निकट होने के कारण महायान धर्म अधिक लोकप्रिय हो गया था तथापि गुप्त काल मे हीनयान भी काफी फल-फूल रहा था। परन्तु समष्टि रूप मे विवेचन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय लोक में भक्ति प्रधान स्मार्त-धर्मों का जितना अधिक प्रचार था उतना बौद्ध और जैन धर्मों का नहीं।

फाहियान पाँचवीं शताब्दी मे भारत मे आया था और उसने देश मे बौद्ध धर्म की अवस्था के विषय मे लिखा है। उसने अपनी यात्रा मध्य-एशिया के देशो से प्रारम्भ की थी जहाँ पर उसने बौद्ध धर्म को फलते-फूलते हुए पाया। मार्ग मे उसने मथुरा मे अनेक बौद्ध भिक्षुओं और बौद्ध सघो को देखा और अधिकाश स्थानो मे उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि नृपतिगण अधिकतर इस धर्म के प्रति सौहार्द्र का दृष्टिकोण रखते थे और भिक्षुओं का उचित सम्मान करते थे। कुछ राजाओं ने सघो को भूमि दान मे दे रक्खी थी जिससे विहारो का व्यय अच्छी तरह से चल सके।

यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से हीनयान और महायान मतो के केन्द्र भिन्न-भिन्न स्थानो मे थे तथापि इन दोनो मतो के सभी सम्प्रदाय एक दूसरे से पृथक नहीं रहते थे। बहुत से स्थानो मे विशेषकर मगध मे वे लोग साथ-साथ रहते थे। नालन्दा, विक्रमशिला और पाटलिपुत्र के शिक्षा केन्द्रो मे महायान और हीनयान मतो के मानने वाले मिल-जुलकर रहते थे।

जैन धर्म—जैन धर्म के इतिहास की दृष्टि से गुप्त युग का काफी महत्व है। इस समय जैन मत के अन्तर्गत कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुई। वलभी की प्रसिद्ध जैन संगीति गुप्त काल मे ही हुई थी। इस समय श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त सिद्धान्तो को लेखबद्ध किया गया। इसके बाद जैन विद्वानो ने अपने ग्रन्थों पर टीकाओं एव भाष्यो की रचनाएँ की। भद्रबाहु द्वितीय ने महत्वपूर्ण जैन ग्रन्थो पर नियुक्तियाँ (टीकाएँ) लिखीं। जैनियो ने भी संस्कृत को अपना लिया। क्षपणक तथा सिद्ध दिवाकर नाम के दो विद्वानो ने भी कई दार्शनिक ग्रन्थो का प्रणयन किया।

तीसरी शताब्दी के अन्त तक जैन धर्म भारतवर्ष मे अच्छी तरह से जम गया। मगध से चलकर दक्षिण पूर्व मे कलिंग तक मथुरा और मालवा तक, पश्चिम मे और दक्षिण मे तामिल नाड तक जैन धर्म फैल गया। परन्तु इस समय जैन धर्म का केन्द्र मगध मे न रह गया। पश्चिमी और दक्षिणी भारत मे इसका प्रचार अधिक हुआ। उत्तरी भारत मे जैन धर्म को कोई राज्याश्रय प्राप्त नहीं हो सका किन्तु दक्षिण मे कई

राजवंशों ने इसका पोषण किया, अतएव वहीं इसका प्रधान केन्द्र बन गया। फाहियान ने जैन धर्म का कोई उल्लेख नहीं किया है जिससे यह प्रतीत होता है कि जैन धर्म उसके समय में समृद्ध अवस्था में नहीं था। फिर भी व्यापारियों और मध्यवर्ग के लोगों में इस धर्म का पर्याप्त प्रचार था। मथुरा और वलभी श्वेताम्बर जैन धर्म के प्रबल केन्द्र थे। उत्तरी बंगाल में पुण्ड्रवर्धन दिगम्बर जैन मत का केन्द्र था। दक्षिण भारत में कर्नाटक और मैसूर में दिगम्बर जैन मत के गढ़ थे। कदम्ब और गङ्ग राजाओं ने इसे राजाश्रय प्रदान किया था। किन्तु बाद में जैन धर्म को शैव धर्म के रूप में एक प्रबल प्रतिद्वन्द्वी मिल गया जिससे दक्षिण में भी जैन धर्म का प्रचार बहुत कम हो गया किन्तु यह बिल्कुल नष्ट नहीं हो सका और आज भी तामिल देश, गुजरात तथा मालवा में जैनियों की संख्या काफी है।

गुप्त युग में साहित्य की उन्नति

गुप्त-युग की साहित्यिक समृद्धि की तुलना एथेन्स के इतिहास के पेरीक्लीयन युग और अंग्रेजी साहित्य के इतिहास के एलीजाबेथन युग से की जाती है। चीनी इतिहास के स्वर्ण युग तंग काल की भाँति गुप्त युग में कविता का विकास अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गया। कुछ इतिहासकारों ने गुप्त काल की साहित्यिक समृद्धि को ध्यान में रखते हुए इसकी तुलना लैटिन साहित्य के आगस्टन युग से की है।

विशुद्ध साहित्य—गुप्त काल में विशुद्ध साहित्य अर्थात् महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, आख्यायिका आदि का अभूतपूर्व उन्नति हुई। गुप्त कालीन साहित्यिक महारथियों में कविकुल गुरु कालिदास का नाम अग्रगण्य है। 'कुमार सम्भव' और 'रघुवंशम्' महाकवि के दो महाकाव्य हैं। 'मेघदूतम्' और 'ऋतुसंहार' उनके दो खण्ड काव्य हैं। 'विक्रमोर्वशीयम्' 'मालविकाग्निमित्रम्' और 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' उनके तीन नाटक हैं।

शूद्रक गुप्त-युग के दूसरे साहित्यकार थे। इनका सुविख्यात नाटक 'मृच्छ-कटिकम्' संस्कृत साहित्य का एक अनोखा और एक ऐसा अकेला नाटक है जो समाज के यथार्थवादी, दैनिक जीवन के चित्रण से सम्पन्न है। मुद्राराक्षस के प्रणेता विशाख-दत्त भी गुप्त काल में ही हुए थे। विशाखदत्त ने 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक का भी प्रणयन किया था किन्तु अपने मूलरूप में यह सम्पूर्ण नाटक उपलब्ध नहीं है। सुबन्धु इस काल के प्रसिद्ध गद्य लेखक थे जिनकी 'वासवदत्ता' ने, बाण के शब्दों में, कवियों के गर्व को चूर कर दिया। 'किरातार्जुनीयम्' के रचयिता भारवि का समय कुछ विद्वान् छठी शताब्दी का अन्त बतलाते हैं। भट्टि का काल भी सम्भवतः यही है। इनका महाकाव्य 'रावणवध' एक विचित्र काव्य है, जिसके प्रत्येक श्लोक के द्वारा संस्कृत व्याकरण के किसी न किसी नियम का विश्लेषण किया गया है और साथ ही साथ राम के जीवन की घटनाओं का वर्णन भी किया गया है। कुछ विद्वानों का विचार है कि भर्तृहरि भी इसी समय हुए थे। उनके तीन ग्रन्थ 'नीतिशतक' 'शृङ्गारशतक' और 'वैराग्यशतक' अपनी दृष्टि से अतुलनीय एवं काफी महत्त्वपूर्ण हैं। कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' में भर्तृमेण्ठ

नामक कवि का उल्लेख किया गया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त गुप्त युग में ही सम्भवत. 'रामायण' और 'महाभारत' के अन्तिम संस्करण तैयार किए गए।

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पञ्चतन्त्र' की रचना भी गुप्त काल में हुई। भारत की विश्व सभ्यता की प्रमुख देनों में से विद्वान् 'पञ्चतन्त्र' को भी एक मानते हैं। इस पुस्तक में कथाओं के माध्यम द्वारा नैतिक शिक्षा और सामाजिक जीवन के अनुभव प्रदान करने का सफल प्रयास किया गया है। संसार की लगभग प्रत्येक भाषा में 'पञ्चतन्त्र' का अनुवाद किया गया है।

धार्मिक साहित्य—गुप्त युग की साहित्यिक क्रियाशीलता धार्मिक साहित्य के सृजन एवं संवर्द्धन में भी दिखलाई पड़ी। धार्मिक साहित्य में सबसे अधिक महत्व के पुराण हैं। पुराणों की रचना का कार्य गुप्त युग के काफी पहले, ईसा की प्रथम शताब्दी के कई सौ वर्षों पूर्व प्रारम्भ हो चुका था किन्तु आज वे जिस रूप में प्राप्त हैं वह रूप अधिकतर गुप्त-काल में ही दिया गया। वैदिक संस्कारों एवं भक्तिवादी धार्मिक आन्दोलन के समन्वय का सर्वप्रथम प्रयास पुराणों में ही किया गया है और इस बात के लिए प्रमाण हैं कि यह प्रयास गुप्त काल में ही किया गया।

'मनुस्मृति' के आधार पर गुप्त-युग में स्मृतियाँ भी लिखी गईं। याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन और बृहस्पति ने अपने स्मृति ग्रन्थों का प्रणयन गुप्त काल में ही किया। कात्यायन का स्मृति ग्रन्थ अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है किन्तु इसके उदाहरण अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं।

अर्थशास्त्र के आधार पर गुप्त-युग में केवल 'कामन्दकीय नीति सार' की ही रचना की गई। 'नीतिसार' के रचयिता कामन्दक ने कौटिल्य के सिद्धान्तों और शिक्षाओं को ही अपने ग्रन्थ का आधार बनाया है।

दार्शनिक साहित्य—गुप्त युग में प्रचुर दार्शनिक साहित्य का भी सृजन हुआ। हिन्दुओं, बौद्धों और जैनियों सभी धर्म वालों ने अपने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए अनेक ग्रन्थों की रचना की। सांख्य दर्शन पर सबसे पहले टीका लिखने वाले ईश्वर कृष्ण थे जिन्होंने 'सांख्यकारिका' नामक ग्रन्थ लिखा।

जैमिनि के 'मीमांसा सूत्र' की रचना गुप्तकाल के पूर्व हो चुकी थी किन्तु उन पर प्रामाणिक टीका, शाबर भाष्य का प्रणयन ईसा की चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ।

उद्योतकर नामक विद्वान ने सातवीं शताब्दी में वात्स्यायन के मतों की पुष्टि करते हुए दिङ्नाग के विचारों को काटा है। 'पदार्थधर्म संग्रह' का प्रणयन करके प्रशस्तपाद ने कणाद के वैशेषिक दर्शन को बहुत आगे बढ़ाया। प्रशस्तपाद का ग्रन्थ एक टीका मात्र नहीं है, वरन् इसकी विषय प्रतिपादन की शैली इतनी सुन्दर है कि मौलिक ग्रन्थ की उपादेयता को यह निश्चय ही बढ़ा देता है। चन्द्र नामक विद्वान ने 'दशपदार्थ शास्त्र' लिखा जिसका अब चीनी संस्करण ही प्राप्त है।

बौद्ध और जैन धर्मों में भी प्रचुर दार्शनिक साहित्य का सृजन हुआ।

गुप्त युग में बौद्ध धर्म की दो-दो उपशाखायें हो गई हैं। हीनयान की दो शाखायें थी—

(१) थेरवाद (स्थविरवाद) और वैभाषिक (सर्वास्तिवाद)। महायान सम्प्रदाय भी दो उपशाखाओं में विभक्त था—(१) माध्यमिक तथा (२) योगाचार। असङ्ग योगाचार सम्प्रदाय के सबसे प्रधान आचार्य थे। इनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ ये हैं—(१) 'महायान सम्परिग्रह' (२) 'प्रकरण आर्यवाचा' (३) 'महायानाभिधर्म सगीति-शास्त्र' (४) 'वज्र छेदिका टीका' (५) 'योगाचार भूमि शास्त्र। वसुबन्धु भी प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य और बड़े वाग्पटु थे। वसुबन्धु ने हीनयान और महायान दोनों पर ग्रन्थ लिखे। 'अभिधर्मकोष' इनकी सर्वप्रसिद्ध कृति है जिसका प्रणयन उन्होंने वैभाषिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का विवेचन करने के लिए किया था। बौद्धों के दार्शनिक साहित्य में आचार्य दिङ्नाग की रचनाओं का बहुत अधिक महत्व है। 'प्रमाण समुच्चय' इन का सबसे विख्यात ग्रन्थ है। 'न्याय प्रवेश' इनका दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। धर्मपाल नामक काञ्ची निवासी विद्वान ने योगाचार सम्प्रदाय का विकास करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। बुद्धघोष का बौद्ध दार्शनिकों में बड़ा गौरवपूर्ण स्थान है। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। 'विशुद्धिमग्ग' नामक ग्रन्थ में शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप पर बुद्धघोष ने बड़ा विशद विवेचन किया है। 'समन्तपासादिका' नामक ग्रन्थ 'विनयपिटक' के समस्त ग्रन्थों की टीका है। इस ग्रन्थ से तत्कालीन भौगोलिक और ऐतिहासिक क्षेत्रों का भी पता चलता है। 'सुमङ्गल विलासिनी' बुद्धघोष की एक सुविख्यात रचना है जिनमें 'दीर्घनिकाय' की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। कतिपय विद्वानों ने इस ग्रन्थ से बौद्ध धर्म के उदयकाल के ऐतिहासिक तथ्य ढूँढ़ निकाले हैं।

गुप्त युग को इस बात का गौरव प्राप्त है कि इसी युग मे जैन ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया गया और जैन दर्शन के महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन भी गुप्त काल मे ही हुआ। आचार्य सिद्धसेन गुप्त काल के प्रसिद्ध जैन आचार्य थे। इन्होंने दिङ्नाग की भाँति न्याय दर्शन पर ग्रन्थ लिखे। 'न्यायावतार' जैन न्याय का सबसे प्रामाणिक और प्रसिद्ध ग्रन्थ माना जाता है। उन्होंने 'तत्वानुसारिणी तत्वार्थ टीका' नामक मौलिक ग्रन्थ की रचना भी की। सिद्धसेन दिवाकर कवि भी थे। इनके स्तोत्र भक्ति और श्रद्धा के भावो से ओत-प्रोत हैं।

अन्य साहित्यिक ग्रन्थ—गुप्तयुग में प्रसिद्ध कोषकार अमरसिंह हुए जिन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अमरकोष' का प्रणयन किया। यह संस्कृत का सबसे प्रसिद्ध कोष है। चान्द्र काशमीर निवासी बौद्ध विद्वान ने एक व्याकरण ग्रन्थ लिखा जिसमें व्याकरण कि ऐसी पद्धति का विकास किया गया था जो ब्राह्मण तत्वों से मुक्त थी। चान्द्र का व्याकरण काशमीर, तिब्बत, नेपाल और लका मे बड़ा प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय था। मल्लिनाथ नामक प्रसिद्ध टीकाकार ने 'मेघदूत' की अपनी टीका में चान्द्र द्वारा चलाई गई व्याकरण-पद्धति का उल्लेख किया है। अन्य व्याकरण-ग्रन्थों की रचना भी गुप्त-युग में हुई। परन्तु इनमें से अधिकांश टीकाएँ थीं। कहा जाता है कि भर्तृहरि ने पतञ्जलि के महाभाष्य पर अपनी टीका लिखी परन्तु यह टीका उपलब्ध नहीं हुई है। जिनेन्द्रबुद्धि

ने 'काशिका' पर अपनी 'न्यास' नामक टीका लिखी। माघ ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'शिशुपाल वध' में 'न्यास' का उल्लेख किया है।

तामिल साहित्य—गुप्त काल का तामिल साहित्य प्रमुखतया धार्मिक है।

शैव नायनमारों और वैष्णव आलवारों ने तामिल भाषा में भक्ति विषयक सरस पदों की रचना की। वे सीधे-सादे भक्त थे और अपने उपास्य देवों के प्रति इन्होंने भक्ति तरंग में जो गीत गाये वे ही पदों के रूप में हो गये। नायनमारों और आलवारों के पदों में यह भाव प्रचुरता से व्यक्त किया गया है कि सर्वशक्तिमान् और भक्तवत्सल प्रभु तर्कमयी बुद्धि द्वारा नहीं अपितु भक्तिरस सने तथा तड़पते हुए हृदय द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

विज्ञान

गुप्त काल में विज्ञान की भी अधिक उन्नति हुई। ज्योतिष और गणित के क्षेत्र में गुप्त कालीन विज्ञान की महत्वपूर्ण देनें हैं। दशमलव पद्धति का जो विश्व-सभ्यता को भारत के अनेक उपहारों में से एक प्रमुख उपहार है, विकास गुप्त युग में ही हुआ। भारत में चिकित्सा पद्धति का गुप्त काल के पूर्व ही काफी विकास हो चुका था, गुप्त काल में विकसित चिकित्सा-विज्ञान का संरक्षण और संवर्द्धन किया गया, परन्तु दुर्भाग्यवश इस युग के चिकित्सा-विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थ हमें आज उपलब्ध नहीं।

ज्योतिष—आर्यभट्ट गुप्त-काल के सुप्रसिद्ध दैवज्ञ थे। आर्यभट्ट ने पृथ्वी की परिधि की अनुमानतः जो माप की थी आज तक वह प्रायः सही मानी जाती है। पृथ्वी गोल है तथा अपनी धुरी पर चलती है आदि बातों के प्रतिपादन करने का श्रेय आर्यभट्ट को ही प्राप्त है। नक्षत्र और खगोल विद्याओं के सम्बन्ध में इनकी मान्यताएँ काफी सीमा तक निर्दोष मानी जाती हैं। इन्होंने सूर्य और चन्द्रग्रहण के विषय में पौराणिक धारणा का बड़े साहस के साथ खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया कि ग्रहण में राहु का कोई स्थान नहीं है, यह चन्द्रमा तथा पृथ्वी की छाया का फल है। वराहमिहिर गुप्त काल के सबसे प्रसिद्ध ज्योतिषज्ञ थे। उन्होंने पाँच पुस्तकें लिखीं—(१) 'लघुजातक' (२) 'बृहज्जातक' (३) 'विवाह पटल' (४) 'योगमाया', (५) 'बृहत् संहिता', और (६) 'पञ्चसिद्धांतिक'। अन्तिम ग्रन्थ में इन्होंने रोमक, वशिष्ठ आदि सिद्धान्तों की विवेचना की है। वराहमिहिर ने ज्योतिषविद्या में यूनानियों के ऋण को स्वीकार किया है।

ब्रह्मगुप्त भी गुप्त काल के एक प्रसिद्ध ज्योतिषज्ञ थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'ब्रह्म सिद्धान्त' की रचना शक संवत् ५५० अर्थात् सन् ६२८ ई० में की।

गणित—गुप्त कालीन भारत में गणित की भी उन्नति हुई। इस समय ज्योतिष और गणित एक दूसरे के साथ काफी घनिष्ठ रूप में मिले हुए थे। इस काल के ज्योतिषज्ञ ही इस काल के प्रमुख गणितज्ञ थे। आर्यभट्ट ऐसे प्रथम विद्वान् थे जिन्होंने गणित को एक पृथक् विज्ञान माना। उनकी सबसे प्रधान देन है, अद्वितीय संख्या-पद्धति। संसार के किसी भी प्राचीन देश को दशमलव-पद्धति का ज्ञान नहीं था, किन्तु आज सारे संसार में यह प्रचलित है।

आयुर्वेद तथा रसायन शास्त्र—इस क्षेत्र में भी गुप्त-युगीन भारत ने महत्व-पूर्ण प्रगति की। नागार्जुन नामक प्रसिद्ध विद्वान् ने 'रसचिकित्सा' नामक नवीन चिकित्सा-पद्धति का आविष्कार किया जिसने चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण क्रान्ति समुपस्थित कर दी। नागार्जुन ने यह सिद्ध किया कि सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा आदि खनिज धातुओं में भी रोग-निवारण की शक्ति विद्यमान है। 'पारद' का भी आविष्कार नागार्जुन ने किया। शिल्पशास्त्र के भी अनेक ग्रन्थों का प्रणयन गुप्त-काल में किया गया।

कलाओं की उन्नति

गुप्त काल की कलात्मक प्रगति का अध्ययन हम इन शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे (१) वास्तु कला, (२) स्थापत्य-कला अथवा तक्षण कला, (३) चित्रकला और (४) संगीत-कला।

वास्तु कला—गुप्तकाल के पूर्ववर्ती युगों में स्तूप, चैत्य दरीगृह और विहार बनवाये जाते थे। गुप्त काल में न केवल इनका निर्माण-कार्य जारी ही रहा वरन् इनका चरम विकास भी हुआ। बौद्धों और जैनियों की भाँति ब्राह्मणों ने भी पर्वतों में गुफाओं को खुदवाया और उनमें साधुओं के निवास की व्यवस्था की। सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में ग्वालियर राज्य में भिलसा के निकट उदयगिरि में गुफा खुदवाई गई थी। गुफाओं में सुन्दर चित्र कभी-कभी बना दिये जाते थे। बाघ और अजन्ता की जगद्विख्यात चित्रकारी गुफाओं में ही खींची गई है।

गुप्त काल में अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया गया। इस समय के बचे हुये प्रमुख मन्दिरों में निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं.—

(१) जबलपुर जिले के तिगवा नामक स्थान में विष्णु मन्दिर,

(२) नागौद राज्य में भूमकर का शिव मन्दिर,

(३) आजमगढ़ राज्य के नचना कुथर में पार्वती का मन्दिर,

(४) बोधगया के बौद्ध मन्दिर,

(५) देवगढ़ का दशावतार मन्दिर,

(६) आसाम के दरंग जिले में ब्रह्मपुत्र नदी के तटपर यह परबतिया नामक स्थान में एक मन्दिर मिला है जो काफी जीर्ण दशा में है परन्तु कला की दृष्टि से यह मन्दिर काफी उत्कृष्ट है तथा

(७) नागौद राज्य के खोह नामक स्थान में एक शिव मन्दिर भी मिला है।

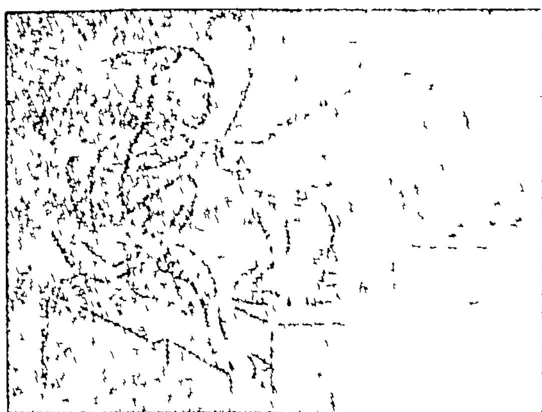
इन उपर्युक्त मन्दिरों के अतिरिक्त केवल ईंटों द्वारा निर्मित्त मन्दिर भी थे। भिटार गाँव का मन्दिर और पहाड़पुर तथा मध्य प्रान्त के सरपुर के मन्दिर ईंटों द्वारा ही बनाये गये हैं।

मूर्ति-कला—जैसा की हम पीछे कह आये हैं गुप्त कालीन मूर्तिकला पराकाष्ठा पर पहुँची हुई कला है।

मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित एक सजीवाकृति बुद्ध प्रतिमा गुप्त काल की आध्यात्मिक कालमयी मूर्तिकला का एक भव्य नमूना प्रस्तुत करती है। सारनाथ की बुद्ध-

प्रतिमा जिसमें भगवान तथागत बैठे हुए उपदेश देने की मुद्रा में प्रदर्शित किए गये हैं, भारत की मूर्तिकला के श्रेष्ठतम नमूनों में से एक है।

गुप्त काल में बौद्ध कलाकारों ने तथागत की प्रतिमाएँ बनाईं तो हिन्दू कलाकार भी अपने इष्टदेवों की मूर्तियों के निर्माण में उनसे पीछे न रहे। वैष्णव और शैव धर्मों के प्रचार से शिव तथा विष्णु की अनेक मूर्तियों का निर्माण हुआ। कोहली शिव लिङ्ग प्रतिमा इस काल की हिन्दू-कला का एक सुन्दर नमूना प्रस्तुत करती है। इस युग



चित्र १७ अजन्ता की चित्रकारी

के हिन्दू कलाकारों ने शकर के अर्धनारीश्वर रूप की प्रतिमा का निर्माण बड़े ही कौशल से किया। मथुरा से प्राप्त विष्णु की प्रतिमा में भी, सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा की भाँति, एक स्वर्गीय सन्तुष्टि तथा गम्भीर आध्यात्मिक ध्यान-मुद्रा के दर्शन होते हैं। उदयगिरि की विशाल वराह-मूर्ति गुप्त-कालीन कलाकार की प्रतिमा का एक सुन्दरतम् नमूना प्रस्तुत करती है। सूर्य, दुर्गा, स्वामिकार्त्तिकेय आदि देवी देवताओं की मूर्तियाँ भी इस काल में बनाई गई थीं। गुप्त-काल की मूर्ति-कला सजीवता, आध्यात्मिकता, सुघड़ता, सौंदर्य पूर्णता और सुरुचिसम्पन्नता में अपना सानी नहीं रखती।

चित्र कला—गुप्त-काल की चित्रकारी के नमूने हमें अजन्ता और बाघ की कन्दराओं के भित्ति चित्रों द्वारा प्राप्त होते हैं।

अजन्ता और बाघ की चित्रकला की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। यह हमारे सामने तत्कालीन जीवन का सजीव चित्र उपस्थित करती है। अजन्ता के चित्रकार प्रकृति के साथ स्नेहमयी भावना रखते थे। उन्होंने फलते हुये वृक्ष, मन्द गति से बहने वाले निर्झर तथा इतस्तत परिभ्रमण करने वाले अरण्य नागरिकों (पशुओं) के सजीव चित्र खींचे हैं। बन्दरों और हाथियों, हिरणों और शशकों को चित्रकारों ने बड़ी सहानुभूति के साथ चित्रित किया है।

सगीत—चित्रकला की भाँति सगीत का भी भारतीय साहित्य में प्रचुरता से उल्लेख मिलता है। गुप्त काल के साहित्य ग्रन्थों से पता चलता है कि इस समय गायन,

वादन तथा नर्त्तन तीनों संगीत के विभिन्न रूप थे और तीनों ही का समाज में प्रचलन था। समुद्रगुप्त के कुछ सिक्कों से पता लगता है कि उसकी वीणावादन में बहुत अधिक अभिरुचि थी और प्रयाग-प्रशस्ति में तो उसे अपने वीणा-वादन से नारद एवं तुम्बुरु को लज्जित करने वाला बतलाया गया है। गुप्त काल के कतिपय साहित्य ग्रन्थों से ऐसा संकेत मिलता है कि संगीत की शिक्षा देने के लिए शिक्षक नियुक्त किए जाते थे। समाज में नृत्य का भी काफी प्रचार था। अभिजात कुलों की नारियाँ संगीत की शिक्षा प्राप्त करती थीं। इस काल की गणिकायें संगीतादि ललित-कलाओं में बड़ी निपुण होती थीं।

मुद्रा-निर्माण-कला—यूनानियों से मुद्रा-निर्माण-कला सीखकर गुप्तों के शासन-काल में भारतवासियों ने इसको एक राष्ट्रीय कला का रूप प्रदान किया और इसे उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। गुप्त-सम्राटों ने कलापूर्ण सुवर्ण मुद्राएँ चलाईं। उनकी मुद्राओं की आकार-प्रकार की विभिन्नता इस काल की समृद्ध अवस्था का संकेत करती है। गुप्त सम्राटों के सिक्के निर्माण-सुघड़ता तथा रुचि की कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध हैं। उन पर स्पष्ट अक्षरों में लेख उत्कीर्ण हैं।

हमने पिछले पृष्ठों में गुप्त कालीन सभ्यता और संस्कृति का जो विवेचन किया है उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि गुप्त काल निस्सन्देह भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग था।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. गुप्त काल को भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग क्यों कहते हैं?
२. गुप्त कालीन समाज का चित्रण कीजिए।
३. गुप्त काल में भारत की आर्थिक अवस्था पर प्रकाश डालिए।
४. गुप्त काल में हमारी आर्थिक अवस्था कैसी थी?
५. गुप्तकालीन धार्मिक अवस्था पर प्रकाश डालिए।
६. गुप्तकालीन साहित्य एवं कला के विषय में आप क्या जानते हैं?

अध्याय २४

वाकाटक राजवंश

यदि गुप्त नरेशो का उत्तर भारत में गौरवपूर्ण एव आदरणीय स्थान था तो सम्पूर्ण मध्य प्रदेश, बरार एव दक्षिणी भारत मे वाकाटको का महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

कुल—वाकाटको के कुल के सम्बन्ध में इतना जान लेना आवश्यक है कि वाकाटक राजवश के सस्थापक विन्ध्यशक्ति एक द्विज थे और वे विष्णु भद्र' गोत्र के थे।

विन्ध्यशक्ति—जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, वाकाटक वश का प्रथम शासक विन्ध्यशक्ति था। पुराणो ने विन्ध्यशक्ति को उक्त वश का सस्थापक तथा विदिशा (आधुनिक भिलसा) और पुरिक (विदर्भ या आधुनिक बरार से सम्बद्ध) का शासक बताया है।

प्रवर सेन प्रथम—विन्ध्यशक्ति के पश्चात् उसका पुत्र प्रवरसेन प्रथम जिसे 'सम्राट' या सम्राट की उपाधि प्रदान की गई है, २७५ ई० म सिंहासनारूढ़ हुआ। इसकी प्रबल शक्ति का परिचय पुराण देते हैं और उनसे यह ज्ञात होता है कि इसने साम्राज्य का विस्तार करके चार अश्वमेध यज्ञ किये। प्रवरसेन ने एक विस्तृत साम्राज्य का निर्माण कर लिया था। चार अश्वमेध यज्ञो के सम्पादन से यह ध्वनित होता है कि उसने चार सफल रण-अभियान किये थे जिनके फलस्वरूप उसने विशाल साम्राज्य का निर्माण किया।

रुद्रसेन प्रथम—प्रवरसेन प्रथम के ज्येष्ठ पुत्र गौतमीपुत्र की मृत्यु पिता के सम्मुख ही हो चुकी थी। अत प्रवरसेन प्रथम के पश्चात् उसका पौत्र रुद्रसेन प्रथम शासक हुआ। वह ३६० ई० तक राज्य करता रहा और अपने पितामह की चार भागो मे राज्य-विभाजन की भूलो के फलस्वरूप उत्पन्न आपत्तियो का सामना करके पूर्व प्रतिष्ठा को बनाए रखने म सफल हुआ।

पृथ्वीषेण प्रथम—रुद्र सेन प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र पृथ्वीषेण ३६० ई० मे सिंहासन पर बैठा।

पृथ्वीषेण प्रथम ने बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था और तभी गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उसके पुत्र रुद्रसेन (द्वितीय) के बन्धु से अपनी पुत्री प्रभावती का ब्याह करने का निश्चय किया जो सम्भवत ३८० मे पाटलिपुत्र म सम्पन्न हुआ। पच्चीस वर्षो तक राज्य करने के पश्चात् ३८५ ई० मे पृथ्वीषेण प्रथम का देहावसान हो गया।

रुद्रसेन द्वितीय—पृथ्वीषेण प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ। इस पर इसके श्वसुर चन्द्रगुप्त द्वितीय का बहुत प्रभाव था जिसका प्रमाण यह है कि इसने अपने पूर्वजो के शैव धर्म का त्याग करके चन्द्रगुप्त द्वितीय के वैष्णव धर्म को स्वीकार कर लिया। इसके राज्यकाल में राज्य समृद्धसम्पन्न था। रुद्रसेन साहसी और वीर पुरुष था। ३९० ई० मे उसकी अप्रत्याशित अकाल मृत्यु (३० वर्ष की अवस्था में) हो गई।

प्रभावती गुप्ता—पति की अकाल मृत्यु के समय प्रभावती गुप्ता के दो बालक दिवाकर सेन तथा दामोदर सेन थे जिनकी आयु क्रमशः पाँच और दो वर्ष की थी। अत. अपने पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय का पूर्ण सक्रिय सहयोग प्राप्तकर प्रभावती गुप्ता दिवाकर सेन की संरक्षिका के रूप में राज्य करने लगी। इतने महान् सम्राट का योग प्राप्त कर लेने से प्रभावती गुप्ता को किसी प्रकार का संशय न रह गया।

प्रभावती गुप्ता पर एक दूसरी विपत्ति फट पडी। उसके संरक्षण-काल के तेरहवें वर्ष मे उसके ज्येष्ठ पुत्र दिवाकर सेन की अकस्मात् मृत्यु हो गई। फलस्वरूप प्रभावती गुप्ता को पाँच-छ वर्षों तक और संरक्षण करना पड़ा। ४१० ई० में दामोदर सेन प्रवरसेन द्वितीय के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ।

प्रवरसेन द्वितीय—इसमें राज्य की अपेक्षा कला के लिए विशेष अनुराग था और कहा जाता है कि सेतु-बन्धु नामक कविता की भी इसने रचना की थी। इसने प्रवर पुर नामक नई राजधानी की स्थापना की जो सम्भवत वर्धा जिले में पवनार था। प्रवरसेन के लगभग एक दर्जन ताम्रपत्र प्राप्त होते है, जिनमे किसी प्रकार के रण-अभियान का उल्लेख नहीं किया गया है।

लगभग ३० वर्षों तक राज्य करने के पश्चात् ४४० ई० में प्रवरसेन की मृत्यु हो गई।

नरेन्द्र सेन—कुछ विद्वानो का ऐसा अनुमान है कि प्रवरसेन द्वितीय के पश्चात् उत्तराधिकार का युद्ध हुआ जिसमें नरेन्द्रसेन को सफलता प्राप्त हुई।

बस्तर के शासक नल-नरेश भवदत्त वर्मन ने नरेन्द्रसेन पर आक्रमण किया और उसने उसके राज्य मे प्रवेश करके कुछ जिले छीन लिए। किन्तु शीघ्र ही भवदत्त वर्मन की मृत्यु के पश्चात नरेन्द्रसेन, ने उसके उत्तराधिकारी अर्थपति को युद्ध मे पराजित कर दिया और इस प्रकार वाकाटक राज्य का नलों द्वारा अधिकृत भाग पुनः रुद्रसेन के हाथ में आ गया। ४९० ई० मे इसका शासन समाप्त हो गया और उसका पुत्र पृथ्वीषेण द्वितीय गद्दी पर बैठा। इसका शासन-काल ५२० ई० तक रहा और अन्त में उसके किसी पुत्र के हाथ मे न जाकर वेसीम शाखा के महीषेण के हाथ मे चली गई।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ वाकाटक वंश के विषय में आप क्या जानते हैं?

२. वाकाटक वंश के किसी दो महान शासक का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

अध्याय २५

गुप्त साम्राज्य के पश्चात् से लेकर हर्ष के उत्थान के पूर्व का भारत

गुप्तों के साम्राज्य के धराशायी हो जाने पर उत्तरी भारत मे पुन एक बार राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति प्रधान हो गई। स्कन्द गुप्त के मरते ही साम्राज्य के एक प्रान्त सुराष्ट्र मे मैत्रकों ने प्राय गुप्त के विरुद्ध विद्रोह करके अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। गुप्त साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर जिन राज्यो और राजवंशो की स्थापना हुई उनमे ये उल्लेखनीय हैं—(१) वलभी के मैत्रको का राज्य, (२) मगध के उत्तरकालीन गुप्त और (३) कन्नोज का मौखरी राज्य। ये राज्य एक दूसरे पर आक्रमण करके अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न करते थे और इतना ही नहीं, कुछ महत्वाकांक्षी नरेश अपनी राजनीतिक प्रभुता अपने अन्य समकालीन नरेशो पर जमाने का स्वप्न देखते थे। हम इस काल के विभिन्न राज्यो का अध्ययन करने के पूर्व उस विपत्ति के विषय मे जान लेना चाहते हैं जो हूण आक्रमण के नाम से कही जाती है।

हूणों का आक्रमण

स्कन्द गुप्त के विषय में पढ़ते हुए हम हूणो के विषय मे कुछ जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार स्कन्द गुप्त ने अपने प्रबल पराक्रम द्वारा हूणो को देश की सीमा के बाहर धकेल दिया और अगले डेढ़ सौ वर्षों तक अपने राज्य को उनके बर्बर आक्रमणो से बचाये रखा। परन्तु इस प्रबल प्रतिरोध से विफल-मनोरथ हो जाने पर भी हूण सदैव के लिए हतोत्साहित नहीं हो सके। उन्होने शक्ति सञ्चय करके पाँचवीं शताब्दी के अन्त मे पुन. भारत की ओर अपनी दृष्टि फेरी। इस बार हूणों को तोरमाण जैसा पराक्रमी और महत्वाकांक्षी नेता प्राप्त हो गया। उसके नेतृत्व में टिड्डीदल की भाँति हूण लोग पश्चिमोत्तर और मध्य भारत मे छा गये। इस समय उनके आक्रमण और प्रसार को रोकने वाला, दुर्भाग्यवश कोई स्कन्द गुप्त नहीं था जिससे वे लोग भारतीय सीमा मे बिना किसी विशेष प्रबल रोक-टोक के घुस पड़े। तोरमाण के नेतृत्व मे हूणो ने गुप्त साम्राज्य की रीढ़ तोड़ दी और कई प्रान्तों पर अपना अधिकार जमा लिया। उसके सैनिकों ने भयंकर मार काट मचाई और निरपराध स्त्री-पुरुषों तथा बच्चों तक को तलवार के घाट उतार दिया। मालवा पर तोरमाण का अधिकार हो गया। परन्तु तोरमाण अधिक समय तक मालवा पर अधिकार जमाने मे सफल न हो सका। सन् ५१० ई० के लगभग हूण लोग मध्य भारत और मालवा से निकाल दिये गये। हूणो को इन प्रदेशो से निष्कासित करने वाला वीर भानुगुप्त बालादित्य था। हूणा के नेता तोरमाण की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र मिहिरकुल उसका उत्तराधिकारी हुआ।

मिहिरकुल अपने पिता से अधिक नृशंस क्रूरकर्मा बतलाया गया है। अनुश्रुतियों में उसका जो विवरण दिया गया है उससे यह पता चलता है कि वह बड़ा ही निर्दय तथा रक्तपिपासु था। नर संहार और रक्तपात में उसे अभिरुचि थी और

चित्र १८

इनके द्वारा उसका मनोरञ्जन होता था। ह्वेनसांग और कास्मस (Cosmas) के

लेखों से यह प्रमाणित होता है कि मिहिरकुल ने बौद्धों पर बहुत अत्याचार किया। बौद्ध विहारों को लुटवा कर उसमे उसने आग लगवा दी। मिहिरकुल ने बालादित्य पर भी आक्रमण किया परन्तु इस बार उसकी एक न चल सकी और उसे गहरी पराजय उठानी पडी। बालादित्य ने न केवल उसे युद्ध मे पराजित ही किया वरन् उसे अपना युद्ध-बन्दी भी बना लिया। किन्तु राजमाता के अनुरोध से मिहिरकुल मुक्त कर दिया गया। मिहिरकुल ने इसके बाद काश्मीर के राजा के यहाँ शरण ली। काश्मीर नरेश ने उसका काफी आदरसत्कार किया और उसे अपना अतिथि बनाया। परन्तु बर्बर और असभ्य हूण ने राजा के साथ विश्वासघात किया और उसके राज-सिंहासन पर षडयन्त्र द्वारा अधिकार कर लिया। परन्तु अपने इस दुर्व्यवहार का मिहिरकुल को शीघ्र ही फल भोगना पडा और उसे मृत्यु उठा ले गयी।

मालवराज यशोधर्मन--इस काल की प्रमुख राजनीतिक शक्तियों मे मालवा के सामन्त यशोधर्मन का महत्वपूर्ण स्थान था। उसने उन प्रदेशो को भी विजित किया जिन पर गुप्त सम्राटो का आधिपत्य नहीं था और न तो जहाँ राजाओं के मुकुट को ध्वस्त करने वाली हूणों की आज्ञा ही प्रवेश कर पाई थी। इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि यशोधर्मन ने अपने राज्य की सीमाओ को पार कर सुदूरवर्ती भागों पर भी विजय प्राप्त की।

जबकि श्वेत हूणो ने उत्तर-पश्चिम मे अपनी शक्ति बढ़ा ली तो यशोधर्मन ने उनकी बराबरी मे अपनी सत्ता स्थापित की और गुप्तो की परवाह न करते हुए उसने पूर्व की ओर अपनी सत्ता बढ़ाई। तब अपने नये सामन्तो की सहायता प्राप्त कर उसने हूणों को निकाल बाहर कर दिया और उत्तर भारत का एकछत्र सम्राट् बन बैठा।

वलभी का मैत्रक राजवंश (५०६-७७)

हमने इस अध्याय के प्रारम्भ मे ही यह बतलाया है कि स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद गुप्त साम्राज्य का एक सुदूरवर्ती प्रान्त सुराष्ट्र मे पृथक हो गया और वहाँ पर एक स्वतन्त्र राजवंश की सत्ता प्रतिष्ठापित हो गई। सुराष्ट्र के सेनापति भट्टारक ने वलभी (भावनगर के समीपस्थ) पाँचवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे नया राजकुल स्थापित किया।

वलभी के राजकुल का इतिहास—भट्टारक ने सुराष्ट्र मे एक नये राजकुल की स्थापना अवश्य की परन्तु सम्भवतः वह पूर्णरूपेण स्वतन्त्र नहीं था। भट्टारक स्वयं अपने को 'सेनापति' कहता रहा और उसके उत्तराधिकारियो ने भी 'सेनापति' कहलाना जारी रक्खा। परन्तु बाद के नरेशो ने महाराज का विरुद धारण किया। द्रोणसिंह, ध्रुवसेन प्रथम, धरपट्ट, गुहसेन तथा धरसेन द्वितीय ने 'महाराज' की पदवी धारण की थी। इससे कुछ विद्वानो ने यह अनुमान लगाया है कि वलभी के मैत्रक नरेश या तो गुप्तो का आदर करने के लिए नाममात्र को उनकी अधीनता स्वीकार करते थे अथवा वे किसी अन्य शक्ति के सम्भवतः हूणो के आधिपत्य मे स्थायी रूप से रहे।

वलभी का एक प्रतापी राजा शीलादित्य था। इसने अपने राज्य की सीमा का विस्तार किया जिसका प्रमाण हमें चीनी यात्री ह्वेनसाँग के द्वारा प्राप्त होता है। शीलादित्य का शासन-काल ५८० ई० के लगभग ठहरता है।

शीलादित्य की मृत्यु सम्भवत. ६१२ सन् ईसवी में हुई जिसके बाद उसका अनुज खरग्रह वलभी के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। खरग्रह के बाद उसका पुत्र धरसेन तृतीय राजा हुआ। इन दोनों राजाओं के विषय में हमें विशेष रूप से कुछ ज्ञात नहीं, केवल इतना मालूम हुआ है कि वे क्रमशः ६१६ सन् ई० और ६२३ ई० में राज्य कर रहे थे। धरसेन तृतीय के शासन-काल में वलभी के राज्य मे उत्तरी गुजरात सम्मिलित था।

ध्रुवसेन द्वितीय—धरसेन तृतीय का उत्तराधिकारी ध्रुवसेन द्वितीय था। ध्रुवसेन द्वितीय धरसेन का छोटा भाई था। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने रण-अभियान के सम्बन्ध मे सम्भवत हर्ष ने वलभी पर भी आक्रमण किया होगा, "जबकि वहाँ का राजा ध्रुवसेन (ध्रुवभट्ट) भड़ौच के दद्द का आश्रय प्राप्त करने के लिए देश छोड़ कर भाग गया और उसकी सहायता से ही अन्त में अपने राज्य पर पुनः अधिकार कर सका। निश्चय ही उसके और हर्षवर्धन के बीच सन्धि हुई जिसने अपने इस राजनीतिक सम्बन्ध को वलभी-नरेश को अपना जामाता बना कर अत्यन्त दृढ़ कर लिया। यात्री सूचित करता है कि हर्ष के प्रयाग-सम्मेलन में उपस्थित होने वाले नरेशों में ध्रुव भट्ट भी था जो वहाँ सम्राट् के अनेक मित्र-नरेशों में एक मित्र-नरेश के रूप मे उपस्थित हुआ था।

धरसेन चतुर्थ—ध्रुवसेन द्वितीय का पुत्र एव उत्तराधिकारी धरसेन चतुर्थ था। यह एक समर्थ और शक्तिमान नरेश था। उसने एक चक्रवर्ती नरेश की समस्त उपाधियाँ 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर,' तथा 'चक्रवर्तिन्' धारण कर रक्खी थीं। कुछ विद्वानों की धारणा है कि 'भट्टिकाव्य' का रचयिता भट्टि इसी धरसेन की राजसभा को सुशोभित करता था। धरसेन एक वीर विजेता भी था। उसने जरात के ऊपर अपना अधिपत्य स्थापित किया। उसने भड़ौच के विजय स्कन्धावार से एक दान दिया था जिससे यह प्रतीत होता है कि इस समय भड़ौच उसके अधिकार मे आ गया था।

धरसेन चतुर्थ के पश्चात् वलभी का राज्य—धरसेन चतुर्थ के एक शती बाद तक मैत्रक कुल का राज्य वलभी पर बना रहा। इस वंश के अन्तिम नरेश शीलादित्य सप्तम की अन्तिम ज्ञात तिथि गुप्त संवत् ४७७-७६६ है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस समय तक मैत्रक वंश का अस्तित्व कायम रहा। परन्तु धरसेन चतुर्थ के पश्चात् से लेकर इस समय तक के वलभी राज्य का इतिहास तिमिराच्छादित है। इस राज्य का राजनीतिक गौरव भले ही कम हो गया हो परन्तु इसका सांस्कृतिक महत्व और अधिक समय तक रहा। अरब आक्रमणकारियों ने सन् ७७० ई० के लगभग वलभी के राज्य का अन्त कर दिया।

वलभी का आर्थिक और सांस्कृतिक महत्व

यद्यपि वलभी की राजनीतिक शक्ति बहुत अधिक नहीं थी और समकालीन

राजनीतिक शक्तियों में इसका स्थान बहुत अधिक गौरवपूर्ण नहीं था तथापि इसकी आर्थिक समृद्धि और सांस्कृतिक महत्व को भुलाया नहीं जा सकता। वलभी राज्य की आर्थिक और सामरिक स्थिति बड़ी महत्वपूर्ण थी। हमने गुप्त युग की आर्थिक अवस्था पर विचार करते हुए यह देखा है कि भड़ौंच एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। कुछ समय बाद जब यह वलभी के राज्य में सम्मिलित हो गया तो इसकी आर्थिक समृद्धि के स्रोत काफी बढ़ गए। स्वयं वलभी की स्थिति बड़ी हितकर और आर्थिक क्रिया-कलापों के अनुकूल थी।

वलभी की इस आर्थिक समृद्धि ने वहाँ पर संस्कृति और सभ्यता के विकास को सुगम बना दिया। वलभी में शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था और यह नगरी अपने विद्यालय के कारण विख्यात थी। ६४० ई० में वलभी में लगभग एक सौ बुद्ध विहार थे और उनमें छः हजार भिक्षु विद्यार्थी रहते थे। सातवीं शताब्दी के मध्य में स्थिर-मति और गुणमति नामक सुविख्यात बौद्ध विद्वान इस नगरी के ख्यातनामा आचार्य थे। नालन्दा की भाँति वलभी में संकीर्ण धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती थी। केवल बौद्ध धर्म और तत्सम्बन्धी विषय ही वहाँ के पाठ्यक्रम में सम्मिलित नहीं थे बल्कि अन्य विषयों की भी यहाँ शिक्षा दी जाती थी। केवल बौद्ध भिक्षु ही यहाँ शिक्षा प्राप्त नहीं करते थे अपितु ब्राह्मण विद्यार्थी भी यहाँ विद्या प्राप्त करने के लिए आते थे।

वलभी के विश्वविद्यालय का व्यय वहाँ के समृद्ध व्यापारियों और शासकों द्वारा वहन किया जाता था। विश्वविद्यालय इन व्यापारी राजकुमारों से पर्याप्त पोषण प्राप्त करता था। मैत्रक नरेश भी जो ४८० से लेकर ७७५ सन् ईसवी तक वहाँ शासन करते थे, विद्या के महान् संरक्षक थे। वे विश्वविद्यालय के सामान्य खर्चों की पूर्ति के लिए और विश्वविद्यालय को सुदृढ़ करने के लिए भी प्रत्यक्ष अनुदान दिया करते थे। सन् ७७५ ई० तक यही व्यवस्था बनी रही। इसके बाद जब अरब आक्रमण के फलस्वरूप मैत्रक वंश का नाश हो गया तो विश्वविद्यालय का प्राचीन गौरव कुछ समयों के लिए लुप्त हो गया। परन्तु मैत्रकों के उत्तराधिकारियों ने भी, यद्यपि इतिहास इनके विषय में हमें अधिक नहीं बताता विश्वविद्यालय को राज्य-संरक्षण देना जारी रखा और वलभी की नगरी शिक्षा केन्द्र के रूप में अपनी ख्याति बारहवीं शताब्दी तक अक्षुण्ण रखने में समर्थ हो सकी।

मौखरियों का राज्य

इस समय उत्तर भारत में मौखरियों का राज्य एक प्रबल राजनीतिक शक्ति के रूप में विद्यमान था।

प्रारम्भिक मौखरि नरेश सामन्तोचित विरुद धारण करते थे। उनको 'सामन्त चूडामणि' तथा 'सामन्त' ही कहा गया है। सम्भवतः वे गुप्त नरेशों के अनुवर्ती सामन्त थे। ईशान वर्मन ने अपने कुल की स्वतन्त्र राजसत्ता का विकास करके अपने को गौरवान्वित किया और साथ ही साथ अपने वंश की मर्यादा भी बढ़ाई। वह सर्व-प्रथम मौखरि नरेश था जिसने सम्राट का विरुद धारण किया। परन्तु यह विरुद मात्र न था। ईशान वर्मन एक योद्धा और वीर विजेता था। उसके हरहा अभिलेख में

उसकी सैन्य-सफलताओं का उल्लेख किया गया है जिससे विदित होता है कि उसने आन्ध्रों को जीता, लूलिकों को परास्त किया और गौड़ों को उनकी सीमा के भीतर घेर रक्खा। इस प्रकार उसकी शक्ति बढ़ने पर उसके समकालीन गुप्त नरेशों को चिन्ता हुई। ईशान वर्मन ने अपने को गुप्त का एक प्रबल प्रतिद्वन्द्वी प्रमाणित किया। सम्भवतः उसने हूणों से भी युद्ध किया। कदाचित वह सन् ५५४ ई० में शासन कर रहा था। उसने मगध के गुप्त नरेश से भी लोहा लिया। इस समय से मौखरियों और परवर्ती गुप्त शासकों का पारस्परिक संघर्ष प्रारम्भ हो गया। गङ्गा की उपरली घाटी में मौखरी राजकुल सबसे अधिक शक्तिशाली राजनीतिक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। सर्ववर्मन ईशानवर्मन का पुत्र और उत्तराधिकारी था। उसने अपने समकालीन मगध-नरेश को जो गुप्त वंश का था और जिसका नाम दामोदर गुप्त था युद्ध में पराजित कर दिया और उसकी हत्या भी कर डाली। सर्ववर्मन का राज सम्भवतः बंगाल से लेकर सतलज और विन्ध्य तक फैला था। सर्ववर्मन के पश्चात् अवन्ति वर्मन उसका उत्तराधिकारी हुआ। अवन्तिवर्मन भी एक शक्तिशाली नरेश था। गुणवर्मन नामक एक मौखरिनरेश (सातवीं शताब्दी का प्रारम्भ) ने हर्ष गुप्त की भगिनी से पाणिग्रहण किया था। मालवा के गुप्त नरेश देवगुप्त ने गुणवर्मन का वध कर दिया। हर्ष ने देवगुप्त को पराजित करके अपनी भगिनी के संरक्षक रूप में मौखरी-राज्य का भार अपने ऊपर वहन कर लिया। इस प्रकार वर्द्धनों ने मौखरियों की सम्राटोचित स्थिति को प्राप्त कर लिया। इसके पश्चात् मौखरियों की मुख्य शाखा का अन्त हो गया। मौखरियों की अनेक शाखायें थीं जिनमें उत्पन्न राजकुमार कुछ दिनों तक और शासन करते रहे परन्तु मूल मौखरी-कुल की राजसत्ता समाप्त हो गई। मौखरियों का शासन ५५४ ई० से ६०६ ई० तक रहा।

मगध और मालवा के उत्तरकालीन गुप्त नरेश

हमने गुप्तों के राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध में देख लिया है कि किस प्रकार गुप्त वंश का विनाश हुआ। गुप्त-साम्राज्य के कुछ भाग को मगध के अनुवर्ती गुप्त नरेशों ने उत्तराधिकार में प्राप्त किया। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि यद्यपि इन राजाओं के नामों के अन्त में 'गुप्त' लगा रहता था और वे मगध पर शासन करते थे तथापि इस बात को सिद्ध करने के लिए कोई प्रबल प्रमाण नहीं है कि ये अनुवर्ती गुप्त नरेश गुप्त सम्राटों के वंशज थे। डा० रमेश चन्द्र मजूमदार का विश्वास है कि परवर्ती गुप्तों का इतिहास बहुत सी बातों में मौखरियों के इतिहासों से मिलता-जुलता है। वे भी पहले गुप्त सम्राटों के सामन्त थे और अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा उन्होंने प्रायः उसी समय की जिस समय मौखरियों ने की थी। गया के निकट अफसड़-अभिलेख में इस वंश के प्रारम्भिक नरेशों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं—

१. कृष्णगुप्त,
२ हर्षगुप्त,
३. जीवित गुप्त,
४. कुमार गुप्त,
५. दामोदर गुप्त,
६ महासेन गुप्त,
७ माधव गुप्त तथा
८. आदित्य सेन।

राजनीतिक शक्तियो में इसका स्थान बहुत अधिक गौरवपूर्ण नहीं था तथापि इसकी आर्थिक समृद्धि और सास्कृतिक महत्व को भुलाया नही जा सकता। वलभी राज्य की आर्थिक और सामरिक स्थिति बडी महत्वपूर्ण थी। हमने गुप्त युग की आर्थिक अवस्था पर विचार करते हुए यह देखा है कि भड़ौच एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। कुछ समय बाद अब यह वलभी के राज्य मे सम्मिलित हो गया तो इसकी आर्थिक समृद्धि के स्रोत काफी बढ़ गए। स्वय वलभी की स्थिति बड़ी हितकर और आर्थिक क्रिया-कलापो के अनुकूल थी।

वलभी की इस आर्थिक समृद्धि ने वहाँ पर सस्कृति और सभ्यता के विकास को सुगम बना दिया। वलभी मे शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था और यह नगरी अपने विद्यालय के कारण विख्यात थी। ६४० ई० मे वलभी मे लगभग एक सौ बुद्ध विहार थे और उनमे छ हजार भिक्षु विद्यार्थी रहते थे। सातवीं शताब्दी के मध्य मे स्थिर-मति और गुणमति नामक सुविख्यात बौद्ध विद्वान इस नगरी के ख्यातनामा आचार्य थे। नालन्दा की भाँति वलभी में सकीर्ण धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती थी। केवल बौद्ध धर्म और तत्सम्बन्धी विषय ही वहाँ के पाठ्यक्रम मे सम्मिलित नही थे बल्कि अन्य विषयों की भी यहाँ शिक्षा दी जाती थी। केवल बौद्ध भिक्षु ही यहाँ शिक्षा प्राप्त नहीं करते थे अपितु ब्राह्मण विद्यार्थी भी यहाँ विद्या प्राप्त करने के लिए आते थे।

वलभी के विश्वविद्यालय का व्यय वहाँ के समृद्ध व्यापारियो और शासकों द्वारा वहन किया जाता था। विश्वविद्यालय इन व्यापारो राजकुमारो से पर्याप्त पोषण प्राप्त करता था। मैत्रक नरेश भी जो ४८० से लेकर ७७५ सन् ईसवी तक वहाँ शासन करते थे, विद्या के महान् सरक्षक थे। वे विश्वविद्यालय के सामान्य खर्चों की पूर्ति के लिए और विश्वविद्यालय को सुदृढ़ करने के लिए भी प्रत्यक्ष अनुदान दिया करते थे। सन् ७७५ ई० तक यही व्यवस्था बनी रही। इसके बाद जब अरब आक्रमण के फलस्वरूप मैत्रक वश का नाश हो गया तो विश्वविद्यालय का प्राचीन गौरव कुछ समयो के लिए लुप्त हो गया। परन्तु मैत्रको के उत्तराधिकारियो ने भी, यद्यपि इतिहास इनके विषय मे हमे अधिक नहीं बताता विश्वविद्यालय को राज्य-सरक्षण देना जारी रक्खा और वलभी की नगरी शिक्षा केन्द्र के रूप मे अपनी ख्याति बारहवीं शताब्दी तक अक्षुण्ण रखने मे समर्थ हो सकी।

मौखरियों का राज्य

इस समय उत्तर भारत मे मौखरियो का राज्य एक प्रबल राजनीतिक शक्ति के रूप मे विद्यमान था।

प्रारम्भिक मौखरि नरेश सामन्तोचित विरुद धारण करते थे। उनको 'सामन्त चूडामणि' तथा 'सामन्त' ही कहा गया है। सम्भवत वे गुप्त नरेशो के अनुवर्ती सामन्त थे। ईशान वर्मा ने अपने कुल की स्वतन्त्र राजसत्ता का विकास करके अपने को गौरवान्वित किया और साथ ही साथ अपने वश की मर्यादा भी बढ़ाई। वह सर्व-प्रथम मौखरि नरेश था जिसने सम्राट का विरुद धारण किया। परन्तु यह विरुद मात्र न था। ईशान वर्मन एक योद्धा और वीर विजेता था। उसके हरहा अभिलेख में

उसकी सैन्य-सफलताओं का उल्लेख किया गया है जिससे विदित होता है कि उसने आन्ध्रों को जीता, लूलिकों को परास्त किया और गौडों को उनकी सीमा के भीतर घेर रक्खा। इस प्रकार उसकी शक्ति बढ़ने पर उसके समकालीन गुप्त नरेशों को चिन्ता हुई। ईशान वर्मन ने अपने को गुप्त का एक प्रबल प्रतिद्वन्द्वी प्रमाणित किया। सम्भवतः उसने हूणों से भी युद्ध किया। कदाचित वह सन् ५५४ ई० में शासन कर रहा था। उसने मगध के गुप्त नरेश से भी लोहा लिया। इस समय से मौखरियों और परवर्ती गुप्त शासकों का पारस्परिक संघर्ष प्रारम्भ हो गया। गङ्गा की उपरली घाटी में मौखरी राजकुल सबसे अधिक शक्तिशाली राजनीतिक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। सर्ववर्मन ईशानवर्मन का पुत्र और उत्तराधिकारी था। उसने अपने समकालीन मगध-नरेश को जो गुप्त वंश का था और जिसका नाम दामोदर गुप्त था युद्ध में पराजित कर दिया और उसकी हत्या भी कर डाली। सर्ववर्मन का राज सम्भवतः बंगाल से लेकर सतलज और विन्ध्य तक फैला था। सर्ववर्मन के पश्चात् अवन्ति वर्मन उसका उत्तराधिकारी हुआ। अवन्तिवर्मन भी एक शक्तिशाली नरेश था। गुणवर्मन नामक एक मौखरिनरेश (सातवीं शताब्दी का प्रारम्भ) ने हर्ष गुप्त की भगिनी से पाणिग्रहण किया था। मालवा के गुप्त नरेश देवगुप्त ने गुणवर्मन का वध कर दिया। हर्ष ने देवगुप्त को पराजित करके अपनी भगिनी के संरक्षक रूप में मौखरी-राज्य का भार अपने ऊपर वहन कर लिया। इस प्रकार वर्द्धनों ने मौखरियों की सम्राटोचित स्थिति को प्राप्त कर लिया। इसके पश्चात् मौखरियों की मुख्य शाखा का अन्त हो गया। मौखरियों की अनेक शाखायें थीं जिनमें उत्पन्न राजकुमार कुछ दिनों तक और शासन करते रहे परन्तु मूल मौखरी-कुल की राजसत्ता समाप्त हो गई। मौखरियों का शासन ५५४ ई० से ६०६ ई० तक रहा।

मगध और मालवा के उत्तरकालीन गुप्त नरेश

हमने गुप्तों के राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध में देख लिया है कि किस प्रकार गुप्त वंश का विनाश हुआ। गुप्त-साम्राज्य के कुछ भाग को मगध के अनुवर्ती गुप्त नरेशों ने उत्तराधिकार में प्राप्त किया। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि यद्यपि इन राजाओं के नामों के अन्त में 'गुप्त' लगा रहता था और वे मगध पर शासन करते थे तथापि इस बात को सिद्ध करने के लिए कोई प्रबल प्रमाण नहीं है कि ये अनुवर्ती गुप्त नरेश गुप्त सम्राटों के वंशज थे। डा० रमेश चन्द्र मजूमदार का विश्वास है कि परवर्ती गुप्तों का इतिहास बहुत सी बातों में मौखरियों के इतिहासों से मिलता-जुलता है। वे भी पहले गुप्त सम्राटों के सामन्त थे और अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा उन्होंने प्रायः उसी समय की जिस समय मौखरियों ने की थी। गया के निकट अफसड़-अभिलेख में इस वंश के प्रारम्भिक नरेशों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं—

१. कृष्णगुप्त,
२ हर्षगुप्त,
३ जीवित गुप्त,
४ कुमार गुप्त,
५. दामोदर गुप्त,
६. महासेन गुप्त,
७. माधव गुप्त तथा
८. आदित्य सेन।

अनुवर्ती गुप्तों के राजकुल की संस्थापना कृष्णगुप्त ने मगध में की। कृष्णगुप्त और उसके पुत्र हर्षगुप्त के विषय में हमारा ज्ञान बिलकुल शून्य है। तृतीय नरेश जीवित गुप्त ने हिमालय प्रदेश और समुद्र तट पर अपना शौर्य प्रदर्शित किया और इन स्थानों पर उसने लड़ाइयाँ लड़ीं।

उपर्युक्त सूची के चतुर्थ राजा कुमारगुप्त के विषय में कुछ बातों का पता चलता है। कुमारगुप्त एक प्रतापी राजा था। उसने अपने समकालीन मौखरि-नरेश ईशान वर्मन को पराजित करके उसके राज्य के कुछ भाग पर अपना अधिकार जमा लिया।

कुमारगुप्त के उपरान्त दामोदरगुप्त भी एक प्रतापी नरेश था। अफसड़ अभिलेख से सिद्ध होता है कि दामोदर गुप्त ने भी मौखरियों को पराजित किया परन्तु बाद में युद्ध-भूमि में ही उसकी मृत्यु हुई।

दामोदरगुप्त का उत्तराधिकारी महासेन गुप्त था। 'हर्षचरित' से ज्ञात होता है कि महासेनगुप्त पूर्वी मालवा चला गया और वहाँ पर उसने अपने राजकुल की प्रतिष्ठापना की। महासेनगुप्त के राज्य की सीमाओं के विषय में हमें अपेक्षाकृत कुछ निश्चित आधार मिल जाते हैं। 'हर्षचरित' में महासेन गुप्त को मालव नरेश कहा गया है। उसने ब्रह्मपुत्र के तट तक अपना [illegible] की। इसका उल्लेख हमें अफसड़-अभिलेख द्वारा प्राप्त होता है।

महासेनगुप्त का उत्तराधिकारी माधवगुप्त था [illegible] माधवगुप्त कहता था जिससे इन दोनों में परस्पर द्वन्द्व [illegible] देवगुप्त [illegible] कुमारगुप्त को [illegible] माधवगुप्त [illegible] उसका पुत्र [illegible] प्रतापी नरेश था।

आदित्यसेन [illegible] अपनी राज्य सीमा को [illegible] आदित्यसेन [illegible] उसकी सत्ता [illegible] था।

आदित्यसेन के बाद उसका पुत्र [illegible] का [illegible] हुआ। उस ६८० ई० के [illegible] किया था। [illegible] शासन [illegible] पर [illegible] किया। उस [illegible] गया।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ [illegible] के आक्रमण पर संक्षेप रूप में प्रकाश डालिए।

२ गजनी के [illegible] के विषय में आप क्या जानते हैं?

३ परवर्ती गुप्तों का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

अध्याय २६

थानेश्वर का वर्द्धन वंश

पिछले परिच्छेद में बताया गया था कि भारत में राजनीतिक अशान्ति के बादल मँडरा रहे थे। भारत की राजनीतिक अवस्था की दुर्बलता का संकेत हमें प्राप्त हो चुका है। ऐसी परिस्थिति में थानेश्वर में एक ऐसे वीर एवं पराक्रमी पुरुष का उदय हुआ जिसने सभ्यता एवं संस्कृति के विनाशक हूणों से देश की रक्षा करके इसकी राजनीतिक शक्ति को दुर्बलता के क्रोड से पृथक करके उसे सुदृढ़ बनाया।

प्रारम्भिक इतिहास—प्रभाकर वर्द्धन ही थानेश्वर का प्रथम शक्तिशाली राजा था जिसने 'परमभट्टारक' तथा 'महाराजाधिराज' की उपाधियाँ धारण की थीं। बाण के अनुसार उसने हूण, सिन्धु देश के राजा, गुर्जर-नरेश, लाट तथा मालवा के राजाओं से युद्ध किया।

किन्तु बाण का यह कथन इतिहास के कितना निकट है यह नहीं कहा जा सकता। प्रभाकरवर्द्धन की माता महासेनगुप्त देवी गुप्त वंश की थी जिससे यह परिलक्षित होता है कि थानेश्वर राजवंश का उत्तरकालीन गुप्त-नरेशों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित था।

प्रभाकरवर्द्धन की पत्नी महादेवी यशोमति से तीन सन्तानें उत्पन्न हुई—राज्यवर्द्धन, हर्षवर्द्धन, तथा राज्यश्री। राज्य श्री का ब्याह कन्नौज के मौखरी नरेश ग्रहवर्मा से हुआ था जिससे दोनों राजकुलों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया और जिसका थानेश्वर के इतिहास पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा, जैसा कि हम अगले पृष्ठों में देखेंगे।

६०४ ई० के लगभग हूणों ने साम्राज्य की उत्तरी-पूर्वी सीमा पर आक्रमण एवं लूटमार आरम्भ कर दी जिसके दमनार्थ प्रभाकरवर्द्धन ने ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्द्धन को भेजा। हर्ष भी राज्यवर्धन के साथ चला। युद्ध-काल में ही पिता की घातक बीमारी की सूचना प्राप्त हुई और वह राजधानी को लौट आया। वहाँ आकर उसने राज्यवर्द्धन को बुलाने के लिए दूत भेजे। राज्यवर्द्धन पिता के जीवन-काल में न लौट सका। युद्ध समाप्त करके जब वह लौटा तो उसे राज्यसिंहासन देने की बातें होने लगीं पर वह सन्यास ग्रहण करने की चिन्ता में विलीन था, किन्तु राजनीतिक अशान्ति की आशंका से उसे विवश होकर राज्य-भार अपने कन्धों पर लेना पड़ा। सम्भवतः हर्ष का यह हठ कि वह भी उसका अनुसरण करेगा, राज्यवर्द्धन को सन्यास ग्रहण करने से रोक सका। ऊपर लिखित राजनीतिक अशान्ति यह थी कि कन्नौज से एक दूत निम्न समाचार लेकर थानेश्वर आया—

"जिस दिन राजा प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु का दुखद **समाचार** मिला उसी

दिन मालवा के दुष्ट स्वामी ने महाराज ग्रहवर्मा का प्राणान्त कर दिया, राजकुमारी राज्य-श्री चोर की पत्नी की भाँति कान्यकुब्ज के कारागार मे डाल दी गई हैं, और उनके चरणों में बेड़ियाँ पहना दी गई हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सुनने मे आया है कि वह दुष्ट, यहाँ की सेना को नेताविहीन समझ कर इस देश पर भी आक्रमण करने का विचार कर रहा है।" ग्रहवर्मा का हत्यारा मालवा-नरेश देव-गुप्त था।

यह समाचार सुनते ही राज्यवर्द्धन दस हजार अश्वारोहियो को लेकर तथा राजधानी हर्ष को सौंप कर मालवा के शासक पर आक्रमण को चल पड़ा। यहाँ यह जान लेना चाहिये कि मालवा के राजा (देवगुप्त) तथा कर्णसुवर्ण के गौड़ राजा शशाक में मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो चुकी थी। शशाक निश्चय ही गुप्त वश का था और उसने अपने पूर्व गौरव को पुनः स्थापित करने के लिए यह मैत्री सम्बन्ध जोड़ा था, क्योंकि वह पुष्यभूति तथा मौखरी वश का शक्ति को छिन्न भिन्न करना चाहता था। वह यह भी जानता था कि मालवा के गुप्त लोगों तथा थानेश्वर के वर्द्धन लोगों के बीच अनबन थी। इसीलिए वह मालवा के गुप्तो को अपने साथ लेकर कन्नौज पर आक्रमण करना चाहता था, पर योजना असफल रही।

हर्ष को एक दिन कुन्तल नामक एक अश्वारोही अफसर ने सूचना दी कि महाराज राज्यवर्द्धन ने बड़ी सरलता से मालव-नरेश को पराजित किया, किन्तु गौड़ राजा के झूठे सम्मान तथा शिष्टाचार के भुलावे मे आकर उसने (राज्यवर्द्धन) ने उस पर विश्वास कर लिया और उसने (गौड़-नरेश ने) राज्यवर्द्धन को अपने भवन में एकाकी निशस्त्र पाकर मार डाला।

हर्षवर्द्धन

भाई की हत्या का समाचार पाते ही हर्षवर्द्धन ने प्रण किया कि मै "कुछ दिनों में ही धरती गौड़विहीन कर दूँगा अन्यथा अपने पापी शरीर को पतग-समान पटो मे झोक दूँगा।"

राजसिंहासन पर बैठते ही उसका पहला कार्य था बहन राज्यश्री को बचाना जो उस समय तक कारागार से मुक्त होकर विन्ध्याचल के जगलो मे चली गई थी। अत. हर्ष उसकी खोज मे निकल पड़ा और वह ठीक उसी समय पहुँचा जब राज्यश्री चिता मे कूदने जा रही थी। हर्ष ने कामरूप के राजा भास्कर-वर्मन से मित्रता स्थापित कर ली थी जिससे हर्ष को आगे चल कर काफी सहायता मिली।

हर्ष की विजय—हर्ष ने सर्वप्रथम अपने बहनोई के हत्यारे शशाक पर आक्रमण किया किन्तु कहा जाता है कि वह शशाक को कभी भी पराजित न कर सका और शशाक ६१९ ई० तक राज्य करता रहा। ह्वेनसाँग ने हर्षवर्द्धन की विजयो को बढ़ा चढ़ा कर लिखा है। उसके अनुसार हर्ष ने ६ वर्षो के भीतर 'पच भारत' से युद्ध किया और उन्हे जीत कर आगामी ३० वर्षो तक बिना शस्त्र उठाये शान्तिपूर्वक राज्य किया। किन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ता। हमे यह मालूम है कि नर्मदा नदी के पार हर्षवर्द्धन की सेना नहीं बढ़ सकी थी क्योंकि दक्षिण के चालुक्य नरेश पुलकेशिन ने

उसे पराजित कर दिया था। अपने शासन-काल के अन्तिम भाग में उसने पूर्व की ओर रण-यात्रा की। अब तक शशांक की मृत्यु हो चुकी थी और कोई शक्तिशाली उत्तराधिकारी नहीं था जो हर्ष को रोक सकता, अत. हर्ष को पूर्व में विजय मिली। मगध को जीतता हुआ वह कोंगद पर भी (गंजाम जिला) जो शशांक के राज्य की दक्षिणी सीमा पर था विजयी हुआ। शशांक का शेष साम्राज्य अर्थात् उत्तर-दक्षिण तथा पूर्वी बंगाल कामरूप के राजा भास्करवर्मन को मिला।

हर्ष के साम्राज्य के विस्तार के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। ह्वेनसाँग कुछ और लिखता है। 'हर्ष चरित्र' नामक पुस्तक में बाण हर्ष के साम्राज्य को बहुत विस्तृत बताता है पर जहाँ तक प्रमाणों से ज्ञात हो सका है, हर्ष के साम्राज्य में पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल तथा उड़ीसा सम्मिलित थे। इनके बाहर उसकी राजसत्ता नहीं स्थापित थी। हाँ, अन्य राजे इसका दबदबा अवश्य स्वीकार करते थे।



चित्र १६

कन्नौज की परिषद्—अब तक हमने हर्ष के राजनीतिक जीवन का दिग्दर्शन किया है। अब उसके सामाजिक एवं धार्मिक जीवन पर विचार किया जायगा, जिससे उसके व्यक्तित्व की पूर्ण रूप-रेखा हमारे सम्मुख उपस्थित हो सके। हर्ष कितना विद्यानुरागी था और उसमें तत्व-ज्ञान सम्बन्धी जिज्ञासा कितनी प्रबल थी, इसका पहला उदाहरण हमें कन्नौज की परिषद् से प्राप्त होता है जिसका आयोजन उसने चीनी यात्री ह्वेनसाँग के सम्मानार्थ किया था। उसने यात्री से कहा—"मैं कान्यकुब्ज में एक विशाल सभा करने की इच्छा करता हूँ और महायान की विशेषताओं को दिखाने तथा चित्त के भ्रम का निवारण करने के लिए श्रमणों, ब्राह्मणों तथा पंचगौड़ के बौद्ध धर्मेतर मतावलम्बियों को आज्ञा देता हूँ कि वे आकर उसमें सम्मिलित हों जिससे उनका अहंभाव दूर हो जाए और वे प्रभु के महान गुण को समझ सकें।"

फरवरी ६४२ ई० में कन्नौज की परिषद् की बैठक हुई जिसमें १८ देशों के राजा तीन हजार श्रमण, (महायान तथा हीनयान), तीन सहस्त्र ब्राह्मण एवं निर्ग्रन्थ अर्थात जैन तथा नालन्दा मठ के एक हजार पुरोहितों ने भाग लिया।

ह्वेनसाँग को वाद-विवाद का अध्यक्ष बनाया गया जिसने सर्व प्रथम महायान सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की प्रशंसा की। वाद-विवाद का विषय सभा-भवन के फाटक पर

तख्ती लगाकर सूचित कर दिया गया जिस पर निम्नलिखित शब्दों में सार्वजनिक चुनौती दी गई—

"यदि कोई व्यक्ति प्रस्ताव में एक शब्द भी तर्कविरुद्ध बताये अथवा उसमें उलझन पैदा कर दे तो मैं विपक्ष के अनुरोध से उसके बदले अपना सिर कटाने को प्रस्तुत हूँ।"

डा० स्मिथ का मत है कि उक्त वाद-विवाद एकतरफा था, उसकी शर्तें न्याय-सगत न थीं। हर्ष इस पर तुला हुआ था कि उसका कृपापात्र ह्वेनसॉग पराजित न होने पाये, भला ऐसी दशा में कौन विपक्ष में बोलता?

स्मिथ महोदय के मत में काफी सत्यता है क्योंकि हम देखते हैं कि इसकी प्रतिक्रिया विपक्षियों पर हुई और उन्होंने ह्वेनसॉग की हत्या का षड्यन्त्र किया। जब हर्ष को इस षड्यन्त्र का बोध हुआ तो उसने घोषणा कर दी कि "यदि कोई व्यक्ति धर्माचार्य को स्पर्श करेगा अथवा चोट पहुँचायेगा तो उसे प्राण दंड दिया जायगा और जो उनके विरुद्ध कोई शब्द कहेगा उसकी जिह्वा काट ली जायगी, किन्तु जो लोग उनके उपदेशों से लाभान्वित होना चाहते हैं वे सब मेरी सत्कामना पर विश्वास रक्खें और इस घोषणा पत्र से भयभीत न हों।"

१८ दिन यों ही बीत गये और किसी भी भारतीय विद्वान को विपक्ष में बोलने का साहस नहीं हुआ क्योंकि ह्वेनसॉग को चुनौती दी जा सकती थी पर हर्ष की शक्ति को चुनौती देना असम्भव था। अन्त में ह्वेनसॉग ने महायान सम्प्रदाय की दिल खोल कर प्रशंसा की और सभा भंग हो गई। ह्वेनसॉग की इस विजय के उपलक्ष में नगर में उसका एक शानदार जलूस निकाला गया और यह घोषित कर दिया गया कि उसने समस्त विरोधियों को पराजित करके महायान सम्प्रदाय की सत्यता तथा हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायियों के भ्रम को सिद्ध कर दिया है।

प्रयाग का धार्मिक सम्मेलन—पौराणिक काल से ही तीर्थराज प्रयाग दान-वितरण का प्रधान क्षेत्र माना जाता है। आज भी कुम्भ पर्व के अवसर पर गङ्गा-यमुना के संगम पर दान-वितरण की यह परम्परा चली आ रही है किन्तु प्रारम्भ में कुम्भ एक पर्व मात्र था, इस मेले का रूप देने का श्रेय हम हर्ष को ही दे सकते हैं। हर्ष हर पाँचवें वर्ष प्रयाग में आकर समस्त धर्मावलम्बियों को आमंत्रित करके, साधु-सन्यासियों, श्रमण, ब्राह्मण, निग्रन्थ, निर्धन आदि को दान देता था। यद्यपि इस प्रकार के अधिवेशन का सर्वप्रथम विवरण चीनी यात्री ह्वेनसॉग के लेख से प्राप्त होता है जिससे यह ज्ञात होता है कि हर्ष ने लगभग ६४३-६४४ ई० में प्रयाग में पंचवर्षीय दान-वितरण का आयोजन किया था, तथापि स्वयं हर्ष ने इसे छठाँ अधिवेशन स्वीकार किया है। इससे यह विदित होता है कि इसके पूर्व भी पाँच ऐसे अधिवेशन हो चुके थे, किन्तु सामग्रियों के अभाव में उनके सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते।

हर्षवर्द्धन ने चीनी यात्री ह्वेनसॉग से प्रयाग-अधिवेशन में सम्मिलित होने को कहा। यद्यपि यात्री को स्वदेश लौटने की जल्दी थी तथापि प्रयाग का आकर्षण

अपेक्षाकृत प्रबल निकला और यात्री को प्रयाग आना पड़ा। प्रयाग अधिवेशन तथा हर्षवर्द्धन के महादान पर यात्री का निम्न विवरण पर्याप्त प्रकाश डालता है।

"प्राचीन काल से यह प्रथा चली आती है कि राजे-महराजे तथा अन्य धनी-मानी व्यक्ति जब यहाँ (प्रयाग) आते हैं तो वे अपना सम्पूर्ण धन दान के रूप में दे डालते हैं। महाराज हर्षवर्द्धन ने भी अपने पूर्वजों का अनुकरण करते हुए पाँच वर्ष का सञ्चित कोष एक दिन में वितरण कर दिया। प्रथम दिवस हर्ष ने भगवान बुद्ध की एक मूर्ति बनवा कर अपने सम्पूर्ण बहुमूल्य रत्न उस पर चढ़ा दिये और तत्पश्चात् वहाँ के रहने वाले पुजारियों को उन्होंने वह सब दान कर दिया। इसके बाद उन पुजारियों को भी दान दिया गया जो बाहर से आकर वहाँ रुके थे। हर्ष ने विद्यार्थियों, विधवाओं, अनाथों और दीन-दुखियों को भी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति में से हिस्सा दिया। जब उनके पास कुछ भी शेष न रहा तब उन्होंने अपना रत्नजटित मुकुट और मुक्ताहार भी उतार कर दान कर दिया।"

अन्त में अपनी निर्धनता के चिन्हस्वरूप हर्ष ने अपनी बहिन राज्यश्री से जीर्णशीर्ण वस्त्र ले कर उसे धारण किया। यह सब कुछ कर लेने के पश्चात् हर्ष को यह प्रसन्नता थी कि उसने अपनी समस्त सम्पत्ति पुण्य खाते में लगा दी है और भगवान बुद्ध का 'दसबल' प्राप्त करने के लिए उसने मार्ग प्रशस्त कर लिया है।

अधिवेशन समाप्त होने के पश्चात् ही ह्वेनसाँग ने चीन को प्रस्थान किया। हर्ष का आदेश पाकर जालन्धर के राजा उदित ने उसके साथ एक रक्षक दल नियुक्त किया और स्वयं हर्ष उसे दूर तक विदा करने गया।

हर्ष की मृत्यु—जीवन के अन्तिम तीन चार वर्षों में हर्ष की क्या अवस्था थी, इस सम्बन्ध में हमारा ज्ञान सामग्रियों के अभाव में स्वल्प है। वाटर्स के अनुसार हर्ष "पुण्य का वृक्ष आरोपित करने की चेष्टा में इतना संलग्न था कि सोना और खाना भी भूल गया," और सम्भवतः इन्हीं पुण्य कार्य में उसके अन्तिम दिन बीत गये होंगे। हर्ष के शब्दों में ही "ईश्वर करे कि मैं आगामी जन्म-जन्मान्तरों में सदा इसी प्रकार अपने को बुद्ध के दस बलों से सम्पन्न कर लूँ" प्रयाग के महादान के पश्चात् हर्ष ने ये वाक्य कहे थे। इन समस्त प्रमाणों के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि धार्मिक कृत्यों में ही हर्ष के अन्तिम दिन बीते होंगे। ६४६ ई० के अन्तिम दिनों में अथवा ६४७ ई० के प्रारम्भ में हर्ष की मृत्यु हो गई।

हर्ष का शासन-प्रबन्ध

हर्ष के शासन-प्रबन्ध पर हम गुप्त शासन-प्रबन्ध की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। गुप्त शासन-प्रणाली इतनी सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित थी कि उसका अनुकरण अनेक परवर्ती राजाओं ने किया।

राजा का स्थान—शासन-प्रबन्ध में राजा का सर्वोच्च स्थान था। उसे 'परमभट्टारक,' 'परमेश्वर', 'परमदेवता', 'महाराजाधिराज' आदि की उपाधियाँ प्राप्त थीं। शासन-प्रबन्ध में सक्रिय भाग लेकर राजा राज्य के सभी उच्च पदाधिकारियों की

नियुक्ति करता था, आज्ञा-पत्र एव घोषणा-पत्र निकालता था, न्यायाधीश का काम करता था, युद्ध में सेना का नेतृत्व भी करता था। इन कार्यों के अतिरिक्त हर्ष का शासन-सम्बन्धी अधिक महत्वपूर्ण कार्य जनता के सुख-दुख का अनुसधान द्वारा पर्यवेक्षण करना था।

पदाधिकारी—राजा को उचित मत्रणा देने के लिए मत्री थे जिन्हें सचिव या अमात्य कहा जाता था। दान-पत्रो पर भी हर्ष के पदाधिकारियों की सूची प्राप्त होती है, वह इस प्रकार है—दौस्साधनिक, प्रमातार, राजस्थानीय, कुमारामात्य, उपरिक तथा विषयपति। दान पत्रों मे दूतक नामक पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है। लेखक नामक पदाधिकारी का भी इन दान-पत्रो में उल्लेख किया गया है। इसे कही-कहीं दीवर भी कहा गया है। अनेक दीवरा के ऊपर एक दीवरपति होता था।

प्रान्तीय शासन—प्रान्तों को भुक्ति अथवा देश कहते थे। प्रत्येक प्रान्त को जिलो में बाटा गया था जिन्हे प्रदेश अथवा विषय कहते थे। प्रान्तीय शासक को 'प्रान्त भुक्ति' कहते थे। 'पथक' वर्तमान तहसील की ही भाँति एक छोटा भू भाग था। सीमान्त प्रदेश के शासका को सम्भवत. गोप्ता कहा जाता था। जिले के शासक विषयपति की नियुक्ति प्रान्तीय शासक करते थे। 'अधिष्ठानो मे विषपति के केन्द्र होते थे जहाँ उनके अधिकरण (न्यायालय तथा कार्यालय) होते थे। बसाढ़ की मुहर मे कुछ अधिकरणो का उल्लेख किया गया हे।

प्रान्तीय शासका तथा जिलों के शासकों की सहायता के लिए दाडिक चौरोद्धरणिक दडपाशिक आदि पुलिस के कर्मचारियो की भी व्यवस्था की गइ थी।

ग्राम शासन—ग्राम अब भी शासन की न्यूनतम इकाइ था। 'महत्तर' नामक पदाधिकारी का उल्लेख ग्राम के अधिकारियो मे मिलता है जो सम्भवत गाँव के सब मामलो की देख-भाल करता था।

दण्डविधान—फौजदारी का शासन अत्यन्त कठोर था। 'राजद्रोह' के लिए आजीवन कारावास का दण्ड दिया जाता था। सामाजिक सदाचार के प्रतिकूल आचरण करने, माता-पिता के साथ अनुचित व्यवहार करने तथा विश्वासघात करने पर अग-भग (एक नाक, एक कान, एक हाथ या एक पेर का) कर दिया जाता था। देश निर्वासन तक का भी दण्ड दिया जाता था। अन्य अपराधो के लिए भी जुर्माना किया जाता था। जल, अग्नि, तुला, विष द्वारा अपराधी की परीक्षा भी ली जाने की प्रथा प्रचलित थी।

हर्ष के समय मे दण्ड विधान निश्चय ही कठोर था और उसका प्रतिफल यह था कि अपराधो की सख्या कम थी, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि सम्पूर्ण मे राज्य कहीं भी कोई अरक्षित स्थान न था।

'एक बार पजाब म चेनाब नदी को पार करने और शाकल नगर को छोडने के पश्चात् वह (ह्वेनसॉग) पलाश के वन से हो कर गुजरा। वहाँ पचास डाकुओं के एक दल ने उस पर आक्रमण कर दिया, वस्त्रादि धन लूट लिया और हाथ म तलवार

लेकर उसका पीछा किया। अन्त में एक ब्राह्मण ने जो खेत जोत रहा था, उसकी रक्षा की। उसने पुकार कर ८० हथियारबन्द आदमियों को एकत्रित किया।"

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में फाह्यान को भारत की यात्रा में किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा था पर ह्वेनसांग को जल तथा स्थल दोनों मार्गों में डाकू मिले। यह शासन की ढिलाई का सबसे बड़ा प्रमाण है और इसीलिए डा० मुकर्जी का मत है कि हर्ष का शासन-प्रबन्ध गुप्त नरेशों के शासन-प्रबन्ध की तुलना नहीं कर सकता। मुकर्जी का मत बिल्कुल तर्कसंगत है।

आय के स्रोत—आय के निम्नलिखित सामान्य स्रोत थे—(१) उद्रंग (एक प्रकार का भूमिकर), (२) उपरिकर (नियमित कर के अतिरिक्त कर), (३) वात (?), (४) भूत (?) (५) धान्य, (६) हिरण्य (सोना) (७) आदेय आदि।

उपरोक्त करों के अतिरिक्त दूध, फल चरागाह तथा खनिजों पर भी कर लगाया जाता था। अनाज की मण्डियों में बिकी हुई वस्तुओं के नाप तौल के आधार पर निर्धारित कर संग्रह किया जाता था। घाटों पर भी कर लगाया जाता था। जुर्माना से भी अच्छी आय हो जाती थी। भूमि-उपज का छठाँ भाग कर रूप में लिया जाता था।

हर्ष का व्यक्तित्व

हर्ष के प्रमुख कार्यों के पश्चात् उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विश्लेषण करने में हमें किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता है। यहाँ हम उसके धार्मिक विचारों, धार्मिक नीति, साहित्यिक प्रवृत्ति आदि पर प्रकाश डालेंगे।

हर्ष का धर्म—पुष्यभूति शिव का उपासक था, प्रभाकरवर्द्धन तथा उसका पिता आदित्यवर्द्धन सूर्योपासक थे। राज्यवर्द्धन तथा राज्यश्री बौद्ध थे। बाण के कथनानुसार हर्ष दिग्विजय के समय नीललोहित (शिव) उपासक था। कालान्तर में हर्ष बौद्ध मतावलम्बी हो गया। प्रारम्भ में सम्भवतः हीनयान सम्प्रदाय में था और तत्पश्चात् ह्वेनसांग के सम्पर्क में आकर महायान सम्प्रदाय का समर्थक हो गया।

हर्ष की साहित्यिक अभिरुचि—हर्ष साहित्य-प्रेमी भी था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि उसने बाण को राज्याश्रय प्रदान किया था। इत्सिंग के कथनानुसार हर्ष ने कवियों को अपने दरबार में रचनायें करने को कहा था और उनके संकलन का नाम 'जातक माला' रक्खा गया। हर्ष के विशेष कृपापात्र बाण ने 'हर्ष-चरित' के अतिरिक्त 'कादम्बरी' जैसी अमर रचना की। कुछ विद्वानों का यह मत है कि बाण ने 'पार्वती परिणय' तथा 'चण्डीशतक' नामक ग्रन्थों की भी रचना की। बाण के सम्बन्धी (श्वसुर या साला) मयूर को भी हर्ष ने प्रश्रय प्रदान किया और उसने कामशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अष्टक' की रचना की।

मतंग दिवाकर नामक एक अन्य प्रसिद्ध साहित्यिक हर्ष के दरबार में रहता था। सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सुप्रसिद्ध कवि भर्तृहरि भी जीवित था पर यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उसे हर्ष का प्रश्रय प्राप्त था अथवा नहीं। हर्ष के दरबार में इतने कवियों एवं साहित्यिक व्यक्तियों का रहना संस्कृत-साहित्य कोष की अभिवृद्धि सम्बन्धी प्रवृत्ति के विकास के लिए एक सुन्दर साधन था।

हर्ष साहित्यिक व्यक्तियों को प्रश्रय ही नहीं प्रदान करता था प्रत्युत वह स्वयं साहित्यकार था। 'रत्नावली,' 'प्रियदर्शिका' तथा 'नागानन्द' नामक संस्कृत के तीन नाटकों की रचना हर्ष ने की थी। कुछ विद्वानों को इसमें सन्देह है कि उन ग्रन्थों की रचना स्वयं हर्ष ने की।

हर्षकालीन भारत की सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक अवस्था

सामाजिक अवस्था

हर्ष कालीन भारत की विभिन्न परिस्थितियों का विवरण हमें ह्वेनसाँग तथा समसामयिक संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। ह्वेनसाँग के कथनानुसार उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जातियों के अतिरिक्त पाँचवीं मिश्रित जाति भी थी। लगता है कि यात्री ने उपजातियों को मिश्रित जाति की संज्ञा दे दी है। ह्वेनसाँग ने ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की काफी प्रशंसा की है। उसने बताया है कि ब्राह्मणों का समाज में उत्तम स्थान दिया जाता था। ब्राह्मण राज काज में भी भाग लेते थे और हर्ष के कुछ अमात्य ब्राह्मण भी थे। क्षत्रियों के सम्बन्ध में ह्वेनसाँग ने लिखा है कि वे सरल, निर्दोष एवं मितव्ययी जीवन बिताने वाले थे। वैश्यों को ह्वेनसाँग ने वाणिज्य व्यापार में लगा हुआ पाया। शूद्रों का प्रधान व्यवसाय कृषि कार्य था। शूद्रों की दशा इस काल में काफी सुधर गई थी। मिश्रित जातियों की उत्पत्ति अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों से हुई थी। अछूतों की संख्या भी समाज में बहुत बड़ी थी जिन्हें नगर के बाहर रहना पड़ता था। मछुआ, कसाई, मल्लाह, नट, चाण्डाल आदि इस वर्ग में सम्मिलित थे। इनके निवास स्थान चिह्नित कर दिये जाते थे। सामान्यतः स्वजातीय विवाह ही होते थे। सती-प्रथा का प्रचलन था। हर्ष की माता अपने पति की मृत्यु के पूर्व ही इस विश्वास से कि अब पति नहीं बच सकता, सती होने को उद्यत थी। राज्यश्री भी सती होने जा रही थी पर हर्ष ने ठीक अवसर पर उसे रोक लिया। 'हर्षचरित' से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बहुपत्नीत्व का प्रचार बहुत अधिक था। राजमहलों के अन्तःपुर में स्त्रियों की भीड़-सी लगी रहती थी।

वस्त्राभूषण—रंग बिरंगे वस्त्रों को लोग कम पसन्द करते थे। बहुधा श्वेत वस्त्र पहने जाते थे। कपड़ों की संख्या बहुत अधिक न थी। स्त्रियाँ दोनों कन्धों को ढकता हुआ एक लम्बा वस्त्र धारण करती थीं। कुलीन पुरुषों में साफे का प्रयोग प्रचलित था।

आभूषणों का प्रयोग काफी होता था। विभिन्न प्रकार के आभूषण, हार, कुण्डल, कड़ा आदि का काफी प्रयोग किया जाता था।

भोजन—ह्वेनसाँग के विवरण से यह ज्ञात होता है कि प्रायः लोग मांस का प्रयोग भोजन में नहीं करते थे। लहसुन, प्याज भी नहीं खाया जाता था। मिट्टी तथा काठ के बर्तनों का प्रयोग केवल एक बार किया जाता था। घी, दूध, दही, चीनी, मिश्री रोटी आदि भोजन के प्रधान अंग थे। गेहूँ तथा चावल जन साधारण का भोजन था।

मनोरञ्जन के साधन—बाणभट्ट तथा पाशों के खेलों का उल्लेख बार-बार किया गया है, जिससे यह परिलक्षित होता है कि यह खेल काफी प्रचलित था। इन्द्र-

जालिक तथा यमपटिक अपनी कलायें दिखलाया करते थे। गाँवो में मदारी, नट आदि बहुधा घूम-घूम कर अपना कौशल दिखलाते थे।

नाटकों के अभिनय में निश्चय ही यह समाज उन्नतिशील रहा होगा। प्रेक्षा-गृहो (रंगशाला), संगीत-शाला तथा चित्रशालाओं का उल्लेख तत्कालीन नाटक ग्रन्थों में यत्र तत्र किया गया है। चैत्र मास की पूर्णिमा का वसन्तोत्सव मनाया जाता था, इसका उदाहरण 'प्रियदर्शिका' तथा 'रत्नावली' में मिलता है।

नारियों की स्थिति—जिस समाज में बहु-पत्नी-प्रथा प्रचलित थी उसमें नारियों की दयनीय दशा की कल्पना सहज ही की जा सकती है। यद्यपि हमें उनके सामाजिक जीवन की उन्नत अवस्था का बोध विभिन्न साधनों से होता है और यह भी ज्ञात होता है कि वे संगीत, नृत्य, चित्रकला तथा शिक्षा आदि में निपुण होती थीं, तथापि उनका कौटुम्बिक जीवन पूर्णतया शान्त न था। समाज में माता (और पिता का भी) कितना उच्च स्थान था इसकी कल्पना हम इस प्रकार कर सकते हैं कि इनकी उचित सेवा न करने वाला व्यक्ति दण्ड का भागी होता था। 'हर्ष चरित्र' के आधार पर तो हम कह सकते हैं कि राजभवन की स्त्रियाँ पूर्णतया विलासिता एवं उपभोग की वस्तु होती थीं। उच्च कुलों में पर्दा-प्रथा भी प्रचलित था।

धार्मिक अवस्था

बौद्ध धर्म—बौद्ध धर्म के मुख्य सम्प्रदाय महायान तथा हीनयान में से प्रथम का अस्तित्व अधिक महत्वपूर्ण था। स्वयं हर्ष भी इस सम्प्रदाय के प्रति विशेष कृपालु ज्ञात होता है। मठ तथा विहार बौद्ध धर्म की सक्रियता के केन्द्र थे। यात्री ने बौद्ध धर्म का १८ शाखाओं का भी वर्णन किया है जिनके क्रिया-अनुष्ठान भिन्न-भिन्न थे और वे सभी अपनी-अपनी बौद्धिक महत्ता घोषित करते थे।

ब्राह्मण धर्म—प्रयाग तथा वाराणसी अब इस धर्म के प्रमुख केन्द्र बन गये थे। आदित्य, शिव तथा विष्णु की पूजा अधिक लोक-प्रिय होती जा रही था। 'हर्ष-चरित्र' से यह ज्ञात होता है कि इन देवताओं की मूर्तियाँ मन्दिरों में प्रतिष्ठापित की जाती थीं और इनकी विधिवत् पूजा होती थी। प्रयाग तथा वाराणसी के अतिरिक्त कन्नौज में भी ब्राह्मण धर्म का बोल-बाला ज्ञात होता है क्योंकि वहाँ सैकड़ों से अधिक देव मन्दिर निर्मित थे। ब्राह्मण-धर्म अनेक शाखाओं में गुप्त काल से ही विभक्त चला आ रहा था। शव धर्म का रूप अब विकृत होता जा रहा था। कर्मकाण्डों की प्रकृति एवं उनके रूप में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही थी।

जैन धर्म—वैशाली, पुण्ड्रवर्द्धन तथा समतट के अतिरिक्त भारत के अन्य भागों में इस धर्म का प्रायः अभाव-सा हो चला था। उक्त स्थानों में भी दिगम्बर सम्प्रदाय वालों का ही बाहुल्य था। इनकी दूसरी शाखा श्वेताम्बर थी। जैन धर्म के सम्बन्ध में यात्री का विवरण अपेक्षाकृत स्वल्प है।

आर्थिक अवस्था

कृषि ही लोगों का प्रमुख व्यवसाय था किन्तु औद्योगिक एवं वाणिज्य सम्बन्धी

उन्नति के फलस्वरूप अब वैश्य वर्ग इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दे रहा था और शूद्र ही बहुधा कृषि-कार्य करते थे। सिंचाई की पर्याप्त सुविधा थी जिससे कृषि-उपज मे किसी प्रकार की कमी नहीं होने पाती थी। चरागाहो के लिए भी पर्याप्त भूमि छोड़ी जाती थी जिससे पशुओ के चारे की समस्या हल की जा सकती थी।

अन्तर्देशीय तथा विदेशी दोनो व्यापारों की दशा काफी अच्छी थी। कुछ नये नगरों की उन्नति के मूल मे व्यापारिक कारणों का ही हाथ ज्ञात होता है। बंगाल में ताम्रलिपि नामक एक बन्दरगाह था। पाटलीपुत्र से उज्जैन होता हुआ एक राज-मार्ग भड़ौंच तक जाता था जिससे काफी व्यापार होता था। विदेशी व्यापार की कुछ झलक हमें ह्वेनसाँग के विवरण से प्राप्त होती है। यात्री के अनुसार कपिशा म भारत के कोने-कोने से व्यापारिक सामग्रियाँ आया करती थी और यहाँ स ये ईरान तथा योरप के देशों को भेजी जाती थीं। काश्मीर से होकर चीन तथा मध्य एशिया तक भारत का विदेशी व्यापार प्रसरित था। जलमार्ग से भी विदेशी व्यापार काफी होता था जिसका प्रमुख केन्द्र पूर्वकथित ताम्रलिपि जो दक्षिण पूर्वद्वीप समूहों स सम्बद्ध था और सम्भवतः मलाया, सुमात्रा आदि से व्यापार का यही प्रमुख जल-मार्ग था।

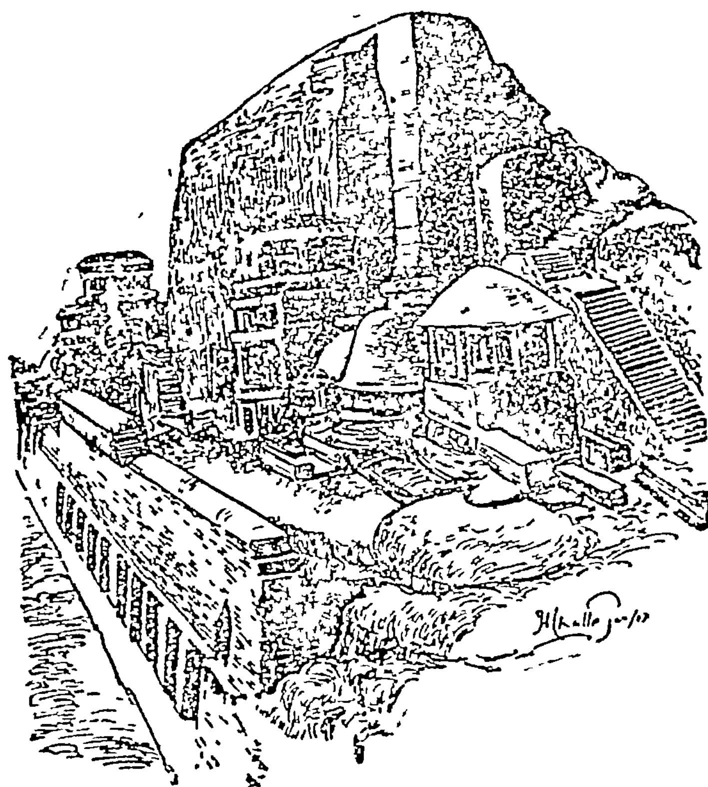
हर्षकालीन शिक्षा, साहित्य एवं कला

ह्वेनसाँग ने भारतीय शिक्षा की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। मध्यदेश के निवासियों की भाषा की स्पष्टता तथा शुद्धता और उनके उच्चारण पर भी यात्री मुग्ध था। यात्री ने बताया है कि सात वर्ष की अवस्था के बालक का व्याकरण यान्त्रिककला, वैद्यक, तर्क शास्त्र तथा अध्यात्म-शास्त्र अर्थात् दर्शनशास्त्र की शिक्षा प्रारम्भ कर दी जाती थी।

नालन्दा विश्वविद्यालय—ह्वेनसाँग ने अनेक शिक्षा केन्द्रों का उल्लेख किया है जिनमे सर्वप्रसिद्ध वलभी का हीनयान विश्वविद्यालय तथा नालन्दा का महायान विश्वविद्यालय था। जिस समय ह्वेनसाँग इस विद्यालय म आया था उस समय इसमें दस सहस्र विद्यार्थी थे। हर्ष ने इसे अपार धन-राशि दान रूप मे दी थी। कुछ अन्य साधनो से भी संस्था को पर्याप्त धन प्राप्त होता था क्योंकि इसमे निःशुल्क शिक्षा के अतिरिक्त विद्यार्थियो के भोजन वस्त्र की भी व्यवस्था की गई थी। भारत-विख्यात शीलभद्र यहाँ का कुलपति था। सौ योग्य आचार्य इस विद्यालय मे अध्यापन कार्य करते थे। यह तीन सौ फीट ऊँचा बना था।

नालन्दा विद्यालय को कुमारगुप्त प्रथम तथा उसके अनेक उत्तराधिकारियो ने प्रश्रय एवं महत्त्व प्रदान किया था। हर्ष ने इसके लिए पर्याप्त धन-राशि दी थी जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। शीलभद्र के पूर्व दिङ्नाग, स्थिरमति तथा धर्मपाल-विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध 'पण्डित' (आचार्य अथवा कुलपति) रह चुके थे। विश्व-विद्यालय में प्रवेश तभी सम्भव था जब कोई द्वारपाल द्वारा ली गई परीक्षा मे उत्तीर्ण हो जाय पर केवल ३० प्रतिशत विद्यार्थी ही इसमें सफल होते थे। स्त्रियों का भी प्रवेश वैध था पर वे कक्षा म विद्यार्थियों से बात नहीं कर सकती थी, हाँ बाहर बात करने की आज्ञा

दी गई थी। संस्कृत ही शिक्षा का माध्यम था। नालन्दा में प्रारम्भिक (८-१३ वर्ष के बालकों के लिए), माध्यमिक (१३-२० वर्ष तक), तथा उच्चतर शिक्षाओं की व्यवस्था



चित्र २० नालन्दा विश्वविद्यालय का भग्नावशेष

थी। नालन्दा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के सम्बन्ध में भी इतिहासकारों की उच्च धारणा है। विश्वविद्यालय तथा उनके छात्र तो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर रहे थे।

कला—हर्षकालीन कला की प्रशंसा भी ह्वेनसॉंग ने की है। वह नालन्दा के मठों तथा विहारों की सुन्दरता को प्रशंसनीय बताता है और बुद्ध भगवान् की आठ फिट ऊँची ताम्र मूर्ति की भी सराहना करता है। सीरपुर रायपुर जिला (मध्यप्रदेश) में लक्ष्मण का ईंटों वाला मन्दिर हर्ष कालीन भवन-निर्माण-कला का एक सुन्दर नमूना है।

इस काल की साहित्यिक प्रगति के सम्बन्ध में पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. हर्ष के वंश के विषय मे आप क्या जानते है।

२ हर्ष कौन था ? उसने अपने वंश को राजनीतिक महत्व किस प्रकार प्रदान किया ?

३ हर्ष का भारतीय इतिहास मे क्या स्थान है ?

४ हर्ष के चरित्र पर प्रकाश डालिए ?

५ हर्षकालीन भारत की सभ्यता एवं संस्कृति के विषय मे आप क्या जानते है ?

६ ह्वेनसॉग और नालन्दा विश्वविद्यालय, प्रयाग के महत्व पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

अध्याय २७

वृहत्तर भारत

हम जानते हैं कि किसी देश की भौगोलिक स्थिति का उसके इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ता है। भारत ने भी अपनी भौगोलिक स्थिति से पूर्ण लाभ उठाया है। सबसे बड़ा लाभ तो इसने व्यापार तथा उपनिवेश-स्थापना के सम्बन्ध में उठाया। भारत एशिया महाद्वीप का एक अंग है, अतः एशिया के विभिन्न देशों से इसका सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। इसकी भौगोलिक स्थिति तो और भी महत्वपूर्ण है। हम जानते हैं कि हिन्द महासागर में भारत की केन्द्रीय स्थिति है और इस प्रकार यह प्राचीन सभ्य देशों के सामुद्रिक मार्ग के बीच में पड़ता था। अतः पूर्व तथा पश्चिम के देशों से प्राचीन काल मे ही जल तथा स्थल दोनों मार्गों से हमारे देश का सम्बन्ध स्थापित हो गया था।

इन्ही सारी सुविधाओ के कारण भारतवासियों को विदेशियो से सास्कृतिक तथा राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने का अवसर प्राप्त था। जिन-जिन देशों में भारत-वासियों ने अपने उपनिवेश बसाये, वहाँ भारतीय सभ्यता का प्रचार हुआ। इन्हीं उपनि-वेशों को वृहत्तर भारत कहा जाता है।

मौर्य काल मे—हम पढ़ चुके हैं कि भारत में मौर्य राज्य की स्थापना के पूर्व उत्तर-पश्चिम में यूनानियो की बस्तियाँ स्थापित हो चुकी थीं। तत्पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य ने इस प्रदेश को विदेशियो से मुक्त कराया। हमारे देश से अब तक यूनानियों का सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण न था। चन्द्रगुप्त के शासन-काल में ही सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया, पर परिणाम क्या हुआ इसे हम पढ़ चुके हैं। इस आक्रमण ने भारत और यूनान में मैत्री-भाव स्थापित किया। चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया और यूनानी राजदूत मेगस्थनीज को अपने दरबार में स्थान दिया।

चन्द्रगुप्त के बाद बिन्दुसार के समय में भी भारत का विदेशो से सम्बन्ध स्थापित रहा। पश्चिमी एशिया से उसका गहरा सम्बन्ध था। मेगस्थनीज के बाद डाइमेकस दूत बनकर पाटलिपुत्र आया था। उसके लेख नाम मात्र को ही बचे हैं। सेल्यूकस के पुत्र सम्राट एन्टियोकससोटर से तो बिन्दुसार का पत्र-व्यवहार भी चलता रहा। एक बार बिन्दुसार ने उससे कुछ अंजीर और एक दार्शनिक अध्यापक माँगा था। एन्टियोकस ने अंजीर आदि तो भेज दिया, किन्तु उसने लिखा कि हमारे यहाँ अध्यापक भेजना नियम के विरुद्ध है। मिस्र के यूनानी सम्राट टालेमीफिलाडेल्फोस ने भी डायोनासियस नामक एक राजदूत पाटलिपुत्र भेजा था। औरों की भाँति उसने भी भारत का वृत्तान्त लिखा है।

अशोक को तो विदेशो से मैत्री स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक हो गया, क्योकि वह सारे ससार के लोगो को सुखी देखना चाहता था और यह तभी सम्भव था जब चारो ओर बौद्ध धर्म का प्रचार हो जाता। बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए ही उसने एशिया, योरप और अफ्रीका के विभिन्न स्थानो मे अर्थात् सीरिया, मेसीडोनियाँ, रविरत्य, मिश्र और साइरीति मे अपने धर्म दूत भेजे थे। ये धर्म-प्रचारक विदेशो मे जाकर न केवल बौद्ध धर्म का प्रचार करते थे, वरन् साथ-साथ वहाँ की जनता के दुख-दर्द को दूर करने का प्रयास भी करते थे। वे उनकी दवा-दारू की भी व्यवस्था करते थे। उस प्राचीन काल में इस प्रकार की विश्व में यह पहली व्यवस्था थी। अशोक के इस कार्य से उपर्युक्त देशो के सम्राट निश्चय ही प्रभावित हुए होगे। अशोक के एक अभिलेख मे इन स्थानो के सम्राटो के नाम भी दिये हैं, जैसे सीरिया सम्राट एन्टियोकस, मिश्र का टालमीफिलडिल्कोस, सीरीन का मागस, रविरत्य का सिकन्दर आदि।

मौर्य काल के पश्चात्—मौर्य काल के पश्चात् एक बार फिर विदेशी आक्रमणों का जोर होता है। बैक्ट्रिया और पार्थिया के यूनानी शासको के आक्रमण का विवरण हम पीछे प्राप्त कर चुके हैं। उत्तर-पश्चिमी एशिया मे इनके साम्राज्यो की स्थापना हो जाने पर भारत से इनका सम्बन्ध बराबर बना रहा, पर वह पूर्णतया मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध नही रहा। पुष्यमित्र शुंग के समय में यूनानी आक्रमण का हाल हम पढ़ चुके है। शुंग वश के पाँचवे सम्राट भागभद्र के शासन-काल मे तक्षशिला के यूनानी शासक ने 'हेलियोडोरस' नामक दूत भेजा था। हेलियोडोरस ने हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया था।

शक-कुषाण-काल मे—प्रथम शताब्दी ई० पू० से प्रथम शताब्दी ई० के बीच हमारे देश में विदेशियो का आगमन शुरू हुआ। मध्य एशिया से शक जाति हमारे देश में आती है और जैसा कि हम पढ़ चुके है इस वश का शासन हमारे देश के कुछ भाग पर काफी समय तक रहता है। इसी प्रकार उत्तर पश्चिमी चीन के मूल निवासी यूहची जाति की कुषाण शाखा ने भी भारत मे अपना राज्य स्थापित किया, जिनके सर्वश्रेष्ठ शासक कनिष्क के सम्बन्ध मे हम पढ़ चुके है। कनिष्क ने चीन के सम्राट से युद्ध किया था। कनिष्क ने भी बौद्धधर्म के प्रचारार्थ दूर देशो मे धर्म प्रचारक भेजे थे। उसके समय मे बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति का प्रसार मध्य तथा पूर्वी एशिया मे हुआ।

गुप्त-काल मे—गुप्तो के समय मे तो विदेशो से हमारा सम्पर्क बहुत अधिक बढ़ गया। सामन्त के अनेक राजाओ ने समुद्रगुप्त से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया था। लका के शासक मेघवर्मा ने समुद्रगुप्त को बहुमूल्य उपहार भेजे थे। रोम के साथ गुप्त काल मे जो व्यापार होता रहा उसके सम्बन्ध मे हम यथा स्थान पढ़ चुके है। गुप्तो के समय से ही हूण आक्रमण शुरू हो जाते है। हूणो ने जिस प्रकार गुप्त साम्राज्य को क्षतिग्रस्त किया, इसका भी उल्लेख किया जा चुका है। व्यापारिक सम्बन्ध के कारण रोमन सम्राटो और भारतीय सम्राटो मे पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो गया था। अरीलियन,

कान्सटैन्टाइन, जूलियन, जस्टीनियन आदि रोमन सम्राटों के समय में भारतीय राजदूत उनके दरबारों में गये थे। सिकन्दरिया नामक नगर मे इन दोनों देश के लोग आपस में मिलते-जुलते थे। हमारे देश के कुछ ब्राह्मण भी इस समय सिकन्दरिया गये थे और कासल सेवेरस के घर में ठहरे थे। फरात नदी की ऊपरी घाटी में भारतवासियों की बस्ती थी और वहाँ उन्होंने एक मन्दिर का निर्माण करवाया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में चीनी यात्री भारत आया। गुप्त काल में कई अन्य चीनी यात्री भारत आये थे। भारत से भी कई बौद्ध धर्म-प्रचारक चीन गये थे।

हर्ष-काल मे—हर्ष के समय मे चीन से हमारा सम्बन्ध बना रहा। ह्वेनसॉग इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। अन्य चीनी दलों का उल्लेख यथास्थान किया जा चुका है।

अब हम विभिन्न देशों से भारतीय सभ्यता का प्रसार और भारतीय उपनिवेशों की स्थापना पर संक्षेप मे प्रकाश डालेंगे।

विदेशों में भारतीय सभ्यता का प्रसार

भारतवासियों का प्राचीन काल से ही विदेशियों से सम्बन्ध था। यह सम्बन्ध प्रागैतिहासिक काल से स्थापित किया जा सकता है। सिन्धु घाटी की सभ्यता के युग में भी बलूचिस्तान, अरब, फारस, मिश्र आदि देशों से भारत का व्यापार-सम्बन्ध स्थापित था। पौराणिक काल मे भी उपनिवेश-स्थापना का विवरण मत्स्य-पुराण तथा वायु-पुराण से प्राप्त होता हे। मेसोपोटैमियाँ मे एक लेख प्राप्त हुआ है, जिसके आधार पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय आर्यों का सम्बन्ध १७०० ई० पू० में भी मेसोपोटैमियाँ वालो से स्थापित था। किन्तु यह सम्बन्ध व्यापारिक था। विश्व के प्राचीन सभ्य देशों में भारत का ऊँचा स्थान था। अत. अन्य देशों से इसका सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित था, किन्तु यहाँ यह भी बता देना आवश्यक हे कि अब तक भारतीयों ने विदेशों में किसी प्रकार के उपनिवेश की स्थापना नहीं की थी। केवल व्यापारी अपनी वस्तुओं को लेकर विदेशों में जाते थे और उन्हें बेचकर उनकी वस्तुएँ खरीदकर भारत लौट आते थे।

ऐतिहासिक काल से विदेशी सम्बन्धों के विषय में पर्याप्त सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं, अतः उनका विस्तारपूर्वक विवरण नीचे दिया जा रहा हे।

यूनान तथा रोम के साथ भारत का सम्बन्ध—मिश्र में निवास करनेवाला एक यूनानी नाविक पहली शताब्दी ई० में लाल सागर तथा अरब सागर के तट से होता हुआ भारत आया था, जिसके विवरण से यह ज्ञात होता हे कि पश्चिमी देशों से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था। इस नाविक ने यह भी बताया है कि भारतीय व्यापारी अरब सागर के द्वीपों में बस गये थे और इन्होंने सोकोत्रा में अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। प्लीनी के विवरण से हमें भारत और रोम के बीच होने वाले व्यापार का पता चलता हे, जिस पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है। लगभग २६ ई० पू० में पाण्ड्य राजा ने रोम के सम्राट् आगस्टस के पास राजदूत भेजा था। तत्पश्चात

राजदूत भेजे गये थे। वास्तव मे सिकन्दर के बाद विदेशियों से सम्बन्ध स्थापित करने का अच्छा अवसर प्राप्त हो गया, क्योंकि उसने जल तथा स्थल दोनों प्रकार के मार्ग खोल दिये थे। अरबों के उत्थान के पश्चात् सातवीं शताब्दी ईस्वी मे इन मार्गों पर अरबों का अधिकार हो गया और तब भारत के साथ उनका व्यापारिक-सम्बन्ध स्थापित हुआ।

इन देशो से हमारा व्यापारिक सम्बन्ध तो था ही भारतीय सस्कृति का प्रसार भी इन देशों में खूब हुआ। हमे ज्ञात है कि अशोक ने पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका तथा दक्षिण पूर्व के योरोपीय देशों मे बौद्ध भिक्षु भेजे थे। इन भिक्षुओं ने इन देशों में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। सुकरात तथा उसकी परम्परा के दार्शनिको अरस्तू-प्लेटो (अफलातून) आदि पर भारतीय दर्शन का कितना प्रभाव है, यह यद्यपि निश्चय-पूर्वक नहीं कहा सकता, किन्तु साथ ही इसके सत्य की भी अवहेलना नहीं की जा सकती कि भारतीय दर्शन ने यूनानी दर्शन को प्रभावित किया। इस्लाम धर्म के उदय के पूर्व पश्चिमी एशिया मे बौद्ध धर्म का प्रचार पाया जाता है। जहाँ भारत ने यूनानियों को दर्शन के अनेक तत्व बताये वहीं स्वय भारतीयों ने यूनान तथा रोमवालों से मुद्रा-निर्माण तथा भवन-निर्माण कला की कुछ शैलियाँ सीखीं। अरबो से सम्बन्ध स्थापित हो जाने के पश्चात् एक बहुत बड़ा लाभ यह हुआ था कि इन्होंने पाश्चात्य देशों मे भारतीय सभ्यता का प्रसार किया। अरबो ने ही इन देशो मे भारतीय औषधियो तथा दशमलव पद्धति का प्रचार किया था।

मध्य एशिया तथा भारत का पारस्परिक सम्बन्ध—प्रारम्भ मे धर्मोपदेशकों ने मध्य एशिया में भारतीय सभ्यता का प्रसार प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् कुषाणों के राजनीतिक प्रभाव के कारण भी मध्य एशिया मे बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। उसी समय आधुनिक खोतान के निकट काफी बौद्ध बस गये। इसी के फलस्वरूप तीसरी शताब्दी ई० तक खोतान बौद्ध-धर्म का केन्द्र बन गया। चीन की सीमा तक यहाँ की राजभाषा प्राकृत और राजलिपि खरोष्ट्री हो गई। यहाँ जो कुछ भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं, उनसे यह प्रमाणित होता है कि यहाँ भारतीय उपनिवेश की स्थापना हुई थी। इसी प्रकार मध्य-एशिया के उत्तरी भाग मे कूचा बौद्ध धर्म का केन्द्र था। कुमारजीव नामक बौद्ध भिक्षु ने राजा का आश्रय पाकर बौद्ध धर्म का खूब प्रचार किया। कुमारजीव ने ३८ सस्कृत ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया जिससे चीन वालो मे भारतीय सस्कृति के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। चीनी ह्वेनसाँग ने भी हमे बताया है कि सातवीं शताब्दी ईस्वी मे मध्य एशिया मे बौद्ध धर्म का प्राबल्य था।

चीन और भारत का सम्बन्ध—चीन और भारत का सम्बन्ध प्राचीन काल में पूर्णतया व्यापारिक था, किन्तु भारत मे बौद्ध धर्म के उदय के पश्चात् भारत और चीन का सम्बन्ध अधिक घनिष्ट हो गया। धर्म ही इसके मूल मे था। खोतान से ही चीन ने सर्वप्रथम बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। वास्तव मे चीन मे बौद्ध धर्म को प्रचारित करने का श्रेय बौद्धभिक्षु कश्यप मातंग तथा धर्मरत्न को दिया जा सकता है। अनेक भारतीय विद्वानो ने चीन मे बौद्ध ग्रन्थो का अनुवाद चीनी भाषा मे किया, जिससे न केवल बौद्ध

धर्म का अधिकाधिक प्रचार हुआ प्रत्युत वहाँ भारतीय सभ्यता का भी प्रसार हुआ। तीसरी से छठीं शताब्दी ई० तक तो चीन मे बौद्ध धर्म का प्रचार बड़ी तेजी से हुआ। चीन से अनेक यात्री बौद्ध धर्म सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारत आये थे, जिनके सम्बन्ध मे हम पीछे पढ़ चुके है। इन यात्रियों ने भी चीन और भारत मे पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कराने में पर्याप्त योग दिया। जब चीन और भारत में धार्मिक सम्बन्ध स्थापित हो गया तो इनके व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होने में देर न लगी। कैन्टन मे भारतीय व्यापारी काफी सख्या में बसे थे।

चीन और भारत का राजनीतिक सम्बन्ध भी गहरा था। चौथी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक अनेक भारतीय और चीनी सम्राटो ने एक दूसरे के दरबार में अपने दूत या दूतमडल भेजे थे। गुप्त नरेश, हर्ष वर्द्धन कन्नौज के राजा यशोवर्मन आदि के नाम भारतीय नरेशो में विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने चीन से गहरा सम्बन्ध स्थापित किया था। आज भी हमारा सम्बन्ध चीन से उसी प्रकार बना आ रहा है। उसमें अब और घनिष्टता बढ़ती जा रही है।

जापान और कोरिया से भारत का सम्बन्ध—मध्य एशिया में एक बार बौद्ध धर्म का प्रचार हो जाने के बाद वह आगे बढ़ता गया। चीन से बौद्ध धर्म कोरिया पहुँचा। कोरिया में लगभग चौथी शताब्दी ई० से ही इसका प्रचार प्रारम्भ हुआ। कोरिया नरेश के प्रयासो के फलस्वरूप कोरिया से बौद्ध-धर्म जापान पहुँचा। छठी शताब्दी ई० तक जापान मे भारतीय सभ्यता एव सस्कृति का प्रसार हुआ।

तिब्बत और भारत का सम्बन्ध—तिब्बत मे स्राग-गेम्पो नामक एक सम्राट सातवीं शताब्दी में राज्य करता था। इसने नेपाल तथा चीन की राजकुमारियों से ब्याह किया था। इनके सम्पर्क मे आने के पश्चात् इसे बौद्ध धर्म की विशेषताओं का बोध हुआ और उसने तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। तब से तिब्बत और भारत का निकट सम्बन्ध स्थापित हो गया। पाल राजाओं के शासन-काल मे तिब्बत तथा भारत का सम्बन्ध और घनिष्ट हो गया।

अफगानिस्तान और फारस से भारत का सम्बन्ध—इन देशो से भारत का सम्बन्ध प्राचीन काल से ही था। दोनों भारत के काफी निकट है, इसलिए सम्बन्ध स्थापित होना सम्भव भी था। लगभग तीसरी शताब्दी ई० तक इन देशों मे बौद्ध-धर्म का प्रचार हो गया था। ग्यारहवीं शताब्दी के कुछ ही वर्ष पूर्व काबुल की घाटी मे हिन्दू-धर्म का प्रचार था, इस बात के अनेक प्रमाण खुदाइयों द्वारा प्राप्त हुए हैं कि इस्लाम-धर्म के उदय के पूर्व अफगानिस्तान मे भारतीय सभ्यता एवं सस्कृति का प्रचार था। इतिहासकार अलबरूनी ने यह बताया है कि इस्लाम धर्म के उदय के पूर्व फारस, खुरासान, ईराक, मोसल तथा सीरिया के कई भागों मे बौद्ध धर्म का प्रचार था।

उपनिवेश-स्थापना

वैदिक काल के मनुष्यों को ही नौका बनाना आ गया था और वे विशाल नौकाओं से ही जलयात्रा किया करते थे। लगभग चौथी-तीसरी शताब्दी ई० पू० से

लोग सामुद्रिक यात्राओ मे भी विशेष रुचि लेने लगे थे । यद्यपि इसके पूर्व भी ये सामुद्रिक यात्रा करते थे, किन्तु बंगाल की खाडी को पारकर के हिन्द-चीन तथा मलाया द्वीप समूह मे ये इससे पहले सम्भवत. नहीं गये थे। पूर्वीय प्रदेशो को हमारे प्राचीन ग्रन्थो में सुवर्ण-भूमि कहा गया है, यहाँ पर भारतवासियो के आने का उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वानो का तो मत है कि पूर्वी द्वीप समूह मे भारतीयो ने अपने उपनिवेश बहुत पहले ही स्थापित कर लिए थे। कुछ लोगो का यह मत है कि मलाया द्वीप, अन्नम, कम्बोडिया, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो तथा बाली द्वीपो मे दूसरी शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी ई० तक भारतीय उपनिवेश स्थापित हो चुके थे। इन द्वीपो मे काफी दिनो तक भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रसार रहा। यहाँ शैव-मत का अधिक प्रचार था। नीचे इन स्थानो में भारतीय उपनिवेशो की स्थापना के सम्बन्ध मे संक्षेप मे प्रकाश डाला जायगा।

चम्पा (हिन्द चीन) मे उपनिवेशन स्थापना—लगभग दूसरी शताब्दी ई० मे चम्पा में हिन्दू-राज्य स्थापित हो जाने का प्रमाण मिलता है, किन्तु संस्थापक का नाम ज्ञात नहीं है। ३८० ई० मे भद्रवर्मा नामक एक शक्तिशाली राजा का पता चलता है। तत्पश्चात् उसका पुत्र गङ्गाराज सिंहासनारूढ़ हुआ। दोनो शैव मत के मानने वाले थे। ७५७ ई० तक यह राजवंश चलता रहा। इसके बाद चम्पा मे एक नये राजवंश की स्थापना हुई। इसी प्रकार चम्पा मे कई राजवंशो की स्थापना हुई। अधिकाश राजाओ के नाम मे वर्मा लगा हुआ है, इससे कुछ लोग इन विभिन्न राजवंशो को एक मानने को तैयार है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। नवीं शताब्दी मे अनामियो ने अपना अधिकार चम्पा पर कर लिया। किन्तु कुछ काल पश्चात् श्री हरि वर्मा नामक व्यक्ति ने अनामियो को चम्पा से निकाल कर एक नये राजवंश की स्थापना की। अब भी राजनीतिक उथल पुथल कम नहीं हुई। । बहुत तीव्र गति से राजवंश बदलते रहे। १२६० ई० मे चंगेज खाँ के उत्तराधिकारी कुबलई खाँ ने चम्पा पर अपना अधिकार कर लिया। पर कुबलई खाँ का शासन भी स्थायी न हो सका और १२८७ ई० मे इसके हाथ से चम्पा निकल गया। १३६० ई० मे फिर एक नये राजवंश की स्थापना हुई, जिसका प्रथम राजा जयसिंह वर्मदेव था। इसके उत्तराधिकारी दुर्बल निकले और अन्त में चम्पा सदा के लिए अनामियो के हाथ मे चला गया।

कम्बोडिया (हिन्द चीन) मे उपनिवेश स्थापना—कहा जाता है कि दक्षिण भारत के कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण ने लगभग पहली शताब्दी मे यहाँ हिन्दू राज्य की स्थापना की थी। जयवर्मन प्रथम, जयवर्मन द्वितीय, यशोवर्मन तथा सूर्यवर्मन द्वितीय के सुप्रसिद्ध एवं शक्तिशाली शासक हुए। पन्द्रहवीं शताब्दी ई० मे कम्बोडिया पर अनामियो तथा थाई लोगो के भीषण आक्रमण आरम्भ हो गये, जिससे इसकी शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। कम्बोडिया मे शैव-धर्म का खूब प्रचार था। कुछ काल पश्चात् यहाँ वैष्णव धर्म का भी प्रचार हुआ। साथ-साथ बौद्ध धर्म भी चल रहा था। लगभग सभी हिन्दू देवी देवताओं की पूजायें लोग करते

रहे। भारतीय सभ्यता का अनुकरण इन्हें भारतीय धर्म स्वीकार करने के कारण करना पड़ता था।

मलाया में उपनिवेश-स्थापना—आठवीं शताब्दी ई० में शैलेन्द्र नामक एक व्यक्ति ने मलाया में हिन्दू-राज्य की स्थापना की। यह राज्य शीघ्र ही शक्तिशाली हो गया और इसके अधीन सुमात्रा, जावा, बोर्नियो और बाली द्वीप हो गये। शैलेन्द्र वंशीय राजे बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इस वंश के राजाओं ने अनेक स्तूपों, मन्दिरों, मूर्तियों आदि का निर्माण कराया था। ग्यारहवीं शताब्दी में चोल नरेश राजेन्द्र चोल प्रथम ने शैलेन्द्र राज्य पर आक्रमण कर दिया। वह विजयी हुआ पर चोल एक शताब्दी से अधिक यहाँ नहीं टिक सके। शैलेन्द्र वंश का पुनः अधिकार हो गया पर वह भी तेरहवीं शताब्दी में समाप्त हो गया।

जावा में उपनिवेश-स्थापना—वैसे तो चौथी शताब्दी ई० में ही जावा में हिन्दू राज्य की स्थापना हो चुकी थी, किन्तु शैलेन्द्र वंश के शासकों ने इसे विजित करके लगभग नवीं शताब्दी तक अपने अधीन रक्खा। तत्पश्चात् जावा वालों ने अपने को स्वतन्त्र बना लिया।

तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में विजय नामक सम्राट् ने जावा में एक नये राजवंश की स्थापना की। यह बहुत शक्तिशाली निकला और पड़ोसी राज्यों को पराजित करके १३६५ ई० तक इसने मलाया प्रायद्वीप तथा मलाया द्वीप समूह को अपने अधीन बना लिया।

मलक्का में उपनिवेश-स्थापना—जावा के एक हिन्दू सामन्त ने १५वीं शताब्दी में मलक्का में आकर यहाँ हिन्दू राज्य की स्थापना की। बहुत शीघ्र इस राज्य ने उन्नति कर ली, किन्तु इस राजवंश के दूसरे शासक ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। इसका प्रभाव पड़ोसी राज्यों पर भी पड़ा और देखते-देखते जावा में भी इस्लाम धर्म का प्रचार हो गया। यहाँ के हिन्दू शासक को पदच्युत कर दिया गया। जावा के हिन्दुओं को भाग कर बाली द्वीप में शरण लेनी पड़ी। यहाँ अब भी हिन्दू-धर्म का प्राबल्य है।

जावा तथा मलक्का आदि द्वीपों में भारतीय संस्कृति का खूब प्रचार हुआ। प्रारम्भ में ही यहाँ हिन्दू (ब्राह्मण) धर्म जोरों पर था पर कुछ काल पश्चात् बौद्ध धर्म का बोल-बाला हुआ।

बाली तथा बोर्नियो द्वीप में हिन्दू-राज्य की स्थापना—बाली में हिन्दू राज्य की स्थापना का इतिहास ठीक-ठीक नहीं प्राप्त होता। विद्वानों का ऐसा मत है कि सातवीं शताब्दी ई० के लगभग यहाँ हिन्दू-राज्य की स्थापना हो चुकी थी। तभी सम्भवतः कौण्डिन्य नामक कोई क्षत्रिय शासक यहाँ राज्य करता रहा। तत्पश्चात् दसवीं शताब्दी में उग्रसेन केशरी आदि भारतीय राजाओं का उल्लेख मिलता है। ऊपर बताया जा चुका है कि १६वीं शताब्दी में जावा के हिन्दुओं ने मुसलमान आक्रमणों के

भय से बाली मे शरण ली थी। तब से बाली मे हिन्दू-सभ्यता का प्राबल्य स्थापित हो गया है।

बोर्नियो में चौथी शताब्दी ई० में हिन्दू-राज्य की स्थापना हुई थी। मूलवर्मा उस समय यहाँ का शासक था।

सिहल द्वीप—छठी शताब्दी ई० मे काठियावाड के राजकुमार विजय ने यहाँ भारतीय उपनिवेश की स्थापना की। तत्पश्चात् सम्राट् अशोक ने अपने पुत्र और पुत्री को भेजकर दोनो देशो के सम्बन्ध को बढ़ाया और लका मे बौद्ध धर्म का प्रचार किया। बौद्ध धर्म का लका मे अधिक स्वागत हुआ। यहाँ के शासकों ने उसे प्रश्रय प्रदान किया। लका वालो ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के पश्चात् पाली भाषा तथा ब्राह्मी लिपि का ज्ञान प्राप्त किया।

सुवर्णभूमि—भारतीय साहित्य मे बर्मा को सुवर्णभूमि कहा गया है। आदि-काल से ही भारतीय व्यापारी यहाँ अर्थ प्राप्ति के लालच से व्यापार करने आते थे। सम्राट अशोक ने यहाँ बौद्ध धर्म और भारतीय सस्कृति का प्रचार किया। यहाँ के निवासी अब भी बौद्ध अनुयायी हैं।

श्याम—ग्यारहवीं शताब्दी ई० तक यह कम्बोडिया के हिन्दू राज्य के अधीन था, तत्पश्चात् यह थाई जाति के प्रभाव में आया। तभी से यहाँ बौद्ध धर्म का भी प्रचार शुरू हुआ। यहाँ अब भी बौद्ध धर्म का प्राबल्य है।

उपरोक्त विवरण से हमे भारतीय सभ्यता के प्रसार की झाँकी मिलती है। इन सारे उपनिवेशों का अन्त अरबो, तुर्को, मगोलो आदि बाह्य आक्रमणकारियो तथा पारस्परिक सघर्षों ने कर दिया।

वैदेशिक सम्बन्ध का भारत पर प्रभाव

साम्राज्यो के युग मे भारत का विदेशो से पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित रहा जिसका प्रभाव भारत पर पड़े बिना नही रह सका। मौर्य-काल से ही हमे व्यापक रूप में विदेशी प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगते हैं। चन्द्रगुप्त के दरबार पर ईरानी प्रभाव हमें स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं। (१) ईरानी सम्राट अपने जन्म-दिवस के समय पर 'केश-काटने' (Hair washing) का उत्सव मनाते थे। चन्द्र गुप्त मौर्य भी इस प्रथा का पालन करता था। (२) दूसरा प्रभाव यह पड़ता है कि ईरानियो की भाँति 'अर्थ-शास्त्र' मे कौटिल्य ने यह व्यवस्था की है कि वैद्य तथा तपस्वी से परामर्श लेते समय सम्राट उस कमरे में बैठे, जहाँ हवन-अग्नि (पवित्र-अग्नि) जल रही हो। (३) सीमात प्रदेशो मे लिपि का शताब्दियो तक प्रयोग मे लाना भी भारत पर ईरानी प्रभाव का द्योतक है। (४) अशोक के अभिलेखो पर भी हम ईरानी प्रभाव देख सकते है। (५) ईरानी पदवी क्षत्रप का प्रयोग भी ईरानी प्रभाव को प्रकट करता है। (६) विदेशियो से भारत का सम्बन्ध रहने का एक सबसे बड़ा ऐतिहासिक प्रभाव यह पड़ा कि विदेशी यात्रियो ने हमारे देश के विषय मे अपनी योग्यता के अनुसार कुछ न कुछ लिखा है। इनके विवरणो से हमारे इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है। इन यात्रियों

में मेगस्थनीज, डाइमेकस, डायोनोसियस, फाहियान, ह्वेनसाँग, इत्सिंग आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। (७) कहा जाता है कि विदेशों के सम्पर्क के कारण ही बौद्ध धर्म की महायान शाखा को पनपने का मौका मिला। (८) भारतीय कला और विज्ञान (ज्योतिष) पर जो यूनानी प्रभाव पड़ा, उसका सङ्क्षिप्त परिचय हम पिछले पृष्ठों में प्राप्त कर चुके हैं। (९) विदेशी सम्पर्क का प्रभाव हमारे शासन-प्रबन्ध पर भी कुछ-कुछ पड़ा। विशेषकर चीन और रोमन शासन-प्रणाली के कुछ तत्व हमने अवश्य ग्रहण किए। कुषाण शासकों का अपने को देवपुत्र कहना कुछ-कुछ चीनी प्रणाली से मिलता-जुलता है। (१०) गुप्तों की मुद्राओं की सुन्दरता और कलात्मकता में हम रोमन प्रभाव ही देखते हैं। (११) विदेशी व्यापार से भी भारत को काफी लाभ पहुँचा है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि विदेशों के सम्पर्क में आकर भारत को काफी लाभ हुआ, कुछ बर्बर जातियों के आक्रमणों ने उसे क्षति भी पहुँचाई।

उपनिवेशों पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव

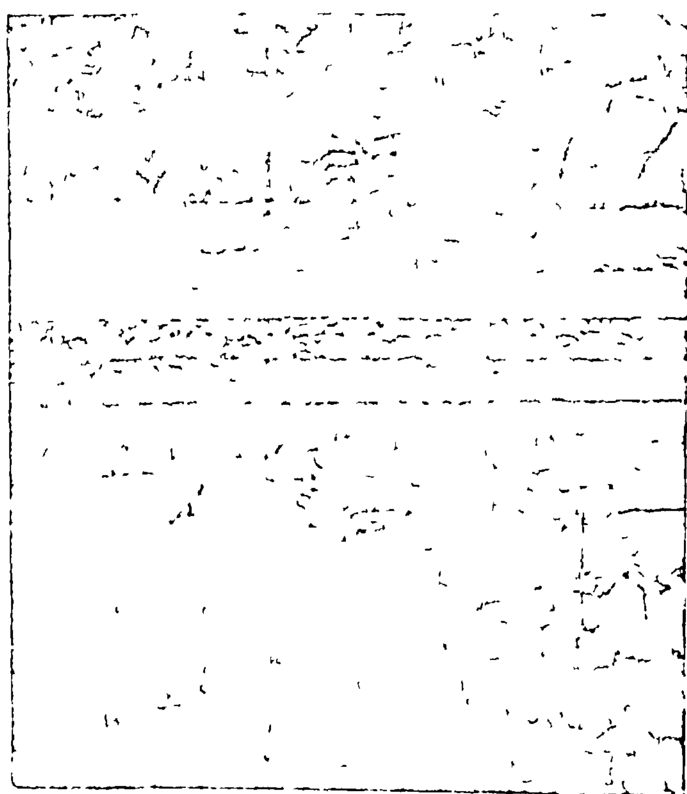
जहाँ हमने विदेशों से कुछ सीखा था वहाँ उसके स्थान पर हमने उन्हें बहुत कुछ सिखलाया भी। भारतीय उपनिवेशों पर भारतीय धर्म, साहित्य, कला और सामाजिक रीति-रिवाजों का गहरा प्रभाव देखने को मिलता है। यहाँ हम उसी प्रभाव को सङ्क्षेप में बतायेंगे।

जावा, बोर्नियो, अन्नम, कम्बोडिया, मलाया आदि द्वीपों के निवासी भारतीय साहित्य, धर्म और राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाओं से काफी प्रभावित थे। उनके लेखों से ही इसका प्रमाण मिल जाता है। चम्पा और यूनान के लेखों से भी यह ज्ञात होता है कि यहाँ के लोग हमारी पौराणिक कथाओं से खूब परिचित थे। इसी प्रकार पश्चिमी जावा में जो अभिलेख मिले हैं उससे यह पता चलता है कि यहाँ के निवासी भारतीय संस्कृति से काफी प्रभावित थे। उन पर हिन्दू-धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा था। उनके अभिलेखों की भाषा शुद्ध संस्कृत है और भारतीय अभिलेखों की भाँति ही वे काव्य में लिखे गये हैं। जावा में तो महीना और दूरी नापने के पैमाने के भारतीय ढंग से लोग आज भी परिचित हैं। यहाँ की कुछ नदियों के नाम जैसे गोमती, चन्द्रभागा आदि बिल्कुल भारतीय हैं। बोर्नियो और मलाया द्वीप में भारतीय धर्म का प्रभाव इस प्रकार देखने को मिलता है कि कुछ भारतीय देवताओं की मूर्त्तियाँ बोर्नियो में और दुर्गा, गणेश, नन्दी आदि की मूर्त्तियाँ मलाया में प्राप्त हुई हैं। मूर्तियों के साथ जो अस्त्र-शस्त्र भारत में दिखाये जाते हैं वही यहाँ भी देखने को मिले हैं। उदाहरणार्थ यहाँ भी शिव के हाथ में त्रिशूल और विष्णु के हाथ में चक्र, शंख, गदा तथा पद्म दिखाया गया है। इतना ही नहीं ये भी गंगा को पवित्र नदी मानते थे, जिसका प्रमाण यत्र-तत्र मिलता है। ब्राह्मण धर्म के साथ-साथ यहाँ बौद्ध-धर्म का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

भारतीय धर्म से प्रभावित होने वाले स्थान भारतीय कला से अवश्य ही प्रभावित होंगे। जावा की कला पर निश्चय ही भारतीय कला का प्रभाव पड़ा था। जावा के

सुप्रसिद्ध बोरोबोदूर के स्थापत्य चित्रों में महात्मा गौतम बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित घटनाएँ चित्रित हैं। यह पूर्णतया भारतीय कला का प्रभाव ही है।

जावा के सामाजिक विचारों पर भी भारतीय प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। उनकी शासन-पद्धति पर भी हमारे देश का कुछ प्रभाव दृष्टिगोचर होता



चित्र २१—जावा का बोरोबोदूर मन्दिर

है। चम्पा के सामाजिक संगठन पर भी भारतीय प्रभाव रहा, क्योंकि वह बहुत कुछ हमारी वर्ण व्यवस्था के अनुरूप रहा। वहाँ भी हमारे देश की भाँति थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ चार वर्ण थे। यहाँ के नृत्य और संगीत पर भी भारतीय प्रभाव पड़ा है। ज्ञात होता है यहाँ संस्कृत भाषा का काफी प्रचार रहा और यही चम्पा की राज्यभाषा भी था।

कम्बोडिया की कला पर भी भारतीय कला का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। यहाँ का सुप्रसिद्ध मन्दिर अंगकोरवाट भारतीय मन्दिरों से काफी मिलता-जुलता है। अन्य प्राचीन मन्दिरों की आकृति भी बहुत कुछ गुप्त कालीन मन्दिरों-सी है। स्थापत्य कला पर भारतीय प्रभाव और भी अधिक पड़ा है। कहा जाता है कि यहाँ की

अनेक मूर्तियों और मन्दिरों का निर्माण भारतीय कलाकारों ने किया था, जो उपनिवेश-स्थापकों के साथ कम्बोडिया गये थे।

कलिंग निवासियों ने मलाया और उसके समस्त द्वीपों में भारतीय सभ्यता का प्रसार किया था। सुमात्रा बौद्ध धर्म का सुप्रसिद्ध केन्द्र बन गया था और लगभग एक हजार बौद्ध भिक्षु यहाँ निवास करते थे। इन्होंने सुमात्रा के निकटवर्ती भागों पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ा था। मलाया के सभी अभिलेख संस्कृत भाषा में हैं।

उपर्युक्त स्थानों को सभ्यता एवं संस्कृति का पाठ पढ़ाने का श्रेय भारत को प्राप्त है। इन स्थानों के अतिरिक्त विश्व के अन्य देशों को भी भारत ने अपने दर्शन और साहित्य से प्रभावित किया। संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वानों की विद्वता से विदेशियों ने काफी लाभ उठाया था। सन्क्षेप में हम यह कह सकते हैं कि भारतीयों ने प्राचीन काल में विश्व के अनेक देशों को सभ्यता और संस्कृति सम्बन्धी कुछ ज्ञान दिये और जिनसे कुछ सीखा जा सकता था, उससे ज्ञान प्राप्त करने में भी वे नहीं चूके।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. विदेशों में बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति के प्रसार का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

२. विदेशों में उपनिवेश-स्थापना पर प्रकाश डालिए।

३. विदेशी सम्पर्क से भारत को क्या लाभ हुआ?

कर्कोटक राजवश—काश्मीर मे दुर्लभवर्द्धन ने नाग या कर्कोटक वश की स्थापना की। उसके राज्य काल में ह्वेनसॉग ने काश्मीर की यात्रा की थी। चीनी यात्री के लेख से ज्ञात होता है कि दुर्लभवर्द्धन का राज्य केवल मुख्य काश्मीर तक ही सीमित नहीं था वरन् पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी पजाब के कुछ भाग पर भी उसका अधिकार था। दुलभवर्द्धन ने छत्तीस वर्षों तक राज्य किया। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी दुर्लभक का शासन-काल पचास वर्षों तक रहा, परन्तु उसके विषय मे कोई ज्ञातव्य ऐतिहासिक बात मालूम नहीं है।

दुर्लभक के उपरान्त उसका पुत्र चन्द्रापीड काश्मीर सिंहासन पर समासीन हुआ। चन्द्रापीड काश्मीर का एक प्रसिद्ध नरेश था। उसने अरबों के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने के लिए चीनी सम्राट के पास अपना एक राजदूत भेजा था। यद्यपि उसे चीन देश से कोई सहायता प्राप्त न हो सकी तथापि उसने मुहम्मद बिन कासिम को काश्मीर की सीमा में घुसने नहीं दिया।

कर्कोटक राजवश का सबसे प्रसिद्ध शासक ललितादित्य मुक्तापीड था जो ७२४ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। ललितादित्य काश्मीर का तो सबसे प्रसिद्ध शासक था ही अपने समकालीन शासकों में भी उसको सर्वोपरि स्थान प्राप्त था। वह एक महान् विजेता और उल्लेखनीय सम्राट था।

यशोवर्मन के सम्बन्ध मे पढ़ते हुए हम देख चुके हैं कि उसकी भाँति ललितादित्य ने भी चीनी सम्राट् की राज सभा मे अपना राजदूत भेजा था। इसके बाद ललितादित्य और यशोवर्मन के बीच किस प्रकार सधि और विग्रह के सम्बन्ध स्थापित हुए, इसका भी अध्ययन हम कर चुके है।

कन्नौज के शासक यशोवर्मन को युद्ध में पराजित करने के पश्चात् ललितादित्य ने अपना दिग्विजय अभियान प्रारम्भ किया। ललितादित्य पूर्वी समुद्र की ओर बढा और कलिंग तक पहुँच गया। गौड़ाधिपति ने ललितादित्य की अधीनता निर्विरोध ही स्वीकार कर ली और उसने ललितादित्य की सेना के लिए कुछ हाथी भिजवा दिये। कर्णाट होता हुआ ललितादित्य कावेरी पहुँचा और उसने कुछ द्वीपों को भी विजित किया। पश्चिम की ओर अभिमुख होने पर उसने सात कोंकणों का दमन किया और द्वारका तक पहुँच गया। इसके पश्चात् ललितादित्य ने अवन्ति तथा अन्य राज्यों को भी जीता परन्तु यह कहना कुछ कठिन है कि कल्हण द्वारा वर्णित ललितादित्य-दिग्विजय का विवरण पूर्णत सत्य है।

ललितादित्य की मृत्यु लगभग सन् ७६० ईस्वी में हुई। उसने छत्तीस वर्षों तक राज्य किया। उसके पश्चात् काश्मीर के राजसिंहासन पर कई दुर्बल नरेश बैठे जिनके शासन काल में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं घटित हुई। जयापीड विनयादित्य कर्कोटक राजकुल का अन्तिम पराक्रमी और प्रतापी सम्राट था। उसने अपने वश के विलुप्त गौरव को पुन प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया। अपने पितामह की भाँति जयापीड विनया-

दित्य ने भी कन्नौज पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा वज्रायुध अथवा इंद्रायुध को सिंहासनच्युत कर दिया।

उत्पल वंश का शासन—काश्मीर में उत्पल वंश की स्थापना करने वाला अवन्ति वर्मन था। उसे इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसने युद्ध से विरत होकर प्रजा के सुख-संवर्द्धन की ओर ध्यान दिया। जयापीड स्वयं भी अपने जीवन के अन्तिम समय में धन लोलुप हो गया था और अकिञ्चन हो गया था। अवन्तिवर्मन ने अपने राज्य के आर्थिक साधनों को विकसित करने तथा बढ़ाने का प्रयत्न किया। उसने सबसे पहले उन राजकीय अधिकारियों को उनके पद से च्युत कर दिया जो निर्धन ग्रामवासियों को प्रपीड़ित करते थे। अवन्तिवर्मन ने अपने राज्य में सिंचाई के विकसित साधनों की व्यवस्था की। उसका सचिव सूर्य लोक-कल्याण के कार्यों में बड़ी अभिरुचि रखता था। उसने नालियों और बाँधों का निर्माण कराया और वितस्ता (झेलम) के मार्ग को बदल कर बाढ़ से उस प्रदेश की रक्षा की। अवन्तिवर्मन की राजसभा को विद्वान् और साहित्यकार अपनी उपस्थिति द्वारा गौरवान्वित किया करते थे। उसने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया। इन सब कार्यों का वर्णन कल्हण ने बड़े उत्साह से किया है।

अवन्तिवर्मन के बाद उसके पुत्रों में राज्याधिकार के लिए युद्ध छिड़ गया। अपने भाइयों को पराजित कर शंकरवर्मन ने राज सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। काश्मीर निवासियों के लिए यह एक दुर्भाग्य प्रमाणित हुआ कि शंकर वर्मन ने अपने पिता की शान्तिनीति का त्याग करके युद्ध नीति का अवलम्बन किया। अपने युद्धों के लिए धन की उसे आवश्यकता पड़ी जिसे प्राप्त करने के लिए उसने प्रजा को कर के भारों से उत्पीडित करना आरम्भ किया और मन्दिरों की सम्पत्ति लूटने में भी वह न हिचका। शंकर वर्मन के पश्चात् उसका पुत्र गोपाल वर्मन राजा हुआ। इसके शासन-काल में शासन-व्यवस्था और अधिक बिगड़ गई तथा प्रजा का दुःख किसी प्रकार भी कम न हो सका। तन्त्रिन और एकाङ्गी नामक सैनिक अधिकारियों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता और कशमकश का जनता के हितों पर अच्छा प्रभाव न पड़ा। वे जनता के ऊपर अत्याचार करते थे। पार्थ नामक बालक राजा के शासन-काल में (९१७-१८) काश्मीर में एक भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। परन्तु यह दुर्भिक्ष प्राकृतिक कारणों द्वारा समुद्भूत नहीं हुआ था अपितु शासकों की असावधानी तथा विलासप्रियता और शासनाधिकारियों की धनलिप्सा एवं शोषणनीति ने इसको जन्म दिया था। कल्हण ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि जिस समय प्रजा दुर्भिक्ष से पीडित थी और अन्नाभाव से त्राहि-त्राहि कर रही थी, राज वंश के लोग अपने ऐश्वर्य से अभिभूत थे और मन्त्रिन तथा तन्त्रिन चुपचाप चावल अधिकाधिक मूल्य पर बेचकर धन संग्रह कर रहे थे। काश्मीर के परवर्ती युग का इतिहास गौरवशाली नहीं है। षड्यन्त्रों और विद्रोहों की कथाओं से इतिहास भरा पड़ा हुआ है। हम इस इतिहास के अध्ययन को छोड़कर काश्मीर के सांस्कृतिक जीवन का अध्ययन करते हैं जो निस्सन्देह इतिहास का उज्ज्वलतर पक्ष है।

काश्मीर संस्कृति

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि काश्मीर सांस्कृतिक दृष्टि से कभी भारत से विच्छिन्न नहीं होने पाया है। जिस युग का हम इस समय अध्ययन कर रहे हैं, उसमें काश्मीर संस्कृत विद्या का केन्द्र था। डा० आर० सी० मजूमदार ने काश्मीर राज्य के घृणित पक्षों की कटु आलोचना करते हुए संस्कृति तथा कलाओं के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण बातें कही हैं। आप कहते हैं, "यद्यपि राजनीतिक विकास और बर्बर क्रूरता में काश्मीरियों की तुलना मध्य काल के योरप निवासियों से की जा सकती है तथापि परिष्कार, संस्कृति और उन बातों में जो सभ्यता का निर्माण करती है, वे काफी विकसित अवस्था में थे। विद्या का प्रचार था और देश में यह अधिक प्रशंसित थी। संगीत तथा नृत्य जैसी ललित कलाओं की आराधना राजा और प्रजा दोनों के द्वारा समान रूप से की जाती थी। कला और वास्तु की बहुत अधिक उन्नति हुई और यहाँ तक कि सबसे निकृष्ट राजाओं और उनके अफसरों ने मन्दिरों और मठों के निर्माण की प्रथा को जारी रक्खा। धर्म और दर्शन में काश्मीर ने उल्लेखनीय प्रगति दिखाई और शैव धर्म के एक नये सम्प्रदाय का विकास किया जिसकी मानवता और विचार प्रधानता अनेक पूर्ववर्ती शैव सम्प्रदायों के भयंकर और हिंसा प्रधान चित्र के नितान्त विपरीत है।" हमने गुप्त युग की साहित्यिक प्रगति का अध्ययन करते हुए भर्तृमेण्ठ नामक कवि के विषय में पढ़ा है जो काश्मीर के राजा मातृगुप्त का राजकवि था और जिसका उल्लेख कल्हण ने किया है। अवन्ति वर्मन के राज्य काल में काश्मीर में कवियों की एक शृंखला सी थी। शिवस्वामिन ने 'अवदान शतक' के आधार पर एक महाकाव्य लिखा। रत्नाकर ने शैव विषयों पर रचनायें लिखीं और अभिनन्द ने बाण रचित 'कादम्बरी' को सरल संस्कृत में पद्यबद्ध किया। क्षेमेन्द्र नामक प्रसिद्ध लेखक ने काश्मीर को गौरवान्वित कर दिया। उसने अपनी 'बृहत्कथामञ्जरी' नामक रचना में गुणाढ्य की कृति को सरल कविता के माध्यम द्वारा संक्षिप्त कर दिया। यह एक स्मरणीय बात है कि क्षेमेन्द्र ने इस रचना के द्वारा गुणाढ्य और संस्कृत साहित्य की महत्वपूर्ण सेवा की, क्योंकि मूल पैशाची प्राकृत में लिखी गई 'बृहत्कथा' लुप्तप्राय हो चुकी थी। 'अवदान कल्पलता' नामक ग्रन्थ में बौद्ध कथाओं को उसने संस्कृत में लिखा। क्षेमेन्द्र ने विष्णु के अवतारों, रामायण और महाभारत तथा काव्य-शास्त्र से सम्बन्धित विषयों पर भी कविताएँ लिखीं। सोम देव नामक प्रसिद्ध लेखक को उत्पन्न करने का गौरव काश्मीर का ही वसुधा को प्राप्त है। उसने 'कथा सरित्सागर' नामक सुविख्यात कथा-ग्रन्थ का प्रणयन किया। बिल्हण एक काश्मीरी नरेश का राजकवि था। इन सबके अतिरिक्त कल्हण के कारण काश्मीर विशेष रूप से गौरवान्वित हुआ, क्योंकि कवि कल्हण के रूप में उसे अपना इतिहासकार मिल गया। इस प्रकार वह कवि और इतिहासकार दोनों था। काश्मीर में अनेक सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री हुए।

काश्मीर में बौद्ध धर्म का भी काफी प्रचार हुआ था। कनिष्क के समय में प्रसिद्ध बौद्ध संगीति काश्मीर में ही हुई थी। परन्तु शैव धर्म के एक मौलिक दिव्य स्वरूप के विकास करने के कारण धार्मिक जगत में काश्मीर का महत्व सविशेष है।

कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार

गुर्जर प्रतिहारो की वशावली द्वारा हमें ५०० ई० के पूर्व का उनका इतिहास नहीं विदित होता। सबसे पहले उनका उल्लेख पुलकेशिन द्वितीय के एहोल अभिलेख (६३४ ई०) में किया गया है। छठी शताब्दी के प्रारम्भ से गुर्जरों ने भारत की राजनीतिक घटनाओं में महत्वपूर्ण भाग लिया। उन्होंने पजाब, मारवाड़, और भड़ौच में अपने राज्य स्थापित कर लिये।

गुर्जर-प्रतिहारों के प्रारम्भिक इतिहास में सब से महत्वपूर्ण बात यह है कि अरबों के प्रसार को रोक कर गुर्जर-प्रतिहारो ने वस्तुत· भारत की प्रतीहारी (द्वाररक्षक) का कार्य किया। इस वश के सस्थापक नागभट्ट प्रथम ने, जिसका समय अनुमानत. ७२५-७४० तक निश्चित किया जा सकता है, म्लेच्छों को पराजित किया था।

गुर्जर-प्रतीहार वश का चतुर्थ नरेश वत्सराज अपने कुल का एक शक्तिशाली राजा था। यह सम्भवत. नागभट्ट प्रथम का प्रपौत्र था। वत्सराज ने बगाल के शासक को पराजित किया और उससे दो छत्र छीन लिये, किन्तु राष्ट्रकूट वश के ध्रुव नामक राजा ने उसे पराजित कर दिया और अन्त में वह बगाल के राजा के द्वारा भी हरा दिया गया। वत्सराज ने अपने वश की शक्ति और प्रतिष्ठा को बढ़ाने का प्रयास किया।

वत्सराज का उत्तराधिकारी नागभट्ट द्वितीय (८००-८३४) भी अपने कुल का एक प्रतापी सम्राट था। नागभट्ट को अपने सैन्य-जीवन के प्रारम्भ में कई सफलताएँ प्राप्त हुईं। नागभट्ट द्वितीय का सब से महत्वपूर्ण कार्य यह था कि उसने बंगाल के राजा धर्मपाल को मुँगेर के निकट पराजित किया और कन्नौज के शासक चक्रायुध को वहाँ से निकाल कर बाहर कर दिया। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि बंगाल का राजा धर्मपाल चक्रायुध का सरक्षक था। कन्नौज पर गुर्जर-प्रतिहारों का अधिकार स्थापित हो गया। नागभट्ट द्वितीय को इस बात के लिए श्रेय प्रदान किया जाता हे कि उसने उत्तर में सिन्ध से लेकर दक्षिण मे आन्ध्र तक और पश्चिम में आनर्त (काठियावाड़ में एक स्थान) से लेकर पूर्व में बंगाल की सीमाओं तक अपने राज्य का विस्तार किया। यद्यपि राष्ट्रकूट वश के राजा गोविन्द तृतीय ने नागभट्ट द्वितीय को पराजित कर दिया तथापि कन्नौज पर प्रतीहार वश का अधिकार बना रहा। नागभट्ट द्वितीय को गोविन्द तृतीय द्वारा पराजय सहन करने से कुछ हानि अवश्य उठानी पड़ी किन्तु उसने अपने हाथ से कन्नौज नहीं जाने दिया और इसे अपनी राजधानी बनाई। नागभट्ट द्वितीय का उत्तराधिकारी रामभद्र था (८३४-८४०) जिसके शासन-काल मे कोई महत्वपूर्ण घटना घटित नहीं हुई।

मिहिर भोज—मिहिर भोज अपने वश का अत्यन्त प्रतापी और प्रभावशाली नरेश था। इसने सुदीर्घ काल (८४० ८९०) तक शासन किया। मिहिर भोज को ही वास्तव में अपने राजकुल की सीमाओं को विस्तृत करने का श्रेय दिया जा सकता है क्योंकि उसके पूर्वजों का पर्याप्त समय पालों और राष्ट्रकूटों से युद्ध करने में व्यतीत

जाता था। मिहिर भोज को इस बात का गौरव प्राप्त था कि राजनीतिक प्रभुता के लिए तीन राजकुलों में जो संघर्ष छिड़ा उसने अपने वंश को सबसे अधिक शक्तिशाली बनाया। विभिन्न दिशाओं में उसकी विजयों के फलस्वरूप गुर्जर-प्रतिहारों का राज्य एक वास्तविक साम्राज्य के रूप में परिणत हो गया। उसके राज्य में पूर्वी पंजाब, राजपूताना का अधिकांश भाग, वर्त्तमान उत्तर प्रदेश का अधिकतर हिस्सा और ग्वालियर आदि प्रदेश सम्मिलित थे।

महेन्द्र पाल—मिहिर भोज का उत्तराधिकारी महेन्द्र पाल (८९०-९०८) अपने महान् पिता का एक पुत्र था। अपने पिता द्वारा प्राप्त साम्राज्य के ऊपर न केवल उसने अपना सुदृढ़ अधिकार रक्खा वरन् उसमें कुछ अन्य भाग भी मिलाये। उसके अभिलेख पेहेवा (करनाल, आधुनिक पूर्वी पंजाब का एक जिला), मगध में गया तथा काठिया-वाड़ में प्राप्त हुए हैं। सियहदोनि (ग्वालियर) तथा श्रावस्ती के भुक्ति में भी उसके अभिलेख मिले हैं। उसके अभिलेख यह सूचित करते हैं कि उसने पालों से मगध और उत्तर बंगाल छीन लिया। काश्मीर के राजा शंकर वर्मन के आक्रमणों के फलस्वरूप महेन्द्रपाल की राज-सीमा कुछ घट गई, परन्तु अन्य किसी प्रकार से ह्रास की सूचना हमें नहीं प्राप्त होती। महेन्द्र पाल ने हर्ष और यशोवर्मन की भाँति विद्या को प्रोत्साहन दिया। उसके राज दरबार में राजशेखर नामक कवि रहता था।

महीपाल—महेन्द्रपाल का उत्तराधिकारी उसका पुत्र भोज द्वितीय हुआ, किन्तु अत्यन्त अल्पकालीन शासन के बाद वह मर गया। उसके बाद उसका अनुज महीपाल (९१०-४०) कन्नौज के राज सिंहासन पर आसीन हुआ। महीपाल के शासन-काल से कन्नौज के प्रतीहार वंश की राजलक्ष्मी विचलित होने लगी, परन्तु उसके शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में उसके राज्य में शान्ति और समृद्धि व्याप्त थी। साम्राज्य की शक्ति इस समय अक्षुण्ण बनी रही और इसकी सीमाएँ संकुचित भी नहीं होने पाईं। कवि राजशेखर ने, जिसने उसकी राजसभा को भी सुशोभित किया था, उसे आर्यावर्त का महाराजाधिराज कहा है और उसने मुरलों, मेकलों, कलिङ्गों, केरलों और कुन्तलों पर महीपाल की विजयों का भी उल्लेख किया है। सन् ९१६ ई० में राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र तृतीय ने एक बहुत बड़ी सेना लेकर कन्नौज पर आक्रमण कर दिया और इसको अपने अधिकार में कर लिया। परन्तु महीपाल ने चन्देल राजा की सहायता से अपने राज्य पर पुनः अधिकार कर लिया। कन्नौज के साथ साथ उसने दोआब, बनारस, ग्वालियर और सुदूरवर्ती काठियावाड़ पर भी अपना स्वामित्व स्थापित किया।

महीपाल के उत्तराधिकारी—महीपाल की मृत्यु सन् ९४४ ई० के लगभग हुई। उसके बाद महेन्द्रपाल द्वितीय राजा हुआ। उसने अपने पिता के राज्य को दो-तीन वर्ष तक सम्हाला। उसके बाद उसका अनुज देवपाल प्रतीहार साम्राज्य का स्वामी हुआ। देवपाल के समय से साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया। परवर्ती प्रतीहार राजाओं ने गंगा की घाटी, राजपूताना के कुछ भागों और मालवा पर किसी प्रकार अपना अधिकार स्थापित रक्खा। परन्तु चन्देलों ने, जो पहले उनके सामन्त थे, उनका विरोध करते हुए, अपनी आक्रमणात्मक नीति प्रारम्भ की। चालुक्यों ने गुजरात

में अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी, परमार मालवा में स्वतन्त्र हो गये और चन्देलों तथा चेदियों ने यमुना तथा नर्मदा के मध्यवर्ती भाग में अपने को स्वतन्त्र घोषित किया। महीपाल के पश्चात् महेन्द्रपाल, देवपाल, विजयपाल और राज्यपाल प्रतीहार वंश के राजसिंहासन पर बैठे थे, परन्तु इनमें से कोई भी अपने वंश के गौरव को पुनर्जीवित न कर सका। जब राज्यपाल कन्नौज के राज्यसिंहासन पर बैठा (६६०-१०१८) तब उसका राज्य सिकुड़ कर केवल गंगा और यमुना नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश तक ही रह गया था। मुसलमानों के आक्रमण दसवीं शताब्दी में होने लगे थे, जिनका आघात राज्यपाल के राज्य को भी लगा। जब गजनी के महमूद ने १०१८-१६ में कन्नौज पर आक्रमण किया तो राज्यपाल ने निर्विरोध आत्मसमर्पण कर दिया। फिर भी महमूद ने कन्नौज को काफी लूटा-खसोटा। महमूद के लौट जाने के बाद चन्देल राजकुमार विद्याधर ने रायपाल को उसकी कायरता का दण्ड देने के लिए उसके ऊपर आक्रमण कर दिया और युद्ध में उसे मार डाला। इस प्रकार प्रतीहार साम्राज्य को एक दुःखद अन्त देखना पड़ा।

सभी प्रतीहार-नरेश शैव या वैष्णव धर्मों के अनुयायी थे। कुछ प्रतीहार शासक वैष्णव धर्म को मानते थे और कुछ शैव धर्म को। भगवती के प्रति भी उनकी श्रद्धा और भक्ति थी। गुर्जर प्रतिहारों के पश्चात् कन्नौज का राज्य गहड़वालों के अधिकार में चला गया।

कन्नौज के गहड़वाल नरेश

गहड़वालों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनका मूल निवास स्थान दक्षिण भारत में था परन्तु इस धारणा का अन्य विद्वान समर्थन नहीं करते। कन्नौज पर चन्द्रदेव नामक एक गहड़वाल सरदार ने कब्जा कर लिया। चन्द्रदेव ने सम्राटोचित विरुद धारण किये जिससे प्रतीत होता है कि वह एक स्वतन्त्र नृपति था। चन्द्रदेव ने पाञ्चाल नरेश को, जिसका सम्बन्ध राष्ट्रकूट कुल से था पराजित कर दिया और कलचुरियों की उपेक्षा करते हुए उसने अपने राज्य का विस्तार सम्भवतः इलाहाबाद और बनारस तक किया। गहड़वालों ने काशी को अपनी दूसरी राजधानी का रूप प्रदान किया और अभिलेखों में उनको कान्यकुब्ज तथा काशी का स्वामी कहा गया है।

मदन चन्द्र—चन्द्रदेव का उत्तराधिकारी रामचन्द्र हुआ। गहड़वालों ने यामीनी शासकों की सत्ता का विरोध किया क्योंकि मुस्लिम इतिहासकारों के विवरणों से ज्ञात होता है कि मसूद तृतीय (१०६६-१११५ ई०) ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण कर दिया, जिसकी राजधानी कन्नौज थी और उसके राजा को बन्दी बना लिया गया। इन इतिहासकारों के अनुसार मल्हिराजा ने (मल्हि नाम सम्भवतः मदनचन्द्र का एक विकृत रूप है) एक गहरी रकम भेंटकर अपने को मुक्त किया।

गोविन्द चन्द्र—गोविन्द चन्द्र सन् ११६४ ई० के पूर्व अपने पिता के राजसिंहासन पर बैठा। गोविन्द चन्द्र निस्सन्देह अपने कुल का सबसे प्रतापी और पराक्रमी शासक था। उसके चालीस अभिलेख, जिन पर १११४ से लेकर ११५४ तक के वर्षों

की तिथियाँ पड़ी हैं, उसके सुदीर्घ शासन काल का परिचय देते हैं। उसके सिक्कों से भी गहड़वालों की परिवर्धमाना शक्ति की सूचना प्राप्त होती है। उसके अभिलेख यह स्पष्ट सूचित करते हैं कि बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक पचास वर्षों में उत्तरी भारत के काफी विशाल भूभाग पर उसका प्रभाव विद्यमान था। उसने लाहौर के यामीनी शासकों का विरोध किया और पालों से भी वह लड़ा। उसने सेन राजाओं की नौका शक्ति की उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए मुँगेर अथवा पटना तक अपनी सेना बढ़ाई। उसने चन्देलों को पराजित करके उनसे पूरा मालवा छीन लिया। दक्षिण कोशल के कलचुरि नरेशों के साथ गोविन्द चन्द्र ने कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये।

विजय चन्द्र—गोविन्द चन्द्र का उत्तराधिकारी उसका तृतीय पुत्र विजयचन्द्र (११५५-११७०) था। उसने तुर्कों से मध्यदेश की रक्षा की। अपने शासन काल में उसने मुसलमानों को अपने राज्य की भूमि पर पाँव नहीं रखने दिया। 'पृथ्वीराजरासो' नामक हिन्दू काव्य-ग्रन्थ में इसके विजयों की एक तालिका दी हुई है, परन्तु उस पर विश्वास करना कठिन है। विग्रहराज वीसलदेव के एक लेख से ज्ञात होता है कि उसने विजय चन्द्र से दिल्ली छीन ली।

वापस लौट जायगा, किन्तु गोरी ने ११९२ ई० में पृथ्वीराज को हरा कर कन्नौज के राज पर आक्रमण कर दिया। इस समय जयचन्द्र काफी वृद्ध हो गया था, फिर भी अपनी सेना लेकर उसने गोरी के आक्रमण का सामना करने के लिए रणभूमि की ओर प्रस्थान किया और चन्दावर तथा इटावा के मैदान में उससे मुठभेड़ की। वीरतापूर्वक लड़ते हुए जयचन्द्र युद्धभूमि में मारा गया, किन्तु उसके राज्य पर गोरी ने अपना अधिकार नहीं जमाया और उसके पुत्र हरिश्चन्द्र को कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठा दिया।

गहड़वालों का अन्त—जयचन्द्र की राजसभा में सस्कृत के प्रसिद्ध महाकवि श्री हर्ष रहते थे जिन्होने 'नैषधचरित' नामक महाकाव्य और 'खण्डन-खण्ड खाद्य' नामक तर्क ग्रन्थ का प्रणयन किया। जयचन्द्र के पश्चात् हरिश्चन्द्र ने भी कुछ समय तक अवश्य कन्नौज पर राज्य किया। गहड़वालों का शासन कन्नौज राज्य के केवल पूर्वी भाग में कुछ दिनों तक और जारी रहा, परन्तु सन् १२२६ ई० तक वह भी मुसलमानो के हाथ में चला गया। कन्नौज पर अभी तक एक सामन्त का शासन था परन्तु सन् १२२६ ई० में मुस्लिम शासक इल्तुतमिश ने इस पर अधिकार जमा लिया। इसके बाद भारतीय इतिहास में कन्नौज का कोई 'विशेष राजनीतिक महत्व नहीं रह गया। शेरशाह ने इसको नष्ट कर दिया और आज प्राचीन कन्नौज भग्न स्थिति में है।

शाकम्भरी और अजमेर के चौहान

चाहमान वश के अनेक राजपूत सरदार आठवी शताब्दी के 'प्रारम्भ से ही अजमेर के उत्तर में साँभर झील के निकट साँभर (शाकम्भरी) नामक स्थान पर राज्य करने लगे थे। इस वश की अन्य शाखाओ का राज्य आगरा और ग्वालियर के मध्य में धौलपुर नामक स्थान में, रणथम्भौर मे और आबू पर्वत के उत्तर में नड्डूल (नदोल) में भी था। परन्तु ये वश शाकम्भरी के चौहानों की तरह विख्यात और महत्वपूर्ण नहीं थे। इसी वश के कुछ सरदार गुर्जर महेन्द्रपाल द्वितीय के समय मे उज्जैन के शासक के सामन्त थे। भड़ौच के चाहमान सरदार, जो नागभट्ट प्रथम के सामन्त थे, साँभर के चौहानों की ही तरह प्राचीन थे।

विग्रह द्वितीय इस वश का प्रथम उल्लेखनीय नरेश था। उसने सन् ९७३ के लगभग शासन करना आरम्भ किया और अपने राजवश की स्वतन्त्रता स्थापित की। कहा जाता है कि उसने अन्हिलवाड़ के मूलराज प्रथम को पराजित किया। पृथ्वीराज प्रथम ने सन् ११०५ ई० के लगभग राज्य किया। उसके पुत्र अजयराज ने अजयमेरु अथवा अजमेर नामक नगर की स्थापना की। उसने बारहवी शताब्दी के प्रारम्भ में शासन करना शुरू किया। वह अपने कुल का प्रथम शासक था जिसने एक आक्रमणात्मक साम्राज्यवादी नीति का अवलम्बन किया। उसने उज्जैन पर आक्रमण किया और परमार सेनानायक को बन्दी बना लिया। उसके लिए यह कहा जाता है कि उसने युद्ध में तीन राजाओं को तलवार के घाट उतार दिया। परन्तु हमें इस बात का विवरण

ज्ञात नहीं है कि इन युद्धों के फलस्वरूप उसके राज्य की सीमा में कोई विस्तार हुआ या नहीं। अजयराज के उपरान्त अर्णोराज शासक हुआ, जिसके दो अभिलेखों पर सन् ११३६ ई० की तिथि दी हुई है। उसका जयसिंह सिद्धराज और अन्हिलवाड़ के कुमारपाल से संघर्ष हुआ। अर्णोराज ने कुछ तुरुकों (अर्थात् पंजाब के मुसलमानों को, जिन्होंने उसके राज्य पर आक्रमण किया था) युद्ध में पराजित कर दिया और मार डाला।

विग्रह राज चतुर्थ—विग्रहराज चतुर्थ अथवा बीसलदेव चाहमान वंश का एक अति प्रतापी और विख्यात नरेश था, जिसने चाहमानों की शक्ति को काफी बढ़ा दिया और उसे एक साम्राज्य-सत्ता के रूप में परिणत करने का प्रयास किया। सन् ११५३ ई० में विग्रहराज चतुर्थ बीसलदेव शाकम्भरी के राजसिंहासन पर बैठा। उसने गहड़वालों से दिल्ली छीनकर अपने राज्य में मिला लिया। उसने जाबालिपुर, नद्दूल और राजपूताना के अन्य छोटे-छोटे भू-भागों पर अपना अधिकार कर लिया। ये राज्य कुमारपाल के अधीनस्थ थे, अतएव इनको जीतकर विग्रहराज चतुर्थ ने उस पराजय का बदला लिया जो उसके पिता को चालुक्यों द्वारा सहन करनी पड़ी थी। उसने गुजरात तक अपने राज्य की सीमा बढ़ाई और जयसिंह सिद्धराज को पराजित किया। विग्रहराज चतुर्थ के लेखों से पता चलता है कि उसका राज्य उत्तर में शिवालिक की पहाड़ियों तक फैला हुआ था और दक्षिण में कम से कम जयपुर के जिले को उसके राज्य की सीमा स्पर्श करती थी।

सम्मिलित है, पृथ्वीराज तृतीय के जीवन की मूल घटनाओं का प्रमाणित और रोमान्चक कल्पनाओं से रहित विवरण दिया जा सकता है।

पृथ्वीराज तृतीय एक महान् विजेता और रणबाँकुरा सेनानायक था। उसने परमाल नामक चन्देल राजा को पराजित किया और उससे ११८२ ई० में उसकी राजधानी महोबा छीन ली। सन् ११८७ ई० में उसने गुजरात पर आक्रमण किया परन्तु उसे वहाँ विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकी और चालुक्य भीम द्वितीय के साथ उसने सधि सम्बन्ध स्थापित कर लिया। पृथ्वीराज तृतीय की गहड़वाल नरेश जयचन्द्र के साथ शत्रुता थी, यह हम पीछे कह चुके हैं।

पृथ्वीराज का यश मुख्यतः इस बात पर अवलम्बित है कि उसने मुस्लिम आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया, यद्यपि देश में राष्ट्रीयता की भावना के अभाव और अपनी अदूरदर्शिता के कारण वह दुबारा इस आक्रमण के सामने न ठहर सका। मुहम्मद गोरी ने पजाब को विजित कर लेने के उपरान्त पृथ्वीराज चौहान के पास यह सन्देश भिजवाया कि वह चौहान राजा के साथ मित्रता करना चाहता है। परन्तु पृथ्वीराज ने, जो इस समय यौवन की स्फूर्ति और साहसिकता से उद्वेलित हो रहा था, न केवल गोरी के प्रस्ताव को घृणापूर्वक ठुकरा दिया वरन् वह मुहम्मद गोरी से मोर्चा लेने के लिए आगे बढ़ा। परन्तु अपने वृद्ध मन्त्री के परामर्श को मान कर यह चुपचाप गोरी के आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगा। जब मुहम्मद गोरी, पृथ्वीराज के राज्य की सीमा में प्रविष्ट होकर उसकी प्रजा को सन्त्रस्त और उत्पीड़ित करने लगा तो चाहमान-राजा एक विशाल सेना लेकर उसका सामना करने के लिए आगे बढ़ा। तराइन के मैदान में दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई और एक भयकर युद्ध हुआ। युद्ध में मुसलमानों के छक्के छुट गये और वे भाग खड़े हुए। गोरी बड़ी कठिनाई से अपने कुछ विश्वासपात्र सरदारों के साथ प्राण लेकर रणक्षेत्र से भाग निकला "बुझते हुए प्रदीप की अन्तिम प्रभापूर्ण शिखा की भाँति हिन्दुओं की यह अन्तिम महान् सैनिक सफलता थी।"

परन्तु इस गहरी पराजय से गोरी तनिक भी हतोत्साह नहीं हुआ वरन् अपनी इस अपमानजनक पराजय का बदला लेने के लिए वह दिन-रात बेचैन रहने लगा। मध्य-एशिया के पहाड़ी लड़ाकुओं की एक विशाल सेना एकत्र कर गोरी ने पुनः अगले ही वर्ष पृथ्वीराज पर आक्रमण कर दिया। पृथ्वीराज ने इस आक्रमण की कल्पना तक न की थी। इस आकस्मिक और अप्रत्याशित विपत्ति से वह घबरा-सा गया, किन्तु साहस बटोर कर उसने पड़ोस के राजाओं को सहायता के लिए आमन्त्रित किया। फिरिश्ता नामक मुस्लिम इतिहासकार का कथन है कि पड़ोसी राजाओं ने उसकी सहायता की भी। किन्तु तब भी आकस्मिक विपत्ति के सामने पृथ्वीराज और उसके साथी अधिक समय तक टिक न सके। राजपूत सैनिकों ने वीरतापूर्वक युद्ध किया परन्तु अन्त में उनको पराजय ही सहन करनी पड़ी। इस युद्ध में अनेक वीर राजपूत सरदार खेत रहे। स्वय पृथ्वीराज भी बन्दी बना लिया गया और उसे तलवार के घाट उतार दिया गया। शाकम्भरी और अजमेर के राज्य पर गोरी ने अपना अधिकार कर लिया।

पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद [illegible] पर [illegible] और उसे [illegible] के बाद अपने चाचा के कारण उसे [illegible] पृथ्वीराज के पुत्र ने रणथम्भोर में [illegible] अलाउद्दीन [illegible] सन् १३०१ में [illegible]।

बुन्देलखण्ड के चन्देल

[illegible] (बुन्देलखण्ड) के चन्देलों का [illegible]।

नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में [illegible] स्थापित कर लिया। नन्नुक के [illegible] (जिजा या जिज्जक) थे। [illegible] नाम जजाकभुक्ति पड़ा। [illegible] की, हर्ष था। इसने महीपाल की [illegible] कन्नौज पर फिर से अधिकार करने में सहायता प्रदान की। [illegible] क्षितिपाल का उसके गृह-कलह में भी साथ दिया और उसके [illegible] को सिंहासनच्युत कर दिया। हर्ष के समय में चन्देलों की शक्ति [illegible] और कन्नौज राज्य के बीच की सीमा बन गई। हर्ष ने चाहमान [illegible] कन्या के साथ अपना विवाह किया था। उसको ही चन्देलों की शक्ति और [illegible] का वास्तविक संस्थापक कहा जा सकता है।

यशोवर्मन—हर्ष का पुत्र यशोवर्मन था, जिसने अपने को पूर्ण स्वतन्त्र घोषित कर दिया। उसने गुर्जरों को काफी क्षति पहुंचाई। वह एक महत्वाकांक्षी नरेश था। उसने प्रतीहार साम्राज्य की गिरती हुई अवस्था में उसकी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए क्षेत्र प्रस्तुत किया वह चेदियों के विरुद्ध आक्रमण करने में बड़ा भाग्यवान प्रमाणित हुआ क्योंकि इसी आक्रमण के फलस्वरूप उसे कालिंजर का प्रसिद्ध गढ़ प्राप्त हुआ। यशोवर्मन ने उत्तर में यमुना तक अपने राज्य का विस्तार किया। इसके बाद उसने अपना विजय-अभियान आरम्भ किया और अभिलेखों के अनुसार उसने गौड़ों, कोशलों, काश्मीरियों मैथिलों, मालवों, चेदियों और गुर्जरों को परास्त किया। यशोवर्मन ने खजुराहो के एक प्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण कराया और इसमें विष्णु भगवान की उस प्रतिमा को प्रतिष्ठित कराया जो उसने देवपाल से प्राप्त की थी। यशोवर्मन की मृत्यु के उपरान्त धंग राजा हुआ।

धंग—दसवीं शताब्दी के अन्त में धंग उत्तर भारत का सबसे प्रतापी और शक्तिशाली नरेश हो गया। हमने पीछे यह देखा था कि यशोवर्मन के शासन-काल तक चन्देल प्रतीहार शक्ति की अधीनता स्वीकार करते थे। धंग ने अधीनता के इस

अभिवेश को भी उतार फेंका और अपनी पूर्ण स्वाधीनिता घोषित करदी। उसके शासन-काल में चन्देलों की शक्ति का बड़ी तेजी से विकास हुआ। सन् ९५४ ई० तक उसका राज्य उत्तर में यमुना तक, उत्तर-पश्चिम में ग्वालियर तक, दक्षिण पश्चिम में भिलसा तक फैल गया। ग्वालियर और कालिंजर उसके हाथ में आ जाने से मध्य भारत में उसकी शक्ति काफी सुदृढ़ हो गई। उसने सम्भवतः इलाहाबाद पर भी अपना अधिकार जमाया। अपने पचास वर्ष के सुदीर्घकाल के शासन में उसने प्रतीहार साम्राज्य के भूभागों को विजित करना आरम्भ किया। और यमुना के उत्तर में दूर तक और पूर्व में बनारस तक अपना राज्य बढ़ा लिया। खजुराहो में उसने दो मन्दिरों का निर्माण कराया जिनका नाम मार्कंटेश्वर और प्रमथनाथ पड़ा। एक विद्वान का कथन है कि खजुराहो के सुन्दरतम मन्दिरों का निर्माता धग ही था। सौ वर्ष की लम्बी आयु में धंग का देहावसान प्रयाग में हुआ।

विद्याधर—धंग के उपरान्त उसका पुत्र गण्ड चन्देल राज्य का स्वामी हुआ। उसने भी अपने पिता की भाँति महमूद गजनवी के विरुद्ध सगठित किये गये हिन्दू राजाओं के संघ में भाग लिया था। आनन्दपाल (जयपाल का पुत्र) के अनुरोध पर महमूद के आक्रमणों का सामना करने के लिए हिन्दू राजाओं ने अपना एक सघ बनाया था, परन्तु यह सघ भी महमूद के प्रमाद को रोकने में सफल न हो सका। उसके बाद विद्याधर जैजाकभुक्ति राज्य का अधिकारी हुआ। विद्याधर ने महमूद के प्रति आत्म-समर्पण करने के कारण राज्यपाल प्रतीहार को घोर दण्ड दिया और कन्नौज के साम्राज्य को नष्ट करने का प्रयत्न किया। परमार नरेश भोज प्रथम और कलचुरि राजा कोक्कल द्वितीय के साथ विद्याधर की शत्रुता थी, परन्तु उसके सामने इन राजाओं की शक्ति तुच्छ थी। उसका प्रभाव चम्बल से लेकर नर्मदा तक फैला हुआ था। अतएव मुस्लिम लेखकों ने उसे "अपने समय का सबसे प्रभावशाली राजकुमार" कहा है। जब १०२१ ई० में गजनी के महमूद ने भारत पर आक्रमण किया और जब वह विद्याधर के सामने आया तो कुछ लेखकों के अनुसार विद्याधर रणक्षेत्र से भाग खड़ा हुआ। महमूद ने दो बार चन्देलों पर आक्रमण किये परन्तु लम्बे घेरे के बाद भी उसके दुर्गों पर अधिकार न कर सकने के कारण उसे वापस लौट जाना पड़ा।

चेदि नरेश गागेय के उत्थान ने चन्देलों की शक्ति के विकास में बाधा पहुँचाई, उसके पुत्र लक्ष्मीकर्ण कलचुरि की शक्ति ने भी चन्देलों की शक्ति को पर्याप्त हानि पहुँचाई। गन्ड के पौत्र विजयपाल को विवश होकर बुन्देलखण्ड की पहाड़ियों में शरण लेनी पड़ी और उसके पुत्र देववर्मन को गागेय के पुत्र कर्ण ने सिंहासनच्युत कर दिया। कर्ण ने भी कीर्तिवर्मन को अपनी सेना में नौकरी करने के लिए बाध्य किया। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कीर्तिवर्मन ने ब्राह्मण योद्धा गोपाल की सहायता से अपने वंश की लुप्तप्राय शक्ति और मर्यादा को पुनः प्रतिष्ठापित किया।

उसके बाद चन्देल वंश में मदनवर्मन नामक उल्लेखनीय नरेश हुआ। मदन वर्मन ने ११२९ ई० से लेकर ११६३ ई० तक शासन किया। इसके अभिलेखों से पता चलता है

कि खजुराहो, कालिंजर, महोबा और [illegible] पर [illegible] अधिकार था। [illegible] मालवा, गुजरात और चेदि इत्यादि [illegible] के साथ [illegible] मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था। उसके राज्य की [illegible] और [illegible] द्वारा निर्मित होती थी। लगभग [illegible] की [illegible] और दक्षिण में जबलपुर के [illegible]।

मदनवर्मन के बाद उसका [illegible]। उसका प्रारम्भिक सैनिक जीवन [illegible] मिलवा प्रदेश छीन लिया। परन्तु उसे [illegible] जो पराजय सहन करनी पड़ी उससे उसकी [illegible] १२०२ में कालिंजर पर घेरा डालकर उसे [illegible] महोबा पर भी उसका अधिकार हो गया। [illegible] ([illegible]) [illegible] १२०५ में कालिंजर पर फिर से अपना [illegible] को स्थापित किया जिससे कालिंजर पर [illegible]। रानी दुर्गावती जिसने अकबर से युद्ध किया था, [illegible] थी। कालिंजर के दुर्ग पर मुसलमानों का अधिकार [illegible] हो गया।

मालवा के परमार

परमार वंश की स्थापना उपेन्द्र अथवा कृष्णराज [illegible] शताब्दी के प्रारम्भ में की थी। पहले परमार लोग दक्कन के राष्ट्रकूटों के सामन्त [illegible]। आबू पर्वत के निकट उपेन्द्र रहता था। उसे राष्ट्रकूट सम्राट गोविन्द [illegible] ने मालवा का शासक नियुक्त कर दिया। उपेन्द्र के बाद उसके दो वंशजों ने राष्ट्रकूट के सामन्तिक नृपत्तियों के रूप में मालवा पर शासन किया और वे अपने स्वामी (राष्ट्रकूट सम्राट) के प्रति वफादार बने रहे। चौथे परमार सामन्त वाक्पति प्रथम ने [illegible] वंश की स्थिति का उन्नयन किया।

वाक्पति मुञ्ज—वाक्पति मुञ्ज ने मालवा के परमारों की शक्ति का वास्तविक रूप में विकास किया। अपने समय का वह एक महान् योद्धा और अपने कुल का सब से शक्तिशाली नरेश था। उसका सम्पूर्ण जीवन युद्धों और विजयों में व्यतीत हुआ। 'उत्पल राज,' 'अमोघवर्ष,' 'श्रीवल्लभ,' 'पृथ्वी वल्लभ,' आदि विरुद उसने धारण किये। उदयपुर के अभिलेख में वाक्पति मुञ्ज की विजयों की एक पूरी सूची दी गई है। सबसे पहले उसने त्रिपुरी के राजा युवराज द्वितीय को पराजित किया। इसके बाद उसने लाट (गुजरात), कर्नाटक चोल और केरल के राजाओं को युद्ध में परास्त किया उसने उन हूणों पर जो मालवा के उत्तर-पश्चिम में हूणमण्डल नामक एक छोटे से प्रदेश पर शासन कर रहे थे, भी विजय प्राप्त की। हूणमण्डल नामक यह लघु-प्रदेश तोरमाण और मिहिरकुल के विशाल साम्राज्य का अन्तिम अवशेष था। मुञ्ज ने नदूदूल के चाहमानों पर आक्रमण किया और उनसे आबू पर्वत और आधुनिक जयपुर राज्य के दक्षिण के अनेक राज्यों को छीन लिया। उसने अन्हिलपाटन में चालुक्य वंश के संस्थापक मूलराज को भी हराया।

अपने पड़ोस के राज्यों को जीत लेने के उपरान्त मुञ्ज ने चालुक्य नरेश तैल द्वितीय पर आक्रमण करने का विचार किया। मुञ्ज ने तैल द्वितीय की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए उस पर छः बार आक्रमण किये, परन्तु जब उसने, सातवीं बार अपने अनुभवी मंत्री की चेतावनी को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए, गोदावरी पार किया तो वह बन्दी बना लिया गया। उसे कारावास में डाल दिया गया। मुञ्ज ने बाहर आने की योजनाएँ बना रक्खी थीं, किन्तु उसकी योजनाओं की सूचना उसके शत्रु को मिल गई जिससे उसका बध करा दिया गया। इस प्रकार राज्यारोहण के बीस वर्ष पश्चात् सन् ९९५ ई० में मुञ्ज को अपना दुःखद अन्त देखना पड़ा।

राजपूत युग के हिन्दू शासकों में मुञ्ज अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। मुञ्ज स्वयं कवि था और उसके द्वारा रचित पद्यों का सकलन काव्य-सग्रहों में मिलता है। कला और साहित्य का वह महान् संरक्षक और पोषक था। धनंजय, हलायुध, धनिक और पद्मगुप्त नामक कवि उसकी राजसभा को सुशोभित करते थे। पद्मगुप्त 'नवसाहसाकचरित, और हलायुध अभिधानरत्न, माला' तथा 'मृतसजीवनी, के रचयिता थे। मुञ्ज के लिए यह भी कहा जाता है कि वह एक उदार शासक था। उसने अनेक बड़े बड़े जलाशय खुदवाये और कई मदिरों का निर्माण कराया।

मुञ्ज के पश्चात् उसका भाई सिन्धुराज मालवा के राजसिंहासन पर बैठा। उसने चालुक्य राजा को परास्त कर अपने खोये हुए राज्यों को फिर से अधिकार में कर लिया। कहते हैं कि उसने हूणों और लाटों के विरुद्ध युद्ध किया। सिन्धुल अथवा सिन्धुराज का शासन अत्यन्त स्वल्प काल तक ही रहा।

भोज—भोज का नाम सस्कृत साहित्य में अमर है। भारत के सबसे विख्यात और लोकप्रिय शासकों में भोज की गणना की जाती है। उसका शासन-काल अर्द्ध-शताब्दी से भी अधिक समय तक रहा। भोज अपने समय का एक पराक्रमी योद्धा था किन्तु अपनी सैनिक सफलताओं के द्वारा वह अपने राज्य की सीमा का विस्तार अधिक न कर सका। हाँ, यह अवश्य है कि भोज के सैनिक-कार्यों ने समकालीन नरेशों के बीच उसकी ख्याति जमा दी। भोज ने कल्याणी के चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय को परास्त करके मुञ्ज की हार का बदला लिया। भोज ने कलिंग के गङ्गों के एक सामन्त इन्द्ररथ और उत्तरी कोंकण के शासकों को हराया। गागेयदेव और राजेन्द्र चोल से उसने मित्रता स्थापित की, जिससे वह अपने चिर शत्रु दक्कन के चालुक्य से लोहा ले सके। भोज ने गुजरात के भीम प्रथम तथा लाट के कीर्तिराज को परास्त किया। कहते हैं कि उसने एक बार मुस्लिम सेना के विरुद्ध भी युद्ध किया और हूणों के ऊपर उसके द्वारा आक्रमण किये जाने का उल्लेख मिलता है। उदयपुर की प्रशस्ति में भोज की विजयों का अतिरञ्जनपूर्ण वर्णन है और उसे कैलास तथा मलय की भूमि का विजेता कहा गया है। निस्सन्देह यह प्रशस्ति ऐतिहासिक तथ्य से दूर है। वास्तव में भोज को युद्धों में जितनी विजयें प्राप्त हुई लगभग इतनी ही पराजयों को भी उसने सहन किया।

भोज की ख्याति उसके युद्धों के कारण नहीं वरन् उसके विद्यानुराग, उसके

प्रकाण्ड पण्डित, विद्या और साहित्य के [illegible] में [illegible] लोक कल्याण के लिए किए गए कार्यों ने [illegible] नहीं दे रहे हैं। भोज को इतने अधिक और [illegible] उनको भोज द्वारा प्रणीत मानने में सन्देह [illegible], गणित, ज्योतिष, कोष, वास्तु, अलंकार आदि [illegible] है। कुछ ग्रन्थों के, जो भोजरचित [illegible],' 'राजमृगांक,' 'व्यवहार समुच्चय,' 'शब्दानुशासन,' [illegible],' 'सरस्वती कण्ठाभरण,' 'नाम मालिका,' 'युक्ति कल्पतरु' [illegible] ग्रन्थों की रचना भोज ने न की हो, परन्तु [illegible] एक महान् और विख्यात लेखक था। भोज [illegible] नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें गद्य और पद्य दोनों की [illegible] 'सरस्वती-कण्ठाभरण' और 'शृङ्गार-प्रकाश' नामक ग्रन्थ काव्य-शास्त्र के [illegible] ग्रन्थों का अधिक समादर होता है। भोज विद्या का महान् [illegible] में संस्कृत का एक महाविद्यालय बनवाया जहाँ दूर दूर [illegible] अपनी बौद्धिक पिपासा शान्त करते थे। इसकी दीवालों पर बहुमूल्य रचनाओं [illegible] अनेक प्रस्तर-खण्ड उपलब्ध हुए हैं। इस विद्यालय की इमारत [illegible] कहते हैं। मालवा के नवाबों ने इसके स्थान पर मस्जिद बनवा दी। भोज की राज सभा में अनेक विद्वान रहा करते थे। उसकी राजसभा के विद्वानों में धनपाल और उसके भाई शोभन का नाम अधिक उल्लेखनीय है। सम्भवतः सीता नाम की कवियित्री को भी राजा भोज का संरक्षण प्राप्त था।

भोज के लोक सम्बन्धी कार्य—अपने राज्य भर में मन्दिरों का निर्माण करा के उसने अपनी धर्मानुरागी प्रजा की प्रशंसा प्राप्त की और राज्य को सजाया। उसने भोज पुर नामक नगर बसाया और इसके निकट एक बड़ी झील खुदवाई। भोज ने संस्कृत विद्यालय सरस्वती मन्दिर के निकट बनवाया था। इस मन्दिर के लिए सरस्वती की जो मूर्ति बनवाई गई थी। वह आज भी देखी जा सकती है। यह मूर्ति ब्रिटिश म्यूजियम में रक्खी हुई है। इसकी सुन्दरता और कलात्मकता की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है।

भोज के उत्तराधिकारी—भोज का उत्तराधिकारी जयसिंह एक ऐसे समय में मालवा के परमार राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ जिस समय राज्य को चालुक्य और कलचुरि घेरे हुए थे। ऐसी कठिन परिस्थित में जयसिंह ने अपने दक्षिणी पड़ोसियों दक्कन के चालुक्यों से सहायता की याचना की। दक्कन के चालुक्यों ने अपना पुराना बैर भुलाकर सिद्धराज की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और राजकुमार विक्रमादित्य ने मालवा को उसके शत्रुओं से मुक्त कर दिया। उदयादित्य ने, जो सम्भवतः भोज का भाई था सिंहासन पर अनुचित तरीकों से अपना अधिकार जमा लिया। उसने मालवा की गिरती शक्ति को सँभालने का प्रयत्न किया। उसने उदयपुर में नील कण्ठेश्वर मन्दिर का निर्माण कराया जो अब भी अच्छी स्थिति में विद्यमान

है और उस युग के उत्तर भारत की वास्तुकला का सुन्दर नमूना प्रस्तुत करता है। इन्दौर के एक गाँव उन में बहुत से जैन और हिन्दू मन्दिर हैं जिनमें से अधिकांश का निर्माण सम्भवतः उदयादित्य ने कराया था।

उदयादित्य के उपरान्त लक्ष्मणदेव मालवा राज्य का स्वामी हुआ। उसने यश-कर्ण कलचुरी और कदाचित् चोलो तथा गजनी के महमूद वशजों पर विजय प्राप्त की। नर वर्मन और यशोवर्मन लक्ष्मणदेव के बाद मालवा के उत्तराधिकारी हुए, जिनकी ज्ञात तिथि क्रमशः १०६७-१११ और ११३४-११४२ है। इस काल में मालवा के ऊपर सोलंकियों ने अपना अधिकार जमा लिया और ११३७ से लेकर ११७३ तक उस पर उनका अधिकार रहा। यशोवर्मन की मृत्यु के बाद परमारों का राज्य उसके उत्तराधिकारियों के बीच विभाजित कर दिया गया। कुमार पाल के पश्चात् सोलंकी नरेश मुसीबतों में पड़ गये जिससे मालवा के परमारों को अपनी शक्ति सँभालने का अवसर प्राप्त हो गया। विन्ध्वर्मन ने ११६२ में धर को अपने अधिकार में कर लिया और उसके उत्तराधिकारी सुमत वर्मन ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ किया।

अर्जुनवर्मन के समय में मालवा का प्राचीन वैभव कुछ अंशो में लौट आया। अर्जुनवर्मन ने स्वय 'अमरू शतक' पर एक टीका लिखी और उसके शासन-काल में 'पारिजात मजरी' नामक नाटक लिखा गया, जो अपने पूर्ण रूप में आज उपलब्ध नहीं है परन्तु यह पाषाण-स्तम्भों पर उत्कीर्ण कराया गया था, अतएव इसके कुछ अंश अब भी मिलते हैं। अर्जुनवर्मन की मृत्यु के पश्चात् परमारों की शक्ति धीरे-धीरे गिरने लगी। सन् १२६२ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने मालवा को लूट लूटा। इसके बाद मालवा की हिन्दू -सत्ता का नाश हो गया।

अन्हिलवाड़ के सोलंकी

गुजरात में अन्हिलवाड़ (पाटन) नामक स्थान पर पहले प्रतीहार साम्राज्य का अधिकार था परन्तु राजनीतिक प्रभुता के लिए राष्ट्रकूटों और प्रतिहारों में जो पारस्परिक सघर्ष हुआ उससे लाभ उठाकर मूलराज प्रथम ने दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया और अन्हिलवाड़ को अपनी राजधानी बनाया।

मूलराज सोलंकी—मूलराज सोलंकी ने अपने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर लेने के बाद इसकी सीमाओं के विस्तार का भी प्रयत्न किया। उसने शीघ्र ही कच्छ देश और सुराष्ट्र के पूर्वीय भाग पर अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु उसे अपने प्रबल पड़ोसियों का भी सामना करना पड़ा। मूलराज की मृत्यु रणस्थल में विग्रहराज द्वितीय के हाथों हुई। मूलराज के पुत्र चामुण्डराज ने धारा नगरी के परमार नरेश सिन्धुराज को पराजित किया। चामुण्डराज का पौत्र भीमदेव प्रथम (१०२२) सोलंकी राजकुल का एक विख्यात नरेश था।

भीमदेव प्रथम— भीमदेव प्रथम के शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में मह-

मूद ने उसके राज्य पर आक्रमण किया [illegible] करने का निश्चय किया परन्तु [illegible] आतंक छा गया और वह रणभूमि छो[illegible] को खूब लूटा खसोटा और अतुल सम्पत्ति [illegible] सोमनाथ के मन्दिर को तुड़वा [illegible] कराया। महमूद के लौट जाने पर भीमदे[illegible] पहले उसने आबू के परमार राजा को हरा[illegible] के राजसिंहासन पर समासीन हुआ। कर्ण ने [illegible] किया। कर्ण का शासन काल शान्तिपूर्ण [illegible] मन्दिरों का निर्माण कराया। उसके समय में उसके [illegible] की गई। उसने कवि बिल्हण को राजाश्रय प्रदान किया। [illegible] दित्य ने युद्ध में पराजित किया।

जयसिंह सिद्धराज—कर्ण का पुत्र जयसिंह [illegible] प्रतापी और विख्यात राजा था। उसने अपनी रणवाहिनी [illegible] घुमाया और लगभग सर्वत्र विजय पाई। अपनी विजयों से उस[illegible] आतंकित कर दिया। उसने सुराष्ट्र के आभीर सरदार को युद्ध में [illegible] करके उसके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया। जयसिंह ने बारह वर्षों तक मालवा से युद्ध किया और नरवर्मन तथा यशोवर्मन दोनों को सिंहासनाच्युत करके उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। नद्दुल और शाकम्भरी दोनों स्थानों के चाहमान नरेशों ने उसके आगे आत्मसमर्पण कर दिया और वे उसके सामन्त के रूप में अपने राज्य का शासन करते रहे। जयसिंह ने यश कर्ण कलचुरि और गोविन्दचन्द्र गहड़वाल से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया। उसने चन्देल राज्य पर भी आक्रमण किया और कालिंजर तथा महोबा तक आगे बढ़ गया। चन्देल नरेश मदनवर्मन को विवश होकर जयसिंह के साथ सन्धि करनी पड़ी और इस सन्धि के फलस्वरूप उसने सोलंकी राज्य को भिलसा का प्रदेश दिया। जयसिंह ने चालुक्य नृपति विक्रमादित्य षष्ठ पर भी विजय प्राप्त की। कहा जाता है कि सिन्ध के अरबों के विरुद्ध युद्ध में भी जयसिंह को सफलता प्राप्त हुई थी। उसके अभिलेखों के प्राप्ति स्थानों से विदित होता है कि गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मालवा और दक्षिणी राजपूताना उसके राज्य में सम्मिलित थे। जयसिंह ने ११९३-९४ ई० में एक नया सम्वत् चलाया।

यद्यपि सोलंकी नरेश जयसिंह का भी समय राजाभोज की भांति अधिकतर युद्ध में व्यतीत हुआ तथापि भोज की ही तरह इसने भी विद्या को प्रश्रय प्रदान किया। ज्योतिष, न्याय और पुराण के अध्ययन के लिए जयसिंह ने शिक्षण-संस्थाएं खुलवाई। उसकी राजसभा में प्रसिद्ध जैन लेखक महा पण्डित हेमचन्द्र रहते थे। जयसिंह ने अपने राज्य में मन्दिरों का निर्माण कराया। स्वयं शैव होते हुए भी उसने जैन पण्डित हेमचन्द्र को अपनी राजसभा में स्थान दिया। जयसिंह ने 'अवन्तिनाथ' और 'राजसिद्ध' के विरुद धारण किए।

कुमारपाल—जयसिंह के उपरान्त उसके दूर के एक सम्बन्धी कुमारपाल ने

उसके राज्य पर अधिकार कर लिया, क्योंकि जयसिंह के कोई पुत्र नहीं था। कुमारपाल ने शाकम्भरी के चाहमानों को पराजित किया और आबू के परमारों को दबाया। कोंकण के राजा मल्लिकार्जुन को भी उसने हराया था। कुमारपाल जैन धर्म के इतिहास में काफी प्रसिद्ध है। जैन ग्रन्थों में लिखा है कि आचार्य हेमचन्द्र के सशक्त धर्मनिरूपण से प्रभावित होकर कुमारपाल ने जैन मत ग्रहण कर लिया। उसने अपने राज्य भर में अहिंसा के सिद्धान्तों के परिपालन के लिए कठोर आज्ञाएँ निकलवा दीं। जैन धर्म का अनुयायी होने पर भी कुमार पाल ने अपने पूर्वजों की शिवोपासना सम्बन्धिनी मनोवृत्ति का त्याग नहीं किया। इसने सोमनाथ के प्रसिद्ध मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया।

भीमसेन द्वितीय—कुमारपाल के बाद गुजरात का शासक अजयपाल हुआ जिसने अपने राज्य में जैन मत के विरुद्ध एक प्रतिक्रियात्मक नीति का प्रचार किया। उसने जैन मन्दिरों को विध्वंश कराना शुरू किया। कहा जाता है कि उसने महापण्डित हेमचन्द्र के प्रिय शिष्य और प्रसिद्ध लेखक रामचन्द्र का वध करा दिया था। उसके राज्य के एक अफसर ने उसकी हत्या कर दी। अजयपाल के पश्चात् मूलराज द्वितीय ने कुछ समय तक शासन किया। उसके बाद भीमदेव द्वितीय राजा हुआ जिसने अपने राज्यारोहण के वर्ष ही गोर के मुहम्मद को युद्ध में हराया। सन् ११९५ में भीमदेव द्वितीय ने कुतुबुद्दीन से युद्ध किया और उसे इतनी गहरी पराजय दी कि मुस्लिम सेनानायक का अजमेर तक ढकेल दिया। परन्तु दूसरे वर्ष (११९७ ई०) में अन्हिलवाड़ पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। किन्तु कुतुबुदीन का गुजरात पर स्थायी रूप से अधिकार नहीं स्थापित हो सका।

भीमदेव द्वितीय ने एक लम्बे समय साठ वर्षों तक शासन किया। उसके समय में मुसलमानो के जो आक्रमण हुए उससे उसके राज्य की स्थिति काफी डावाँडोल हो गई और प्रान्तीय शासकों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने का अवसर ताकना आरम्भ किया। किसी प्रकार अन्हिलवाड़ अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करता हुआ अलाउद्दीन खिलजी के पूर्व तक बना रहा।

त्रिपुरी के कलचुरि

कलचुरि वंश का संस्थापक तथा प्रथम ऐतिहासिक शासक कोक्कल प्रथम (८७५-९२५) था, जिसने राष्ट्रकूटों और चन्देलों के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित किये।

कोक्कल ने अपने विजयों के द्वारा जिस राज की स्थापना की उसमें उसकी मृत्यु के शीघ्र बाद विघटन के तत्व उत्पन्न हो गये जिससे कलचुरियों की शक्ति क्षीण होने लगी। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में गांगेयदेव की अधीनता में कलचुरियों को भारत की सबसे महान् राजनीतिक शक्ति होने का गौरव प्राप्त हो गया।

गाङ्गेयदेव—गांगेय देव ने वीर देश अथवा काँगड़ा घाटी तक उत्तर भारत में आक्रमण किये, पूर्व में बनारस तथा प्रयाग तक अपने राज्य की सीमा को बढ़ाया। प्रयाग और वाराणसी से और आगे वह पूर्व में बढ़ा। अपनी सेना लेकर वह सफलता

पूर्व की ओर समुद्रतट तक पहुँच गया और उसने उड़ीसा को विजित किया था। अपनी इन विजयों के कारण उसने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी। उसने पालों की शक्ति की अवहेलना करते हुए अङ्ग पर आक्रमण किया था। गांगेयदेव की मृत्यु प्रयाग में हुई थी। उसकी मृत्यु के बाद उसकी सौ पत्नियाँ उसके साथ चिता में जलकर भस्म हो गई।

लक्ष्मी कर्ण—गांगेयदेव के उपरान्त उसका प्रतापी पुत्र लक्ष्मी कर्ण अथवा कर्णराज सिंहासन पर बैठा। वह अपने पिता की भाँति एक वीर सैनिक और 'सहस्रों युद्धों का विजेता' था। उसने काशी विजय और महाकोशल विजय द्वारा कलचुरी शक्ति का विकास किया। कल्याणी और गुजरात के शासकों से सहायता प्राप्त कर कर्ण ने परमार राजा भोज को पराजित किया। उसने चन्देलों और पालों पर विजय प्राप्त की। उसके अभिलेख बंगाल और उत्तर प्रदेश में पाये जाते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि इन भागों पर उसका अधिकार था। कर्ण का राज्य गुजरात से लेकर बंगाल और गंगा से महानदी तक फैला हुआ था।

कर्ण अपनी विजय वाहिनी को पूर्वी समुद्र तट की ओर बढ़ाता हुआ काञ्ची तक पहुँच गया जिस पर उस समय चोलों का राज्य था। कहा जाता है कि कर्ण ने दक्षिण में पल्लवों, कुङ्गों, मुरलों और सुदूर दक्षिण के पाण्ड्यों को पराजित किया। यह सम्भव है कि दक्षिण की इन जातियों ने चोलों की सहायता की हो और उसने इन सबकी सामूहिक शक्ति को मात दिया था। कर्ण की इन विजयों के कारण उसे 'भारतीय इतिहास के सबसे महान् विजेताओं में से एक' कहा गया है। उसकी तुलना प्रसिद्ध विजेता नेपोलियन के साथ की गई है। परन्तु यह भूलना न चाहिए कि अपने जीवन के अन्तिम दिनों में कर्ण को कई पराजयें सहनी पड़ी थीं। पालों, चन्देलों का कोई स्थाई प्रभाव नहीं पड़ सका। उसकी विजयों ने उसके गौरव को तो बढ़ाया किन्तु उसकी राज्य सीमा में कोई विस्तार नहीं किया। १०७२ ई० में कर्ण ने अपने पुत्र के लिए सिंहासन त्याग दिया।

यश कर्ण—सन् १०७३ के लगभग यश.कर्ण त्रिपुरी के सिंहासन् पर बैठा। उसने वेंगीराज्य और उत्तरी बिहार तक धावे बोले। उसके पिता के अन्तिम दिनों में उसके राज्य की स्थिति काफी डाँवाँडोल हो गई थी और इसी डाँवाँडोल स्थिति में उसने राजसिंहासन पर पैर धरा था। परन्तु अपने राज्य की इस विषम स्थिति का विचार न करते हुए यश.कर्ण ने अपने पिता और पितामह की भाँति सैन्य विजय का क्रम जारी रक्खा। पहले तो उसे कुछ सफलता मिली लेकिन शीघ्र ही उसका राज्य स्वयं आक्रमणों का केन्द्रबिन्दु बन गया। इन सब पराजयों ने उसकी शक्ति को झकझोर दिया। उसके हाथ से प्रयाग और वाराणसी के नगर निकल गये और उसके वंश का गौरव श्रीहत हो गया।

यश कर्ण के उत्तराधिकारी और कलचुरि वंश का पतन—यश.कर्ण के उपरान्त उसका पुत्र गयाकर्ण सिंहासनारूढ़ हुआ। किन्तु अपने पिता के शासनकाल

में आरम्भ होने वाली अपने वश की राजनीतिक अवनति को वह रोक सका। गयाकर्ण का द्वितीय पुत्र जयसिंह कुछ प्रतापी था। उसने कुछ अश तक अपने वश के गौरव को पुनः प्रतिष्ठापित करने में सफलता प्राप्त की। उसने सोलकी-नरेश कुमारपाल को पराजित किया। जयसिंह की मृत्यु ११७५ और ११८० के मध्य किसी समय हुई। उसका पुत्र विजयसिंह काक्कल प्रथम के वश का अतिम नरेश था जिसने त्रिपुरी पर राज्य किया। विजय सिंह को ११९६ और १२०० के बीच में जैतुगि प्रथम ने, जो देवगिरि के यादव वश का नरेश था, मार डाला और त्रिपुरी के कलचुरि वश का उन्मूलन कर दिया।

बंगाल के पाल

बगाल का प्रान्त मगध राज्य मे सम्मिलित था। नन्दो के समय में भी बगाल मगध साम्राज्य के अन्तर्गत था। मगध के राजसिंहासन पर बैठने वाला सम्राट् बगाल का भी स्वामी होता था। छठीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गौड़ अथवा बगाल स्वतन्त्र हो गया और गुप्त-शक्ति काफी बढ़ गई। परन्तु शशाक की मृत्यु के बाद बगाल की राजनीतिक एकता और सार्वभौमिकता विनष्ट हो गई। अब सम्राट् हर्षवर्द्धन और कामरूपाधिपति भास्करवर्मन दोनो को अवसर प्राप्त हो गया और उन्होंने बगाल पर आक्रमण करके इसको सम्भवत. दो भागों में विभक्त कर दिया, जिनको उन्होंने आपस में बॉट लिया। आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे शैल वश के एक राजा ने पौन्ड्र पर अधिकार कर लिया। काश्मीर-नरेश ललितादित्य युक्तापीड और कन्नौज-नरेश यशोवर्मन ने भी बगाल पर आक्रमण किया था। कामरूप-नरेश हर्ष देव ने अवसर पाकर बगाल को विजित कर लिया। एक दृढ़ शासन-शक्ति के अभाव में बगाल अव्यवस्था और अराजकता का केन्द्र हो गया। आक्रमणों के तॉते ने बगाल मे चारो और अशान्ति एव गड़बड़ी फैला दी, जिससे ऊब कर सारे सरदारो और जनता ने मिलकर गोपाल नामक व्यक्ति को अपना राजा चुन लिया। गोपाल को सम्पूर्ण बंगाल का शासक स्वीकार कर लिया गया।

गोपाल—आठवी शताब्दी के प्रथमार्द्ध मे गोपाल ने बगाल का शासन सॅभाला। गोपाल ने बगाल में हिमालय से लेकर समुद्र तट तक सम्पूर्ण राज्य को सुसगठित किया और विगत डेढ़ शताब्दियो की अराजकता और अव्यवस्था का अन्त करके समस्त बगाल में शान्ति स्थापित की। उसने नालन्दा के निकट ओदन्तपुरी नामक स्थान पर एक विश्वविद्यालय की स्थापना कराई। गोपाल ने अपनी मृत्यु के समय अपने उत्तराधिकारी के लिए एक समृद्ध और सुशासित राज्य छोड़ा। उसके उत्तराधिकारियों ने बगाल को राजनीतिक उत्कर्ष और सांस्कृतिक गौरव की उस पराकाष्ठा पर पहुॅचाया, जिसकी उसने पहले कभी स्वप्न में भी कल्पना न की थी। गोपाल के बाद धर्मपाल बगाल का राजा हुआ।

धर्मपाल—धर्मपाल अपने वश की वास्तविक महत्ता का संस्थापक था। धर्मपाल एक सुयोग्य और कर्मठ शासक था, जिसने अपने राज्य की सीमा सोन नदी के पश्चिम तक बढ़ा दी। वह धार्मिक मनोवृत्ति का था और पिता की भाँति बौद्ध था,

फिर भी राजनीतिक दृष्टि से [illegible]
लिखा है कि धर्मपाल [illegible]
ने जालंधर और उत्तर में [illegible]
है कि तारानाथ का [illegible]
फलस्वरूप उत्तरी भारत में धर्मपाल [illegible] था ।

धर्मपाल ने लगभग [illegible]
से बाद विहारों का निर्माण [illegible]
भी उसने कराई थी । [illegible]
केन्द्र स्थापित हो गया था । धर्मपाल ने [illegible]
विहारों का निर्माण कराया था ।

देवपाल—देवपाल वंश का तीसरा राजा था । [illegible]
शाली राजा था । उसने [illegible]
(मुँगेर) को अपनी राजधानी बनाया । [illegible]
उड़ीसा पर विजय प्राप्त की । देवपाल ने अपने [illegible]
एक अभिलेख में कहा गया है कि वह हिमालय [illegible]
मध्यवर्ती प्रदेश का स्वामी था और दक्षिण में [illegible]
प्राप्त की । उड़ीसा और आसाम पर उसका आधि[illegible]
विस्तृत हो गया । समकालीन नरेशों के बीच देवपाल [illegible], किन्तु
प्रतिहार-नरेश मिहिर-भोज के राज्यारोहण से गुर्जर [illegible] का उदय हुआ
जो महेन्द्रपाल की मृत्यु तक बनी रही ।

देवपाल ने कलाओं को पनपने का अवसर प्रदान [illegible] अथवा महा-
बोधि के मन्दिर के निर्माण में भी देवपाल का योग था । [illegible] उदार संरक्षक
था और उसकी राजसभा बौद्ध विद्वानों के लिए एक [illegible] में हो गई ।
बौद्ध कवि वज्रदत्त उसकी राजसभा में रहता था और उसने 'लोकेश्वर शतक'
नामक सुप्रसिद्ध काव्य की रचना की थी । देवपाल का शासन काल ८१५ और ८५५ ई०
के बीच रखा जा सकता है ।

नारायण पाल—देवपाल के बाद बंगाल राज्य पर कई छोटे-छोटे राजाओं ने राज्य किया परन्तु इनके शासन की अवधि बहुत अल्प थी । उन्होंने बहुत थोड़े समय तक ही राज्य किया । नारायण पाल अपने वंश का एक शक्तिशाली शासक था जिसने कम से कम ५४ वर्ष तक राज्य किया । अपने पूर्वजों के विपरीत नारायणपाल शैव-धर्म का अनुयायी था और उसने बाहर से शैव-सन्यासियों को अपने राज्य में आमन्त्रित किया था ।

महीपाल प्रथम—नारायण पाल के बाद उसका पुत्र राज्यपाल शासनाधिकारी हुआ, किन्तु उसके समय में गुर्जरपाल से संघर्ष में पालों की स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ । गोपाल द्वितीय और विग्रहपाल द्वितीय (९३५-९९२) के समय में पालों

की शक्ति कुछ अंशों में बढ़ गई। महीपाल प्रथम के राज्यकाल की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी चोलों का आक्रमण। राजेन्द्र चोल के एक सेनानायक ने उड़ीसा के मार्ग से होकर बंगाल पर आक्रमण कर दिया। आक्रमण का महीपाल प्रथम ने सामना किया परन्तु चोल सेना ने उसे पराजित कर दिया। फिर भी चोल-नरेश ने उसे गंगा पार न बढ़ने दिया।

महीपाल बंगाल के शासकों में काफी प्रसिद्ध है। आज भी उसकी प्रशंसा में गीत गाये जाते हैं। नालन्दा के विशाल बुद्धमन्दिर का पुनर्निर्माण महीपाल प्रथम के शासन के ग्यारहवें वर्ष में कराया गया था। बनारस के बौद्ध मन्दिरों की, उसके सम्बन्धियों स्थिरपाल और वसन्तपाल ने मरम्मत कराई थी। महीपाल प्रथम के ही समय में मगध से धर्मपाल तथा अन्य धर्माचार्यों ने आमन्त्रण मिलने पर तिब्बत की यात्रा की थी और वहाँ उन्होंने बौद्धों को सम्मानपूर्ण स्थान दिलाने का प्रयत्न किया। महीपाल के सुदीर्घकालीन शासन के उपरान्त नयपाल पालवंश के राज्य का स्वामी हुआ।

नयपाल—नयपाल को बहुत थोड़े ही समय तक राज्य करने को मिला। उसके शासन-काल में हिन्दुओं का तीर्थस्थान गया, एक भव्य और शानदार नगर के रूप में हो गया। नयपाल के शासन-काल के अन्तिम दिनों में मगध पर विख्यात चेदि-नरेश कर्ण ने आक्रमण कर दिया। चेदि-सेनाओं ने पहले तो पाल राज्य को क्षति पहुँचाई परन्तु बाद में पाल सेना ने चेदियों को परास्त कर दिया।

नयपाल के बाद उसका पुत्र विग्रहपाल तृतीय राजा हुआ। विग्रहपाल तृतीय के समय में पाल साम्राज्य ह्रासोन्मुख हो चला था। उसकी मृत्यु ने उसके राज्य की स्थिति को और अधिक जटिल कर दिया।

विग्रहपाल तृतीय के उत्तराधिकारी—विग्रहपाल तृतीय की मृत्यु के बाद बंगाल में गृह युद्ध छिड़ गया। उसके तीन पुत्र थे—महीपाल द्वितीय, सूरपाल और रामपाल। महीपाल द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ और अपने भाई सूरपाल तथा रामपाल को बन्दी बना लिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सिंहासन के लिए गृहयुद्ध के कारण पाल राज्य काफी कठिनाई में पड़ गया। तीनों को परस्पर युद्ध करते हुए देखकर बंगाल में वर्मन लोग उठ खड़े हुए। इस समय तक पाल राज्य की सीमाएँ यों ही काफी संकुचित हो गई थी, वर्मनों के उत्थान से वे सीमाएँ और अधिक सिकुड़ गईं। इस स्थिति में रामपाल ने बड़े धैर्य से काम लिया।

रामपाल—रामपाल ने अपने वंश के समर्थकों की सहायता से सिंहासन पर अधिकार कर लिया और कैवर्त नामक विद्रोही कबीले को पराजित किया। उसने आसाम तथा अन्य राज्यों पर भी विजय प्राप्त की। रामपाल ने उत्तरी बंगाल पर भी विजय प्राप्त की, उसने कलिंग पर भी आक्रमण किया। इन विजयों से पाल राज्य की स्थिति कुछ सुधर गई, परन्तु शीघ्र ही फिर साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया वेगवती हो गई। मामा की मृत्यु हो जाने से रामपाल के चित्त को इतना प्रबल आघात पहुँचा कि गंगा में डूब कर उसने अपना प्राण त्याग दिया।

पाल साम्राज्य का पतन—रामपाल के बाद पाल साम्राज्य की स्थिति और अधिक डाँवाडोल हो गई। उसके पुत्र कुमारपाल के समय में [illegible] हो गया। उसका पुत्र गोपाल तृतीय मदन पाल के द्वारा मार डाला गया। मदनपाल का अधिकार दक्षिणी बिहार पटना और मुंगेर तक सीमित था। [illegible] पाल शासक हुआ जिसका अधिकार [illegible] तक ही सीमित रह गया। [illegible] गहड़वालों और सेनों के आक्रमण [illegible] के कारण पाल साम्राज्य की स्थिति बड़ी ही शोचनीय हो गई। [illegible] गये। सेन वंश के उत्कर्ष, [illegible] और परवर्ती पाल नरेशों की अयोग्यता के कारण पालों के साम्राज्य का पतन हो गया।

पाल शासन का महत्व—"पाल शासन के [illegible] काल [illegible] की गणना सबसे बड़ी-बड़ी शक्तियों में की [illegible] साहित्य और कला सम्बन्धी क्षेत्रों में उत्कृष्ट हो गया। प्रसिद्ध चित्रकार, [illegible] की प्रतिमा गढ़ने वाले धीमान् और विटपाल भाग्य से [illegible] कला के निर्माण में संलग्न रहे।" कला के क्षेत्र में पाल नरेशों का [illegible] महत्वपूर्ण योगदान था। सारे बंगाल और बिहार में पाल नरेशों ने [illegible], [illegible] और मूर्तियों का निर्माण कराया।

शिक्षा और धर्म के क्षेत्र में भी पालों का [illegible] महत्वपूर्ण था। हम देख चुके हैं कि ओदन्तपुरी और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों की स्थापना पाल-नरेशों ने ही की थी। नालन्दा की भाँति इन विश्वविद्यालयों की [illegible] देश के दूरस्थ भागों तक फैला हुआ था और दूर दूर के विद्यार्थी यहाँ ज्ञानार्जन के लिए आया करते थे। शिक्षा के संरक्षण और प्रसार में इन बौद्ध विश्वविद्यालयों का काफी महत्वपूर्ण योगदान था। दो एक नरेशों को छोड़ कर बाकी सभी पालनृपति बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने बौद्ध धर्म को उस समय राज्याश्रय प्रदान किया जिस समय देश के अन्य भागों में यह पतनोन्मुख था। पाल नरेशों ने अपने राज्य में बौद्ध धर्म के प्रचार का पूरा प्रयत्न किया, परन्तु उनका धार्मिक दृष्टिकोण संकीर्ण नहीं था। वे ब्राह्मणों को भी दान-दक्षिणा देकर सम्मानित करते थे। बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अतीश नामक प्रसिद्ध दार्शनिक भिक्षु ने तिब्बत की यात्रा की थी। पालों के शासन काल में साहित्य की उन्नति अधिक तो नहीं हुई जितनी कला की किन्तु सन्ध्याकाल नन्दी का 'रामपाल चरित' नामक श्लेषात्मक महाकाव्य इसी समय लिखा गया। 'लोकेश्वर शतक' नामक काव्य की रचना बौद्ध कवि वज्रदत्त ने देवपाल के समय में ही की थी।

बंगाल का सेन वंश

विजय सेन—सेन वंश के संस्थापक सामसेन के पौत्र विजय सेन ने अपने वंश के गौरव को बढ़ाया। उसने ६२ वर्षों तक राज्य किया। विजय सेन ने बंगाल से वर्मनों को निकाल बाहर किया। उत्तरी बंगाल के मदन पाल को निर्वासित करने वाला

भी विजय सेन ही था। कहा जाता है कि उसने नैपाल, आसाम और कलिंग पर विजय प्राप्त की। रामपाल की मृत्यु के बाद पाल साम्राज्य के ध्वसावशेष पर विजय सेन ने जिस राज्य की स्थापना की उसमें पूर्वी, पश्चिमी और उत्तरी बगाल के भाग सम्मिलित थे। उसने परम माहेश्वर की उपाधि ग्रहण की जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि विजय सेन शैव था। सैन्य विजयो के साथ-साथ उसने सास्कृतिक और धार्मिक कार्य भी किये। उसने शिव-मन्दिर का निर्माण कराया, एक झील खुदवाई, विजयपुर नामक नगर बसाया और कवि उमापति को राज्याश्रय प्रदान किया।

बल्लाल सेन—बल्लाल सेन एक विद्वान शासक था। वश क्रमानुगत द्वारा उसे जो राज्य मिला उसकी उसने पूर्ण रूप से रक्षा की। उसका राज्य पाँच प्रान्तों में विभक्त था। कहा जाता है कि बल्लाल सेन ने अपने गुरु की सहायता से 'दानसागर' और 'अद्भुत सागर' नामक ग्रन्थों का प्रणयन किया। दूसरा ग्रन्थ वह अपूर्ण ही छोड़ कर मर गया। 'परम माहेश्वर' और 'निश्शकशकर' आदि विरुदो से बल्लाल सेन के शैव होने का प्रमाण मिलता है।

लक्ष्मण सेन—लक्ष्मण सेन अपने वंश का एक प्रसिद्ध शासक था, साथ ही साथ भारत के सबसे कायर नरेशों में भी उसकी गणना की जानी चाहिए। मुस्लिम इतिहासकारों के अनुसार, जब मुहम्मद बिन-बख्तियार खिल्जी बिहार को रौंदता हुआ अपनी छोटी सी सेना लेकर उसकी राजधानी पहुँचा तो लक्ष्मण सेन चुपचाप अपने महल के पिछले दरवाजे से निकल भागा।

लक्ष्मण सेन का शासन सस्कृत साहित्य के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उसकी राज सभा में 'पाँच रत्न' रहते थे जिनके नाम थे—जयदेव (गीत गोविन्द के रचयिता), उमापति, धोयी (पवनदूत के रचयिता), हलायुध और श्रीधर दास। लक्ष्मण सेन ने स्वय अपने पिता के अपूर्ण ग्रन्थ 'अद्भुत सागर' को पूरा किया।

लक्ष्मण सेन के राज्य पर मुसलमानो का आक्रमण ११९९ ई० मे हुआ था। इसके बाद सेन राजवश का अत हो गया यद्यपि पूर्वी बगाल पर और बाद इस तक वश के राजा राज्य करते रहे।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ हर्ष के पश्चात् कन्नौज मे जिन राजवशो की स्थापना हुई, उन पर सक्षेप मे प्रकाश डालिए।

२. पूर्व मध्यकालीन काश्मीर का इतिहास लिखते हुए उसकी सास्कृतिक अवस्था पर प्रकाश डालिए।

३ कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार वश के विषय में आप क्या जानते हैं? इस वश के किसी प्रमुख शासक का विवरण दीजिए।

४ कन्नौज के गहड़वाल वंश का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

५ शाकम्भरी और अजमेर के चौहानों के विषय में आप क्या जानते हैं?

६ बुन्देलखण्ड के चन्देलों की राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश डालिए।

७ मालवा के परमारों के किसी प्रमुख शासक की सफलताओं का उल्लेख कीजिये। भारतीय इतिहास में उस वंश का क्या स्थान है?

८ अन्हिलवाड़ा के सोलंकी तथा त्रिपुरी के कलचुरि वंशों का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

९ बंगाल के पाल और सेन वंशों के विषय में आप क्या जानते हैं? पाल-शासन पर सविस्तार प्रकाश डालिए।

अध्याय २६

दक्षिणापथ के राजकुल

दक्षिणापथ का अभिप्राय—सस्कृत शब्द 'दक्षिणापथ' का अभिप्राय नर्मदा नदी के दक्षिण के देश से है। इस प्रदेश का वर्तमान नाम दक्कन है। जिस प्रकार विन्ध्य और हिमालय के बीच की सारी भूमि को 'उत्तरापथ' की सज्ञा दी गई थी, उसी प्रकार नर्मदा नदी के दक्षिणावर्ती भूभाग को दक्षिणापथ कहा जाता था।

दक्षिणापथ का पूर्व इतिहास—आर्यों के दक्षिणापथ में प्रवेश और प्रसार से उत्तरापथ के निवासियों के साथ दक्कन के लोगो का सम्पर्क हुआ। 'रामायण' मे वर्णित दक्षिणापथ में राम का कथानक सम्भवत. एक ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि लिए हुए है जो उस प्रदेश में आर्यों के राजनीतिक विस्तार का सूचक है। महाकाव्य की एक और पुरानी परम्परा के अनुसार महर्षि अगस्त्य पहले ऋषि थे जिन्होंने विन्ध्य गिरि के पारवर्ती प्रदेशों में आर्य-धर्म और सस्कृति का प्रकाश फैलाया और एक उपनिवेश बसाया। यदि इस परम्परा में कोई ऐतिहासिक तथ्य है तो यह सास्कृतिक प्रवेश निश्चय ही राजनीतिक प्रभुता के स्थापित होने के पहले हुआ होगा और उसका काल लगभग आठवीं शताब्दी ई०पू० का अन्त अथवा सातवीं शताब्दी ई०पू० का प्रारम्भ माना जा सकता हे।

मौर्य साम्राज्य की सीमाएँ नर्मदा के दक्षिण में अवश्य ही फैली थीं, यद्यपि सुदूर दक्षिण के भाग उसमें सम्मिलित नहीं थे। मौर्यों का साम्राज्य सुदूर दक्षिण तक भले ही विस्तृत न रहा हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने भारत में जिस राजनीतिक एकता की स्थापना की उसका प्रभाव दक्षिण के काफी भूभाग पर था। किन्तु मौर्य साम्राज्य के विनष्ट हो जाने पर जिस प्रकार उत्तरापथ की राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई उसी प्रकार दक्षिण भारत में भी राजनीतिक एकता का अभाव उत्पन्न हो गया।

आन्ध्र या सातवाहन राज्य की स्थापना से कुछ समय के लिए दक्षिण में काफी दूर तक राजनीतिक एकता स्थापित हो गई। परन्तु ईसा की पाँचवीं सदी में जैसे ही यह साम्राज्य नष्ट हुआ यह राजनीतिक एकता भी छिन्न-भिन्न हो गई। दक्कन के विभिन्न भागो में कई राज्य उठ खड़े हुए। तृतीय सदी ईस्वी के मध्य ईश्वरसेन नामक आभीर सरदार ने सारा महाराष्ट्र सातवाहनों से छीन लिया। नागों के अधिकार में भी कुछ प्रदेश आ गये। ईसा की तीसरी शताब्दी से वाकाटक वश के नरेश ने मध्य-भारत और दक्कन के कुछ भागो पर राज्य करना आरम्भ किया। गुप्तयुग में जिस अभिनव राष्ट्रीय और सास्कृतिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ था उसका प्रसार दक्कन और सुदूर दक्षिणापथ तक था। परन्तु वाकाटक और गुप्त राज्यों के पतन से दक्षिणापथ में

विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति फिर एक बार सबल हो गई और अनेक राजवंशों की स्थापना हो गई। इन राजवंशों में वातापी (बादामी) के [illegible] और शक्तिशाली था, अतएव हम पहले इसी [illegible] इतिहास का [illegible] करेंगे।

चालुक्य

बादामी के प्रारम्भिक चालुक्य नरेश

चालुक्य वंश का प्रथम नरेश [illegible] था, [illegible] और कदम्बों से लड़कर एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। [illegible] और उत्तराधिकारी रणराज था जिसके समय में चालुक्यों की [illegible]। परन्तु उसके प्रिय पुत्र पुलकेशिन प्रथम को [illegible] वास्तविक संस्थापक माना जाता है। उसका राज्य सम्भवतः [illegible] और वातापी उसकी राजधानी थी।

कीर्तिवर्मन—पुलकेशिन [illegible] ने अपने [illegible] में जो सफलता प्राप्त की थी, उसमें उसे अपने पुत्र कीर्तिवर्मन से [illegible] सहायता मिली थी। कीर्तिवर्मन के समय में वातापी के चालुक्यों की शक्ति का प्रसार [illegible] हुआ। मङ्गलेश के महाकूट स्तम्भ अभिलेख के अनुसार कीर्तिवर्मन ने वङ्ग, अङ्ग, कलिङ्ग, वत्तूर, मगध, मद्रक, केरल, गङ्ग, मूषक, पाण्ड्य, द्रमिल, चोलिय, आलुक और वैजयन्ती के राजाओं को पराजित किया। परन्तु यह निश्चित है कि इस अभिलेख की सभी बातें अतिशयोक्तिपूर्ण हैं, अतएव इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। कीर्तिवर्मन की सफलताओं के फलस्वरूप, जिनमें से कुछ उसके पिता के शासन-काल में प्राप्त की गई थीं चालुक्यों का राजनीतिक प्रभाव बम्बई राज्य तथा मैसूर और मद्रास से लगे हुए काफी विस्तृत भागों पर फैल गया। ऐसा प्रतीत होता है कि कीर्तिवर्मन ने कोंकण के उन भागों को भी अपने राज्य में मिला लिया था जो मौर्यों के आधिपत्य में थे। महाराज कीर्तिवर्मन का शासन-काल ५६६-६७ से ५९७-९८ तक निश्चित किया गया है।

मङ्गलेश—कीर्तिवर्मन की मृत्यु के समय उसके पुत्र नाबालिग थे, अतएव राज-सिंहासन पर उसके सौतेले भाई ने अपना अधिकार जमा लिया। रेवती द्वीप और कलचुरियों के ऊपर विजय प्राप्त कर लेना मङ्गलेश की सबसे बड़ी सफलतायें थीं।

पुलकेशिन द्वितीय—पुलकेशिन द्वितीय (६१०-११ से लेकर ६४२ तक) अपने वंश का सबसे प्रतापी नरेश था ही, अपने समकालीन राजाओं में भी उसका स्थान गौरवपूर्ण था। उसके सिंहासनारोहण के समय में उसके राज्य की स्थिति बड़ी दयनीय हो गई थी।

पुलकेशिन द्वितीय की सैन्य सफलतायें और विजयें—अपने राज्य की स्थिति सुदृढ़ कर लेने के उपरान्त पुलकेशिन द्वितीय ने विजय-अभियान प्रारम्भ किया।

पुलकेशिन द्वितीय की सबसे महत्वपूर्ण सफलता थी इसके द्वारा उत्तरापथ के सम्राट हर्ष की पराजय। हर्ष ने पुलकेशिन पर आक्रमण किया परन्तु वह विफल प्रयत्न ही रहा। पुलकेशिन के सामने हर्ष की एक न चल सकी और उसे वापस लौटना पड़ा। इस विजय ने पुलकेशिन की प्रतिष्ठा को बहुत अधिक बढ़ा दिया। अपने अन्य समकालीन राज्यों पर उसका आतक जम गया। महाकाशल और कलिङ्ग के नृपति उससे भयभीत और आतंकित हो गए। उन्होने शीघ्र ही उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। इसके बाद समुद्रतटीय पथ द्वारा चालुक्य की सेना दक्षिण दिशा की ओर मुड़ी पिष्टपुर और एक अन्य दुर्ग पर पुलकेशिन द्वितीय का अधिकार हो गया। पुलकेशिन द्वितीय ने पल्लव-नरेश महेन्द्रवर्मन को युद्ध में पराजित किया और उसे अपने दुर्ग में शरण लेने के लिए बाध्य किया। पुलकेशिन द्वितीय के आक्रमण ने पल्लवा की राजधानी काञ्ची (आधुनिक कजीवरम) को खतरे मे डाल दिया। इसके बाद उसने कावेरी को पार करके चोलो, केरलो और पाण्ड्यों को अपना मित्र बनाया। पुलकेशिन द्वितीय का अन्त सुखद नहीं हुआ। उसके जीवन के अन्तिम दिनों मे चालुक्य शक्ति का ह्रास होने लगा। पल्लव नरेश नरसिंह वर्मन ने ६४२ ई० मे वातापी पर आक्रमण किया और पुलकेशिन द्वितीय को युद्ध में मार डाला। वातापी पर पल्लवो का अधिकार हो गया, किन्तु यह अधिकार भी स्थायी न हो सका। कुछ ही दिनो बाद चालुक्यो ने पुनः अपनी शक्ति सगठित कर ली।

पुलकेशिन द्वितीय का साम्राज्य—पुलकेशिन द्वितीय के सुविशाल साम्राज्य की सीमायें उत्तर में विन्ध्य पर्वत श्रेणी और महानदी तक, दक्षिण में मैसूर के पठार तक और आसिन्धु-सिन्धु पर्यन्त फैली थीं।

ह्वेनसाँग का विवरण—ह्वेनसाँग ने ६४१-४२ ई० में पुलकेशिन से नासिक मे भेट की थी और उसने राज्य का भ्रमण भी किया था। चीनी यात्री ने पुलकेशिन द्वितीय के व्यक्तित्व तथा उसके राज्य और उसके प्रजाजना के सम्बन्ध मे अपने वृत्तान्त लिखे हैं। पुलकेशिन के विषय में ह्वेनसाँग लिखता है, "वह क्षत्रिय जाति का है, उसके विचार विशाल और गम्भीर हैं और अपनी सहानुभूति तथा दान-क्रियाओं का उसने काफी विस्तार कर रक्खा हे। उसके प्रजाजन पूर्ण भक्ति के साथ उसकी सेवा करते हैं।"

चालुक्य की शक्ति का पुनरुत्थान—तेरह वर्षों तक चालुक्यो की शक्ति को पल्लवों ने ग्रसित कर रक्खा था। चालुक्यो का राज्य विभिन्न भागो में बट गया था, परन्तु विक्रमादित्य प्रथम (६५५-८०) ने, जो पुलकेशिन द्वितीय का सुयोग्य और वीर पुत्र था, अपने वश के गौरव का फिर से उपस्थित किया। उसने अपने पैतृक राज्य को पल्लवों से छीन लिया। अपने पहले सामरिक प्रयास मे ही उसने पल्लव राजधानी को लूटने के बाद सुदूर दक्षिण तक धावे किये और चोल, पाण्ड्य और केरल राज्यों की शक्तियो को परास्त किया। विनयादित्य ने ६८० से लेकर - और विजयादित्य ने लगभग ६९६ से लेकर ७३३ तक शासन किया।

विक्रमादित्य द्वितीय—[illegible]
उसके उत्तराधिकारी कीर्तिवर्मन [illegible]
का वर्णन किया है। इस [illegible]
उसकी सेना पल्लवों की राजधानी [illegible]
गया। उसने राजसिंहेश्वर [illegible]
जिन्हें कुछ दिनों पूर्व पल्लवों ने [illegible]
शक्तियों को भी [illegible]
जिन्होंने सन ७१२ ई० में [illegible]
किया। विक्रमादित्य ने उनका सामना [illegible]
कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है [illegible]
गया। परन्तु वह पल्लवों का [illegible] पल्लव [illegible]
पल्लवमल्ल ने पराजित होने पर भी अपना [illegible] अधिकार
जमा लिया।

चालुक्य सत्ता का अन्त—[illegible] कीर्तिवर्मन द्वितीय अपने पिता की मृत्यु के बाद शासक हुआ। कीर्तिवर्मन द्वितीय [illegible] के चालुक्य कुल का अन्तिम नृपति था। ७५३ ई० में राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग ने उसको पराजित कर दिया। कीर्तिवर्मन द्वितीय के राज्य के अधिकांश भागों पर दन्तिदुर्ग का अधिकार स्थापित हो गया। एक अभिलेख से पता चलता है कि कर्नाटक देश में विक्रमादित्य की सत्ता ७५७ ई० तक बनी रही किन्तु राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम ने वातापी के चालुक्य राजवंश की मूल शाखा का उन्मूलन कर दिया। परन्तु अन्यत्र उसकी दूसरी शाखाओं ने अपना अधिकार बनाये रक्खा।

चालुक्यों के समय में धर्म और कला की अवस्था

चालुक्य-वंश के शासन की प्रारम्भिक दो शताब्दियों में ब्राह्मण धर्म को प्रधानता प्राप्त थी। राजाओं और प्रजाजनों ने वैदिक धर्म को ग्रहण किया। पौराणिक देवताओं का समाज में सम्मान था। वातापी तथा पत्रदलक में ब्रह्मा, विष्णु और महेश के विशाल मन्दिर बने थे। परन्तु चालुक्य राजाओं की धार्मिक सहिष्णुता के कारण दक्षिण में जैन धर्म को फलने-फूलने का अवसर प्राप्त हुआ। बौद्ध धर्म के प्रति चालुक्य नरेशों का क्या दृष्टिकोण था, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता परन्तु उनके राज्य में इस धर्म की क्या अवस्था थी, इस पर हेनसॉग के लेख से प्रकाश पड़ता है। चीनी यात्री लिखता है, "बौद्ध विहारों की संख्या १८० से ऊपर थी और ५,००० से अधिक की संख्या में हीनयान और महायान सम्प्रदायों के भिक्षु वहाँ विद्यमान थे। राजधानी के भीतर और बाहर ५ अशोक स्तूप थे जहाँ पिछले चार बुद्ध कभी बैठे थे और उन्होंने वायुसेवन किया था। वहाँ पर पत्थर और ईंटों के अन्य स्तूप भी थे।" परन्तु जैन धर्म की अत्यधिक उन्नति के कारण बौद्ध धर्म का विकास रुक गया।

कला—चालुक्यों के शासन-काल में कला की भी पर्याप्त उन्नति हुई। अजन्ता और एलौरा दोनों ही चालुक्य राज्य में अवस्थित थे। इनके कुछ चित्र चालुक्यों के

समय में बनवाये गये थे। औरगाबाद और नासिक मे अनेक बौद्ध गुहा स्थापत्य अब भी विद्यमान हैं। बादामी मे भगवान् विष्णु के नृसिंह और वाराह अवतारों की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से बड़ी प्रशसनीय हैं। एहोल, बादामी और पत्र दल मे इस काल के बने हुए मन्दिर हैं। विरुपाक्ष मन्दिर सबसे प्रसिद्ध है जिसमे भित्ति चित्रो द्वारा रामायण की कथाओ को दिग्दर्शित किया गया है। चालुक्य राजाओ ने हिन्दू देवी-देवताओं के मन्दिर बनवाये और मन्दिरों को प्रचुर दान दिया।

मान्य खेट (मालखेड) के राष्ट्रकूट

आठवीं शताब्दी के छठे दशाब्द में दक्षिण मे राजनीतिक प्रभुता चालुक्यो के हाथ से निकल कर राष्ट्रकूटों के हाथ में चली गई। राष्टकूटों ने अपने साम्राज्य का बहुत अधिक विस्तार किया और आगे चलकर राजनीतिक प्रभुता के लिए जिन तीन शक्तियो मे सघर्ष छिड़ा उनमे से एक शक्ति मान्यखेट के राष्ट्रकूट कुल की भी थी।

राष्ट्रकूटो का उत्कर्ष—दन्तिदुर्ग के अधीन राष्ट्रकूटा का उत्थान हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि दन्तिदुर्ग एक चालुक्य राजकुमारी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था जो किसी राष्ट्रकूट सरदार के साथ ब्याही गई थी। सम्भवत. उसने उत्तर और दक्षिण के प्रदेशो को छोड़कर सम्पूर्ण चालुक्य राज्य पर अधिकार जमा लिया। दन्तिदुर्ग (७४५ ७५६) ने ही राष्ट्रकूटों के विशाल राज्य की नीव डाली। उसने भड़ौच के गुर्जरों और गुजरात के चालुक्यो को परास्त किया। दन्तिदुर्ग ने ७२५ ई० मे चालुक्य राजकुमार कीर्तिवर्मन द्वितीय को युद्ध मे पराजित कर महाराष्ट्र का उत्तरी भाग अपने राज्य मे मिला लिया। काची, काशल, कलिंग, मालवा, लाट (दक्षिण गुजरात) और श्रीशैल (कर्नूल जिले मे) के राजाओं को उसने परास्त किया था। दन्तिदुर्ग की मृत्यु तीस वर्ष की थोड़ी अवस्था में हो गई।

दन्तिदुर्ग के कोई पुत्र न था, अतएव उसके राज्य का कृष्ण प्रथम अधिकारी हुआ। कृष्ण प्रथम दन्तिदुर्ग के पिता का भाई था। कृष्ण प्रथम ने चालुक्य राजशक्ति के विनाश-कार्य को पूरा किया। कोकण को विजित करने के बाद वहाँ उसने शिलाहारों को अपने अधीनस्थ एक सामन्तवादी शक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित किया। उसने ७६८ ई० मे श्रीपुरुष को सग्राम मे परास्त किया और उसको भी अपना सामन्त बनाया। कृष्ण का राजत्व-काल ऐलोरा के कैलाश-मन्दिर के निर्माण के लिए प्रसिद्ध है।

गोविन्द द्वितीय—कृष्ण प्रथम के उपरान्त गोविन्द द्वितीय राष्टकूट राज्य का अधिकारी हुआ। जब वह अपने पिता के शासन-काल में युवराज था तभी उसने वेंगी के विष्णुवर्धन चतुर्थ को पराजित किया था। गोविन्द द्वितीय ने पारिजात को भी युद्ध में हराया। परन्तु राज्य का अधिकारी होने के उपरान्त वह व्यभिचार और भोगविलास में लिप्त हो गया। परिणाम् यह हुआ कि राज्य का लगभग सारा उत्तरदायित्व उसका अनुज ध्रुव वहन करने लगा और प्रलोभन के वशीभूत हो कर उसने राज्य पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। ७७९ ई० मे अवसर प्राप्त होने पर ध्रुव ने अपने भाई के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और गद्दी पर अधिकार कर लिया।

ध्रुव—ध्रुव धारावर्ष राष्ट्रकूट-कुल का एक महान् विजेता था। उसने ७८० से लेकर ७९४ तक राज्य किया। ध्रुव ने मग राज शिवमार द्वितीय को परा-

सिंहासन प्राप्त कर लेने के बाद भी राज्य की आन्तरिक गड़बड़ी के कारण अमोघवर्ष काफी समय तक सैन्य-दृष्टि से निष्क्रिय रहा। हो सकता है कि अपनी अल्पायु के कारण भी उसने रण-अभियान प्रारम्भ करना उचित न समझा हो। ८६० ई० के लगभग अमोघवर्ष ने वेंगी के विजयादित्य तृतीय को पराजित किया।

अमोघवर्ष वेंगी ने विजयादित्य को पराजित करने के अतिरिक्त और कोई सैनिक सफलता नहीं प्राप्त की। उसके समय में राष्ट्रकूट साम्राज्य का विस्तार कम हो गया।

अमोघवर्ष की रुचि सैनिक-कार्यों की ओर नहीं थी। उसका स्वभाव शान्तिप्रिय था और धर्म तथा साहित्य के प्रति उसके हृदय में पर्याप्त अनुराग था। उसने सम्भवतः 'कविराज मार्ग' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। धर्म के क्षेत्र में उसकी रुचि जैन मत की ओर थी। आदि पुराण के प्रणेता जिनसेन का दावा है कि वह अमोघवर्ष का गुरु था।

ऐसा प्रतीत होता है कि अमोघवर्ष ने अपने युवराज कृष्ण के कन्धों पर राज्य-भार सौंपकर स्वयं वैराग्य ले लिया था।

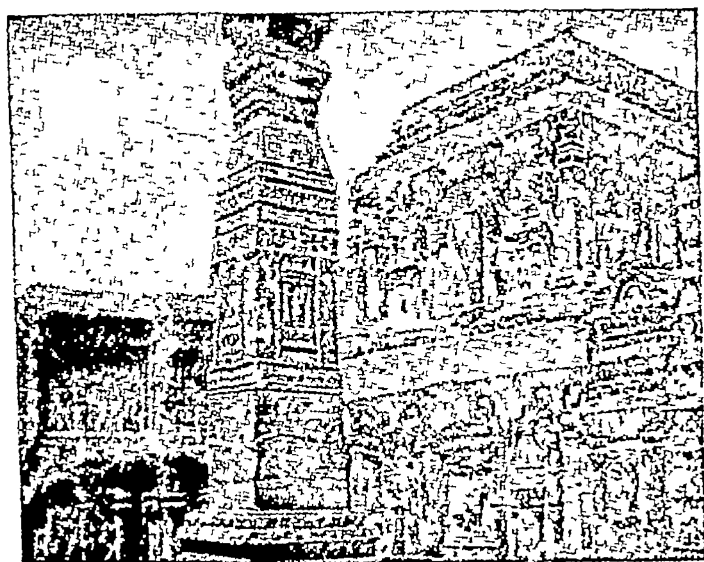
कृष्ण द्वितीय—कृष्ण द्वितीय (८८०-९१२ ई०) को अभिलेखों मे महान् विजेता कहा गया है। एक स्थान पर यह उल्लेख मिलता है कि उसकी आज्ञाओं का पालन अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, गङ्ग और कोशल के शासक करते थे। यह निश्चित है कि अभिलेख का यह दावा अतिरजन मात्र है। यह अवश्य है कि कृष्ण द्वितीय को अपने पड़ोसी राज्यो से बराबर सघर्ष करते रहना पडा। दक्षिण मे उसने गंगा और नीलम्बों से, पूर्व मे वेंगी के चालुक्यो से और उत्तर मे गुर्जर-प्रतिहारो तथा गुजराज के राष्ट्रकूटों से युद्ध किया। कृष्ण द्वितीय भी अपने पिता की तरह जैन सिद्धान्तों से प्रभावित था। गुणभद्र नामक जैनाचार्य उसके गुरु थे।

इन्द्र तृतीय—९१४ ई० के लगभग कृष्ण द्वितीय का देहान्त हो जाने पर उसका पौत्र इन्द्र तृतीय नित्य वर्ष राष्ट्रकूट राजसिंहासन पर बैठा। सिंहासनारुढ होने पर इन्द्र तृतीय की आयु पैंतीस वर्ष की थी और उसने केवल पाँच वर्ष तक शासन किया, किन्तु अपने अति सक्षिप्त काल मे ही इन्द्र तृतीय ने अपने को पराक्रमी योद्धा प्रमाणित किया।

खम्भात पत्र लेखों से विदित होता हे कि पहले उसने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। इसके बाद यमुना नदी को अवतीर्ण करके उसने कन्नौज जीत लिया। गुर्जर प्रतिहार सम्राट् महीपाल भाग खड़ा हुआ और इन्द्र तृतीय के सेनापति नरसिंह चालुक्य ने उसका पीछा किया।

इन्द्र तृतीय के मृत्यु की बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र अमोघ वर्ष द्वितीय राष्ट्रकूट व श का राजा हुआ। किन्तु अमोघवर्ष का शासन काल अपने प्रतापी पिता के शासन-काल की अपेक्षा कहीं सक्षिप्त था और एक वर्ष तक राज्य करने के पश्चात् २५ वर्ष की अवस्था मे अमोघवर्ष का देहान्त हो गया। इसके बाद गोविन्द चतुर्थ राष्ट्रकूट

शिक्षा और साहित्य—राष्ट्रकूट राजाओं के शासन काल में शिक्षा और साहित्य की उन्नति हुई। उनके राज्य में उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी। वे शिक्षा सम्बन्धी कार्यों के लिए प्रचुर दान दिया करते थे। वलभी के बौद्ध विहार की भाँति कन्हेरी बौद्ध विहार में भी एक पुस्तकालय था। इस विद्यालय में दूर-दूर से विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने आते थे, जिनके निवास के लिए उसमें २७ छात्रावास बने हुए थे।



चित्र २२. एलौरा का कैलाश मन्दिर

लगभग ६० एकड़ भूमि का उपयोग विद्यालय के प्रधानाचार्य को वेतन के रूप में प्राप्त होती थी। राष्ट्रकूटों के समय में शिक्षण-संस्थाओं को राज्य तथा धनी-मानी लोगों से आर्थिक सहायता प्राप्त हुआ करती थी।

साहित्य—राष्ट्रकूट राजाओं के अभिलेखों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उन अभिलेखों के रचयिता काव्य-कला से भलीभाँति परिचित थे। राष्ट्रकूट राजाओं ने कवियों और साहित्यकारों को राजाश्रय प्रदान किया। अमोघवर्ष स्वयं लेखक था और उसने कन्नड भाषा में काव्य शास्त्र पर 'कविराज मार्ग' नामक पुस्तक लिखी। राष्ट्रकूट राजाओं ने जैन पंडितों का समादर किया और उन्हें अपनी राज सभा में स्थान दिया। जैन पंडितों ने कई ग्रन्थोंका प्रणयन किया। अमोघवर्ष प्रथम के गुरु जिनसेन ने 'हरि-वंश नामक ग्रन्थ का प्रणयन ७८३ ई० में समाप्त किया। उन्होंने 'आदि पुराण' लिखना प्रारम्भ किया था किन्तु इसे समाप्त करने के पूर्व ही वे स्वर्गवासी हो गये। अपने 'पार्श्वाभ्युदय' नामक ग्रन्थ में उन्होंने पार्श्वनाथ का जीवन चरित्र लिखा। अमोघवर्ष प्रथम के ही शासन-काल में 'अमोघवृत्ति' की रचना शाकटायन ने की और वीराचार्य 'गणितसार-संग्रह' का प्रणयन भी इसी समय हुआ।

कल्याण के पश्चिमी चालुक्य (९७३-११९०)

तैलप द्वितीय—हम पीछे पढ़ चुके हैं कि अन्तिम राष्ट्रकूट राजा कर्क द्वितीय से तैलप द्वितीय ने सिंहासन छीन लिया और दक्षिण में चालुक्य वंश का राज्य पुनः स्थापित किया।

तैलप द्वितीय एक वीर योद्धा था। उसके राज्य में वर्तमान महाराष्ट्र, कर्नाटक के कुछ भाग और कोंकण तथा कुन्तल के प्रदेश सम्मिलित थे। गुजरात का एक पृथक राज्य था जिस पर मूलराज चालुक्य का शासन था। तैलप द्वितीय ने गुजरात पर भी अपना अधिकार जमाना चाहा किन्तु वह असफल रहा। मालवा के परमार नरेश मुञ्ज के साथ उसका बहुत दिनों तक युद्ध चलता रहा।

सत्याश्रय—तैलप द्वितीय के पश्चात् पश्चिमी चालुक्यों के राजवंश का स्वामी सत्याश्रय हुआ। सत्याश्रय (९९७-१००८ ई०) चोल नरेश राज-राज का समकालीन था। उसके शासन-काल में चोलों की राजशक्ति का बहुत अधिक उत्थान हुआ। राज-राज प्रथम चोल की सेनाओं ने चालुक्य राज्य में मृत्यु का ताण्डव मचा कर दिया। फिर भी सत्याश्रय ने अपनी शक्ति को पुनः संगठित करने में सफलता प्राप्त की और दक्षिण में चोलों से कुछ प्रदेश जीते। सत्याश्रय १००८ ई० में मर गया। उसकी मृत्यु के बाद उसके भतीजे विक्रमादित्य ने दस वर्ष तक शान्तिपूर्ण परिस्थितियों में शासन किया।

सन् १०१८ ई० में जयसिंह द्वितीय सिंहासन पर बैठा। उसने चोलों, अन्हिलवाड़ के चालुक्यों अथवा सोलंकियों और मालवा के परमारों से युद्ध जारी रखा। यादव और कुन्तल सरदारों का जयसिंह द्वितीय ने सफलतापूर्वक दमन किया। जयसिंह द्वितीय ने परमार वंशीय नरेश भोज को परास्त करके 'मालवा संघ' नष्ट कर दिया और इस प्रकार भोज का साम्राज्य-निर्माण-स्वप्न टूट गया।

सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल (१०४२-१०६८)—जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सोमेश्वर प्रथम नृपति हुआ। उसने अपने शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों से ही चोलों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। इस युद्ध में चोल नृपति राज्याधिकारी प्रथम को वीरगति प्राप्त हुई किन्तु विजय श्री चोलों के ही हाथ रही। १०६२ ई० में उसे पुनः चोलों से पराजय उठानी पड़ी।

चोलों के विरुद्ध सोमेश्वर प्रथम को सफलता न प्राप्त हो सकी किन्तु उसने मालवा के राजा भोज परमार के विरुद्ध राजाओं के संघ में भाग लिया और उसकी शक्ति

को तहस-नहस कर दिया। उसकी शक्ति का लोहा कन्नौज के गुर्जर प्रतिहारों को भी मानना पड़ा।

विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवन मल्ल (१०७६-११२६ ई०)—विक्रमादित्य षष्ट अपने कुल का सबसे प्रसिद्ध शासक था। अपने शासन के शुरू में ही उसने चोलों से युद्ध किया। उसके होयसल सामन्तों ने १११७ ई० के लगभग चोलों से तलकाड का प्रदेश छीन लिया। किन्तु होयसल लोग काफी शक्तिशाली हो गए थे और वे विक्रमादित्य षष्ट की अधीनता नाम मात्र को ही स्वीकार करते थे। विक्रमादित्य षष्ट ने काश्मीर के प्रसिद्ध कवि बिल्हण को बुलाकर अपनी राजसभा में आदरपूर्ण स्थान दिया। बिल्हण ने अपने आश्रयदाता का जीवनचरित्र 'विक्रमाकचरित चर्चा' नामक ग्रन्थ में लिखा। उसके समय में विज्ञानेश्वर ने हिन्दुओं के लिए 'मिताक्षरा' नामक कानून की पुस्तक लिखी। विज्ञानेश्वर ने विक्रमादित्य षष्ट और उसकी राजधानी कल्याण के विषय मे लिखा है. "इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर कल्याण और विक्रमादित्य की भाँति कोई नगर और नृपति न है, न कभी हुआ है और न होगा।"

विक्रमादित्य के बाद—विक्रमादित्य षष्ट की मृत्यु ११२७ ई० में हुई। उसके देहावसान के उपरान्त शीघ्र ही केन्द्रीय सरकार की शक्ति छिन्न-भिन्न होने लगी। उसके पुत्र सोमेश्वर तृतीय का शासन केवल नाम मात्र को ही था। सोमेश्वर तृतीय एक शक्तिशाली शासक भी नहीं था, अतएव कल्याण के चालुक्यों का साम्राज्य दिनों दिन ह्रासोन्मुख होने लगा, किन्तु सोमेश्वर विद्यानुरागी और विद्वान् था। उसने 'मानसोल्लास' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया जिसमें विविध विषयों का विवेचन किया गया है। सोमेश्वर तृतीय का पुत्र जगदेकमल्ल द्वितीय (११३६-११५१ ई०) था जिसने होयसलों को आगे बढ़ने से रोका और परमार वंश के राजा जयवर्मन पर आक्रमण करके उससे मालवा का एक भाग छीन लिया। जगदेकमल्ल द्वितीय के बाद तैलप तृतीय कल्याण के सिंहासन पर बैठा। तैलप तृतीय को काकतीय नरेश प्रोल ने पराजित कर दिया। इस पराजय से चालुक्य वंश की शक्ति और प्रतिष्ठा को प्रबल आघात पहुँचा जिससे लाभ उठाकर मन्त्री बिज्जल ने जो सम्भवतः कलचुरी वंश का था, राजसिंहासन पर अधिकार जमा लिया (११५६ ई०) और तैलप तृतीय को कल्याण के बाहर खदेड़ दिया। इस प्रकार कल्याण में एक नये राजवंश की स्थापना हुई। फिर भी तैलप तृतीय अपने राज्य के एक छोटे से भाग पर ११६३ ई० तक शासन करता रहा।

कल्याण में कलचुरी अन्तराधिपत्य और लिङ्गायत सम्प्रदाय—तैलप तृतीय के मन्त्री बिज्जल कलचुरी ने ११५६ ई० में राजसिंहासन हस्तगत कर लिया। सात वर्ष तक शासन करने के बाद उसने ११६३ ई० में सिंहासन त्याग दिया। बिज्जल के उत्तराधिकारियों का अधिकार ११८३ ई० तक स्थापित रहा। कलचुरी अन्तराधिपत्य के समय में वीर शैवमत अथवा लिङ्गायत सम्प्रदाय का दक्षिणापथ में काफी प्रचार बढ़ा। बिज्जल का मन्त्री बासव लिङ्गायत सम्प्रदाय का संस्थापक था। कनड़ तथा मैसूर देश में आज भी लिङ्गायतों की संख्या काफी अधिक है। 'ये लोग

की अपौरुषेयता तथा सर्वमान्यता नहीं मानते और शिव के लिङ्ग रूप तथा उनके वाहन नन्दी के परम उपासक होते हैं। इनके पुनीत ग्रन्थ [illegible]-पुराण प्रख्यात है। ये वर्ण-व्यवस्था का तत्व भी नहीं मानते और परम्परागत हिन्दुओं की सामाजिक तथा सैद्धान्तिक व्यवस्था में भी नहीं मानते हैं। लिङ्गायत सम्प्रदाय के लोग पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। ब्राह्मणों की जातीय श्रेष्ठता को भी स्वीकार नहीं करते, प्रत्युत यह कहना चाहिए कि वे उसका विरोध करते हैं, यद्यपि लिङ्गायत सम्प्रदाय के संस्थापक बसव का जन्म ब्राह्मण परिवार में ही हुआ था। लिङ्गायत लोग विधवा विवाह का समर्थन करते हैं। इस मत के प्रचार से दक्षिण में जैन धर्म को बहुत हानि पहुँचा। लिङ्गायतों ने कन्नड़ भाषा में साहित्य-सृजन किया।

देवगिरि के यादव

यादव लोग अपने को भगवान कृष्ण के वंशज, यदुवंश का बताते हैं। पहले वे राष्ट्रकूटों के सामन्त थे, बाद में पश्चिमी चालुक्यों की शक्ति बढ़ने पर यादव लोग उनके सामन्त हो गये। उत्तरवर्ती चालुक्यों के समय में, विशेषतया विक्रमादित्य षष्ट के शासन काल में, यादव वंश का प्रमुख सेन्तुचन्द्र चालुक्य राज्य के सम्पूर्ण उत्तरी प्रदेश का शासक नियुक्त किया गया। विक्रमादित्य षष्ट ने यह अनुभव किया कि वह बिना स्थानीय सरदारों की सहायता के अपने साम्राज्य का शासन सम्यक् रूपेण नहीं चला सकता, अतएव उसने उन सरदारों की सहायता तथा भक्ति प्राप्त करने के लिए उनको स्थानीय शासन की स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। सेन्तुचन्द्र का शासन गोदावरी नदी के मैदानी भाग (खानदेश) पर था। विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद उसने अपनी शक्ति को बढ़ाया। बाद में सेन्तुचन्द्र के पुत्र ने अपने पिता के कार्य को जारी रक्खा। कल्याण में कलचुरी अन्तर्राधिपत्य के कारण यादव लोग कुछ काल तक अपनी शक्ति का अधिक विकास न कर सके। सोमेश्वर चतुर्थ के समय यादव लोग स्वतन्त्र हो गये। यादवों की स्वतन्त्रता का प्रतिष्ठापक भिल्लम पञ्चम था जिसने सोमेश्वर चतुर्थ से कृष्णा नदी के उत्तरवर्ती प्रान्त छीन लिये। भिल्लम पञ्चम ने सम्राटों के विरुद धारण किये और अपनी राजधानी देवगिरि में बसाई। उसी के समय से देवगिरि के स्वतन्त्र राज्य का प्रारम्भ मानना चाहिए।

अपने विद्रोही सामन्तों को दबाने के प्रयत्न में भिल्लम पञ्चम को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। भिल्लम पञ्चम की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र और उत्तराधिकारी जैत्रपाल प्रथम अथवा जैतुगी देवगिरि के सिंहासन पर बैठा। जैतुगी ने ११९१ ई० से लेकर १२१० ई० तक शासन किया। १२१० ई० में जैतुगी की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सिंहण राजा हुआ, जो यादव वंश का सबसे प्रसिद्ध शासक था।

सिंहण—सिंहण के सैंतीसवर्षीय शासन-काल (१२१०-१२४७ ई०) में देवगिरि के यादवों का राज्य अपने विस्तार और गौरव के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। १२३१-३२ ई० और १२३७-३८ ई० में सिंहण ने दो बार गुजरात पर आक्रमण किये और बल्लाल द्वितीय के विरुद्ध युद्ध छेड़ कर उसने उससे मालप्रभा तथा कृष्णा नदी के दक्षिण में काफी विस्तृत भूमि छीन ली।

सिंहण ने भास्कराचार्य के वंशजों का समादर करना जारी रक्खा। उसका राज्य-ज्योतिषज्ञ छागदेव था, जो भास्कराचार्य का पौत्र तथा लक्ष्मीधर का पुत्र था। छागदेव ने पातना में एक विद्यालय खोला था जहाँ पर भास्कराचार्य के 'सिद्धान्त शिरोमणि' तथा अन्य ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे। सिंहण की राजसभा को सारंगधर सुशोभित करता था जिसका 'संगीत-रत्नाकर' तत्कालीन संगीत साहित्य में सचमुच एक रत्न है। इस ग्रन्थ के ऊपर एक टीका प्रस्तुत है और इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि वह टीका स्वयं सिंहण ने लिखी थी। सिंहण एक नीतिकुशल शासक और महान् निर्माता भी था। उसने अपने राज्य में ८४ दुर्ग बनवाये और अपने सामन्तों को भी ऐसा करने की आज्ञा दी।

सिंहण के उपरान्त उसका पौत्र कृष्ण सिंहासन पर बैठा। कृष्ण ने १२४७ ई० से लेकर १२६० ई० तक शासन किया। कृष्ण का भाई और उत्तराधिकारी महादेव (१२६०-७१ ई०) एक सामर्थ्यशाली शासक था। महादेव का १२७१ ई० में देहान्त हो गया और यादवों का शासक रामराज अथवा रामचन्द्र हुआ।

यादव राजा रामचन्द्र के समय में दिल्ली के खिलजी सुल्तान अलाउद्दीन ने देवगिरि पर आक्रमण किया। रामचन्द्र को मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। देवगिरि के यादव राज्य का उन्मूलन अलाउद्दीन खिल्जी के उत्तराधिकारी मुबारक खिल्जी के समय में हुआ।

वारङ्गल के काकतीय

दक्कन के चालुक्य साम्राज्य के ध्वंसावशेषों पर जो नवीन राजवंश उठ खड़े हुए उनमें काकतीयों का राज्य भी एक था। काकतीयों के मूल के सम्बन्ध में निश्चित रूप कुछ कहा नहीं जा सकता। कुछ अभिलेखों में काकतीयों को शूद्र बताया गया है किन्तु स्वयं काकतीयों की "गल्प भरी वंश तालिका से' जिसमें रघुकुल के अनेक नाम मिलते हैं, विदित होता है कि काकतीय सम्भवतः सूर्यवंशीय क्षत्रिय थे।

काकतीय वंश का सर्वप्रथम ऐतिहासिक व्यक्ति बेता था, जो कल्याणी के चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ट का सामन्त था। प्रौल द्वितीय ने चालुक्यों की राजसत्ता को विनाशोन्मुखी देखकर तथा कुलोत्तुंग प्रथम की मृत्यु के कारण वेंगी में उत्पन्न अराजकता से लाभ उठाकर कृष्णा तथा कावेरी नदियों के मध्यवर्ती भू भाग पर अपना अधिकार जमा लिया और अन्मकोंड़ (अथवा हनुमकोंड़) में अपनी राजधानी बसाई। ऐसी अनुश्रुति है कि प्रौल द्वितीय ने कल्याणी के तैलप तृतीय को ११५५ ई० के लगभग पराजित किया और उसे बन्दी बना लिया, किन्तु बाद में उसे मुक्त भी कर दिया गया। प्रौल द्वितीय ने अपने राज्य में अनेक जलाशय खुदवाये और कृषि में सुधार करने की ओर ध्यान दिया।

प्रौल द्वितीय की मृत्यु ११६२ ई० में हुई और उसके पश्चात रुद्र अथवा प्रतापरुद्र काकतीय वंश का नृपति हुआ। अपने पिता की भाँति प्रतापरुद्र को भी

कराया था। महेन्द्रवर्मन प्रथम द्वारा निर्मित शिव और विष्णु के कई दरीमन्दिर अन्य स्थानों में भी मिलते हैं।

महेन्द्रवर्मन ने "मत्तविलासप्रहसन" नामक ग्रन्थ लिखा। वह संगीत में बड़ा निपुण था। चित्रकला में उसकी नैपुण्यता का संकेत एक विरुद "चित्रकारपुली" से प्राप्त होता है।

नरसिंह वर्मन प्रथम—महेन्द्रवर्मन प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र नरसिंह-वर्मन प्रथम ७ वीं सदी ई० के द्वितीय चरण के आरम्भ में सिंहासनारूढ़ हुआ। नरसिंह वर्मन के पिता को चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय द्वारा पराजित होना पड़ा था किन्तु गुणवान पिता के इस पराक्रमी पुत्र ने अपने पिता के प्रबल शत्रु पुलकेशिन को गहरी पराजय दी और इस प्रकार अपने पिता की हार का बदला लिया। उसने अपने वीर सेनानायक के सेनापतित्व में एक सबल सेना वातापी पर आक्रमण करने के लिए भेजी। इस सेना ने चालुक्यों की राजधानी वातापी को घेर लिया। अपनी राजधानी की रक्षा करते हुए पुलकेशिन द्वितीय युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ। बादामी पर नरसिंह वर्मन का अधिकार हो गया।

श्री गोपालन के अनुसार नरसिंहवर्मन को भी अपने पिता की भाँति अपने राज्य भर में मन्दिर बनवाने का शौक था। त्रिचनापल्ली जिले तथा पुद्दुकोटा रियासत में उसने चट्टानों को खुदवाकर मन्दिरों का निर्माण कराया था। इन मन्दिरों का साधारण नक्शा प्रायः वही है जो महेन्द्रवर्मन प्रथम के मन्दिरों के नकशे का है। केवल उनका ऊपरी सामान अलंकृत है और उनके स्तम्भ भी अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर हैं। नरसिंहवर्मन प्रथम महामल्ल ने अपने नाम के अनुकूल महबलिपुरम् अथवा महामल्ल पुरम् नामक नगर बसाया और उसे धर्मराजरथ के से मन्दिरों से मण्डित किया। धर्मराजरथ सप्तमण्डलीय मन्दिरों में से एक माना जाता है।

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने ६४२ ई० के लगभग काञ्ची का पर्यटन किया था। चीनी यात्री ने पल्लव राज्य और वहाँ के निवासियों के विषय में अपने अनुभव लिखे हैं। उसके कथनानुसार "देश की भूमि उर्वर है। लोग नियत समय पर इसे जोतते हैं जिससे प्रभूत अन्न उत्पन्न होता है वहाँ फल और फूल भी अनेक प्रकार के होते हैं। बहुमूल्य रत्न और अन्य वस्तुएँ वहाँ उत्पन्न होती हैं। जलवायु उष्ण है और प्रजा साहसी है। लोग सत्यप्रिय और ईमानदार हैं और विद्या का बड़ा आदर करते हैं। वहाँ की भाषा और लिपि में मध्य देश की भाषा और लिपि से विशेष अन्तर नहीं है। यहाँ संघारामों की संख्या १०० के लगभग है जिनमें १०,००० भिक्षु रहते हैं। ये सभी भिक्षु महायान सम्प्रदाय की स्थविर शाखा के अनुयायी हैं। वहाँ प्रायः अस्सी देव मन्दिर हैं और निग्रन्थ हैं।" ह्वेनसाँग ने लिखा है कि लोगों का विद्या प्रेम वस्तुतः प्रशंसनीय है। राजधानी से नातिदूर दक्षिण की ओर एक सुविशाल संघाराम है जिसमें देश के विख्यात विद्वानों का प्रायः समागम हुआ करता है। चीनी यात्री के विवरण से ऐसा जान पड़ता है कि पल्लव राज्य में दिगम्बर सम्प्रदाय के

...यों की संख्या काफी अधिक थी। ह्वेनसाँग के लेख से ही इस बात की सूचना प्राप्त होती है कि तक्षशिला विश्वविद्यालय के प्रधानाचार्य तथा सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् धर्मपाल काञ्चीपुर के ही निवासी थे।

परमेश्वर वर्मन प्रथम—नरसिंहवर्मन प्रथम के पश्चात् महेन्द्र वर्मन द्वितीय राजा हुआ किन्तु उसका पाँच वर्षों का शासन-काल घटनाशून्य था। उसकी मृत्यु के अनन्तर परमेश्वर वर्मन प्रथम सिंहासनारूढ़ हुआ। चालुक्य लेखों से यह प्रमाण मिलता है कि परमेश्वरवर्मन प्रथम को चालुक्य नरेश विक्रमादित्य प्रथम के आगे घुटने टेक देने पड़े। किन्तु पल्लव अभिलेखों का वक्तव्य है कि परमेश्वर वर्मन प्रथम ने पेरुवनल्लुर त्रिचनापल्ली जिले के लालगुडी ताल्लुक के युद्ध में विक्रमादित्य प्रथम की सेना को मार भगाया। इन परस्पर विरोधी प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चालुक्यों और पल्लवों के इस पारस्परिक संघर्ष में वस्तुतः किसी पक्ष की पूरी तरह से विजय नहीं हुई। परमेश्वर वर्मन प्रथम भगवान् शिव का परम उपासक था और उसने अपने इष्टदेव के अनेक मन्दिर राज्य भर में निर्मित कराये। मम्मलपुरम् का गणेश मन्दिर सम्भवतः परमेश्वर वर्मन ने ही बनवाया था और काञ्ची के निकट करम नामक स्थान में उसने एक शिव-मन्दिर का निर्माण कराया।

नरसिंह वर्मन द्वितीय राजसिंह—नरसिंह वर्मन द्वितीय सातवीं शताब्दी के प्रायः अन्त में अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन पर बैठा। श्रीयुत गोपालन की धारणा है कि नरसिंह वर्मन द्वितीय का शासन-काल शान्तिपूर्ण तथा वाह्याक्रमणों से विमुक्त था। यही कारण है कि उसने अपने राज्य में अनेक मन्दिर बनवाये, जिनमें काञ्ची का कैलाशनाथ मन्दिर, महाबलिपुरम् का तथाकथित 'शोर' मन्दिर, काञ्ची का ऐरावतेश्वर मन्दिर और पनामलई के मन्दिर अधिक उल्लेखनीय हैं। इन सभी मन्दिरों में नरसिंह के अभिलेख उत्कीर्ण हैं।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि "काव्यादर्श" का प्रणेता दण्डिन राजसिंह (नरसिंह वर्मन द्वितीय) की राजसभा में कुछ काल तक रह चुका था। इसी प्रकार कुछ विद्वानों की यह भी धारणा है कि भास के नाटकों का अभिनयार्थ संक्षिप्त करण राजसिंह की ही राजसभा में किया गया था। प्रोफेसर नील कान्त शास्त्री की धारणा है कि पल्लव-नरेश नरसिंह वर्मन द्वितीय ने चीन के सम्राट की राजसभा में अपना राजदूत भेजा था।

नन्दिवर्मन पल्लव मल्ल—नरसिंह वर्मन द्वितीय राजसिंह की मृत्यु के अनन्तर परमेश्वर वर्मन तृतीय नृपति हुआ किन्तु उसका शासन काल अत्यन्त संक्षिप्त था। वेरुपालयम पत्रों में उसके लिए लिखा है कि उसने मनुस्मृति के आदेशानुसार शासन किया। परमेश्वर वर्मन तृतीय के उपरान्त नन्दि वर्मन तृतीय पल्लव मल्ल को राजसिंहासन प्राप्त हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि नन्दि वर्मन राज्य हर्त्ता था किन्तु यह मत ठीक नहीं जान पड़ता। परमेश्वर वर्मन द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त उसके राज्य में उत्तराधिकार के प्रश्न पर गृह कलह उत्पन्न हो गये। इन कलहों से ऊबकर जनता के प्रतिनिधियों ने नन्दिवर्मन को, जिससे देश की प्रजा बहुत सन्तोष ...

भागों को अपने अधिकार में कर लिया। पश्चिम में यही कार्य ।
लका के राजा पराक्रम बाहु ने चोलों से सघर्ष किया। कुलात्तुग तृ
चोल वश का एक पराक्रमी शासक हुआ और उसने कुछ समय तक
सफलतापूर्वक सामना किया। उसने अपने सैन्य गुणो के द्वारा चाल
की और उसे नष्ट होने से बचाया। किन्तु कुलात्तुग तृतीय के उत्तरा
तृतीय ने अपने को दुर्बल प्रमाणित किया। राजराज तृतीय अपन
वश में न रख सका। उसके समय म पल्लव जाति क सरदार कोपेरुि
करके उसे बन्दी बना लिया। ऐसी सकटापन्न स्थिति मे चोल नरेश राजरा
उसके श्वसुर नरसिंह (होयसल नरेश) ने अपनी एक सेना भेज कर की
ने राजराज तृतीय का मुक्त किया। इसके पूर्व १२१६ इ० म होयसल रा
ने राजराज तृतीय का मारवर्मन सुन्दर पाण्ड्य के आक्रमण से बचाया था,
तक बढ आया था। पेरुन्चिङ्गन ने चोल साम्राज्य के कुछ भागा जैसे सेन
(दक्षिणी अरकाट जिला) मे अपनी स्वतन्त्र राजसत्ता प्रतिष्ठित कर दी। आगे
सल राजा सोमेश्वर को भी जटावर्मन सुन्दर पाण्ड्य के विरुद्ध चोल नृपति
करनी पड़ी। किन्तु चोल साम्राज्य के उत्कर्ष के दिन अब समाप्त हो चले थे। पा
की शक्ति काफी बढ चुकी थी। राजेन्द्र तृतीय को जटावर्मन सुन्दर पाण्ड्य ने परा
कर दिया और काची पर, जहाँ चोल-शक्ति का प्रमुख केन्द्र था, अधिकार जमा लि
जटावर्मन सुन्दर पाण्ड्य के उत्तराधिकारी मारवर्मन कुलशेखर ने चोल राज्य को
डाला। चोल साम्राज्य के उत्तरी जिले तेलगू सरदारो के नेतृत्व मे स्वतन्त्र हो गए
ये तेलगू सरदार अपने को करिकाल चोल का वशज बताते थे। कावेरी नदी के मैदान
में रहने वाले चोलो का अस्तित्व स्थानीय सरदारो के रूप मे कुछ और समय तक बना
रहा। चौदहवी शताब्दी मे विजयनगर के राजाओ ने चोलो के अवशेष को भी पूर्ण
रूपेण नष्ट कर दिया।

चोल सभ्यता एवं सस्कृति

शासन

चोल राजाओ के अनेक अभिलेख उनकी शासन व्यवस्था पर प्रचुर प्रकाश डालते है। चोलो की शासन व्यवस्था सुसगठित तथा कतिपय विशिष्ट तत्वो से युक्त थी।

केन्द्रीय सरकार—चोल साम्राज्य की शासन व्यवस्था प्रमुखत राजतन्त्रात्मक थी। चोल राज्य के एक विशाल साम्राज्य मे परिणत हो जाने पर राजा का प्रभुत्व, ठाट बाट तथा सम्मान बहुत अधिक बढ गया। सम्राट् विविध प्रकार से अपनी प्रतिष्ठा को बढाने का प्रयत्न किया करता था। उसकी एक से अधिक राजधानी होती थी और उसकी राजसभा ऐश्वर्यमयी तथा तड़क भड़क से परिपूर्ण हुआ करती थी। वह अश्वमेधादि यज्ञो का अनुष्ठान करता था और इन अवसरो पर
णों को विपुल दक्षिणा दान दिया करता था। इतना ही नहीं विशेष मन्दिरो के

आर्थिक जीवन

दक्षिण भारत में आन्तरिक और बाह्य व्यापार की अवस्था उन्नत एवं समृद्ध थी फिर भी आर्थिक जीवन का आधार कृषि-कार्य था, जनसंख्या का अधिकांश भाग ग्रामों में निवास करता था और कृषि-कार्य ही उसका मुख्य उद्यम था। कृषक भूमि का स्वामी होता था और भूमि का स्वामित्व समाज में सम्मान का कारण समझा जाता था। कृषि की उन्नति के लिए राज्य सचेष्ट रहता था। कावेरी नदी से अनेकों नहरें निकलवायी गई थीं। ग्राम-महासभाओं के प्रमुख कर्त्तव्यों में से एक कर्त्तव्य ग्राम के तालाबों तथा सिंचाई के अन्य साधनों की देख-रेख करना भी था, जिससे सिद्ध होता है कि खेत की उन्नति के लिए राजा तथा प्रजा दोनों के द्वारा विविध प्रकार के प्रयत्न किये जाते थे। राज्य की ओर से समय-समय पर भूमि का माप वर्गीकरण किया जाता था। यद्यपि दुर्भिक्ष को रोकने के लिए राज्य सचेष्ट रहता था तथा अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्ष पड़ने के कई उल्लेख मिले हैं।

विभिन्न उद्योग-धन्धों में दक्षिण भारत के निवासियों ने काफी उन्नति कर ली थी। सुवर्णकार भाँति-भाँति के बढ़िया आभूषण बनाते थे और मूर्त्तियों की माँग के कारण धातुकारियों की कला उन्नति पर पहुँच गई थी। काञ्ची में वस्त्र-व्यवसाय का एक प्रमुख केन्द्र था। कुमारी अन्तरीप, मरकनाम (दक्षिणी अरकाट) तथा समुद्र तट के निकटवर्ती अन्य स्थानों में नमक तैयार करने का व्यवसाय होता था।

चोल शासक अपने साम्राज्य में राजमार्गों का निर्माण कराते थे जिससे आन्तरिक व्यापार काफी सुविधापूर्ण हुआ करता था। 'पेरुवलि' या राजमार्गों द्वारा आन्ध्र, पश्चिमी चालुक्य और कोन्गु देश एक दूसरे से मिले रहते थे। व्यापारियों की अनेक श्रेणियाँ थीं जो व्यापार का निरीक्षण करते थे। चीन, मलाया, पूर्वी द्वीप समूह तथा फारस की खाड़ी इत्यादि देशों से दक्षिण भारत के निवासियों का व्यापारिक सम्बन्ध था। आन्तरिक व्यापार में वस्तु-विनिमय का बहुधा प्रयोग किया जाता था। चोल शासकों ने १०१५ ई०, १०३३ ई० और १०७७ ई० में चीन में अपने शिष्ट-मण्डल भेजे थे।

धार्मिक जीवन

सङ्गम-युगीन दक्षिण भारत में ही शैव, वैष्णव, जैन तथा बौद्ध मतों का प्रचार हो चुका था। पल्लव-युग में उत्तर भारत की धार्मिक विचारधारा ने दक्षिण में अपनी जड़ जमा ली थी। इस युग में दक्षिण में वैष्णव और शैव मतों की जो उन्नति हुई, उसका क्रम चोल शासकों के समय में सवेग जारी रहा। विजयालयवंशीय चोल शासकों का शासनकाल दक्षिण में एक महान् धार्मिक उत्साह का युग था। उसकी सहिष्णुतापूर्ण धार्मिक नीति के कारण चोल साम्राज्य में शैव और वैष्णव मतों को समान रूप से फलने-फूलने का अवसर प्राप्त हुआ। विजयालय के वंशज चोल शासकों के समय में ही दक्षिण भारत में शैव और वैष्णव मतों का 'रजत युग' प्रारम्भ हुआ। नायन्मार और आल्वार सन्तों के पवित्र गीतों का एक निश्चित-नियमानुसार संकलन ग्यारहवीं शताब्दी में ही किया गया था।

३३ भारत मे इल्तुतमिश को तुर्की शक्ति का नींव डालने वाला क्यो समझा जाता है ? (१९४८)

३४ इल्तुतमिश के राजकाल की मुख्य घटनाओं का वर्णन संक्षेप मे कीजिए। तेरहवीं शती के शासकों मे उसका क्या स्थान है ? (१९५४)

३५. बलबन के कार्यों तथा उसके जीवन-चरित्र पर अपने विचार प्रकट कीजिए। (१९४६)

३६ अलाउद्दीन के उद्देश्यो का उल्लेख करते हुये यह दिखलाइये कि वह उनमें कहाँ तक सफल हो सका। (१९४६, १९५०)

३७ अलाउद्दीन खिल्जी ने सैनिक तानाशाही शासन की स्थापना की थी। इसकी व्याख्या करते हुये इस शासन व्यवस्था की कमियों पर प्रकाश डालिए। (१९४९)

३८ अलाउद्दीन खिल्जी को मध्यकालीन भारत का महानतम शासक क्यो कहा जाता है ? (१९५२)

३९ अलाउद्दीन खिल्जी के आर्थिक सुधारो का वर्णन कीजिए। जनता पर उसका प्रभाव भी बतलाइए। (१९५३)

४० मुहम्मद तुगलक और फ़िरोज तुगलक की नीति तथा चरित्र की तुलना कीजिये। साम्राज्य के पतन के लिए दोनो कहा तक उत्तरदायी है ? (१९४७) के पतन के कारण (१९५१) फ़िरोज तुगलक का हाथ (१९५३)

४१ "मुहम्मद तुगलक एक पागल व्यक्ति था जिसकी योजनाओं से प्रजा को कष्ट पहुँचा और देश का विनाश हुआ।" इस कथन का विवेचन कीजिये। (१९५२, १९५५)

फ़िरोज तुगलक के चरित्र तथा नीति की आलोचना कीजिये और बतलाइये कि वह तुगलक साम्राज्य के पतन के लिए कहाँ तक उत्तरदायी है ? (१९५४)

४२ अलाउद्दीन खिल्जी के दक्षिण विजय का संक्षिप्त इतिहास लिखिए। (१९५५)

४३ तुगलक साम्राज्य के पतन के कारणों पर प्रकाश डालिए। (१९४८)

४४ सोलहवीं शताब्दी मे विजयनगर साम्राज्य के मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए और उस साम्राज्य के पतन के कारणो की विवेचना कीजिए। (१९५०, १९५२, १९५३, १९५४)

४५ पानीपत का सन् १५२६ का युद्ध जिन परिस्थितियों के फलस्वरूप हुआ उसका वर्णन करते हुये देश पर इसके परिणाम का महत्व बतलाइये। (१९४६)

४६ पानीपत को युद्ध मे बाबर के विजय के क्या कारण थे ? (१९५४)

४७ सन् १२०० ई० से १५२६ ई० तक के किसी एक प्रमुख धार्मिक तथा सामाजिक सुधारक के जीवन तथा उसकी शिक्षाओं का वर्णन कीजिये और बतलाइये कि उनका भारतीय इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा। (१९५२, १९५४)

४८ भक्ति आन्दोलन से आप क्या समझते है। इसकी विशेषताओं का [illegible]ीजिये। (१९५३, १९५५)